A CRITICAL STUDY OF EXISTENTIALIST ATHEISM
अस्तित्ववादी अनीश्वरवाद का समीक्षात्मक विवेचन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

पर्यवेक्षक
डॉ० देवकी नन्दन द्विवेदी
अध्यक्ष
दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्त्री
मंजरी शुक्ला
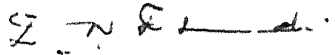
दर्शनशास्त्र विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ० प्र०)

1995

प्रमाण - पत्र

मै प्रमाणित करता हूँ कि श्रीमती मंजरी शुक्ला, प्रवक्ता, दर्शन शास्त्र विभाग, एम०एस० खन्ना महिला महाविद्यालय, इलाहाबाद ने प्रस्तुत **शोध प्रबन्ध -'अस्तित्ववादी अनीश्वरवाद का समीक्षात्मक अध्ययन'** मेरे निर्देशन में लिखा है । इनका यह कार्य मौलिक है और उन्हीं के द्वारा किया हुआ है । मै इस शोध-प्रबन्ध के प्रस्तुतिकरण हेतु संस्तुति करता हूँ ।

दिनांक :

डा० देवकी नन्दन द्विवेदी
अध्यक्ष, दर्शन शास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

समर्पित

माता पिता एवं बड़े भाईयों को

अनुक्रमणिका

विषय-सूची | पृष्ठ संख्या

प्राक्कथन

दर्शन शास्त्र की उपादेयता व्यावहारिक सन्दर्भों में व्यक्त न हो सकने की कमी अपने अध्ययन काल में ही लगती थी । ऐसा लगता था शायद दर्शन शास्त्र चिन्तन के एक विशेष स्तर को प्राप्त कर लेने वाले वर्ग के लिए ही है । लेकिन अस्तित्ववाद को पढ़कर यह धारणा निर्मूल सिद्ध हुई, क्योंकि इस विधा के रूप में यह शास्त्र आम आदमी के बिल्कुल नजदीक है । यह जीवन के उन सभी पक्षों को व्यक्त करती है जिनमें हम प्रतिपल निर्णय व चयन करते हैं । इस विचारधारा में मनुष्य की स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व की अवधारणा मानव मास्तिष्क के साथ हृदय को भी सन्तुष्ट करती है ।

मनुष्य जब स्वतन्त्र चयन नहीं करता तो अपने दायित्वों से पलायन करता है । अपनी स्थितियों में मनुष्य नितान्त अकेला है इस अकेलेपन से उसे परिताप होता है । मन में यह जिज्ञासा हुई कि क्या ईश्वरीय सत्ता की परिकल्पना इस परिताप को कम नहीं कर सकती । ईश्वरीय सत्ता क्या मानव जीवन की कमियों को पूर्ण करने वाली परिकल्पना मात्र है ? यदि यह परिकल्पना मानव परिताप को कम करने में सक्षम है तो मानव अनुभूतियों का इतना व्यावहारिक और वास्तविक अध्ययन करने वाले ज्यॉं पॉल सार्त्र जैसे विचारकों को इसे स्वीकार करने की आवश्यकता क्यों नहीं हुई । इस तरह की जिज्ञासा ने मुझे यह शोध विषय चयन करने को प्रेरित किया । सम्माननीय डा० देवकी नन्दन द्विवेदी जी ने इस कार्य हेतु निर्देशन की सहमति प्रदान कर मुझे कृतार्थ किया । फलतः मै इस शोध कार्य में संलग्न हुई ।

सर्वप्रथम अस्तित्ववाद का सामान्य अध्ययन इस विधा विशेष की विशेषताओं के रूप में किया गया । विरोधकर्ता के विरोध के पूर्व विरोध किये जाने वाले विषय के स्पष्टीकरण हेतु ईश्वर संप्रत्यय का ऐतिहासिक अध्ययन किया गया । जिसमें ईश्वर किस

प्रकार की सत्ता है वह एक है या अनेक, उसका स्वरूप क्या है, जगत से उसका सम्बन्ध किस प्रकार का है । इन प्रश्नों का समाधान हुआ । उसके उपरान्त ईश्वर की सत्ता को बौद्धिक आधार प्रदान करने के प्रयास में प्रतिपादित युक्तियों के रूप में प्रत्यय सत्ता युक्ति, विश्वमूलक युक्ति, प्रयोजनमूलक युक्ति, नैतिकतामूलक युक्ति का अध्ययन किया गया । अस्तित्ववाद में ईश्वर को किस रूप में और किस आधार पर स्वीकार किया गया तथा जिन विचारकों ने इस सत्ता का निषेध किया उसका क्या कारण था इन विषयों का अध्ययन अस्तित्ववाद में ईश्वर की अवधारणा के अर्न्तगत किया गया । पुनः ईश्वर सम्बन्धी कथनों का अर्वाचीन अध्ययन किया गया । अस्तित्ववादी ईश्वरवादी विचारकों ने ईश्वर को अपने अर्न्तमन में आस्था के द्वारा प्राप्त किया । आस्था जिसे बौद्धिक तर्कों की प्रामाणिकता उत्पन्न नहीं कर सकती और अप्रमाणिकता समाप्त नहीं कर सकती । अतः जिसमें आस्था नहीं है उसे सप्रयास आस्था से युक्त नहीं किया जा सकता।इस निष्कर्ष के बाद भी मनुष्य के अस्तित्व का इस आस्था से युक्त अध्ययन अधिक ग्राह्य प्रतीत हुआ क्योंकि मानवता को प्राप्त करने के लक्ष्य में इस प्रकार के चिन्तन की उपयोगिता अधिक है । ज्ञान विज्ञान की विभिन्न शाखाओं की सार्थकता मानव जीवन को समृद्ध और सभ्य बनाने, मानवता को विकसित करने के सन्दर्भ में ही है । जितने भी जीवन मूल्य है उनको तार्किक स्तर पर प्रमाणित करने का प्रयास निष्फल ही है अन्ततः वह विवादित होकर अपरिभाष्य मान लिए जाते है । ज्ञान स्वयं अपरिभाष्य है लेकिन उसकी अपरिभाष्यता उसे इसीलिए त्याज्य नहीं बनाती क्योंकि वह उपरोक्त लक्ष्य में सहायक है । इसी प्रकार ईश्वर विचार को भी अपरिभाष्य और तर्कतः अप्रमाणित होने पर भी स्वीकार करने का एकमात्र आधार आस्था है । यह आस्था उत्पन्न होकर मानव हेतु अपेक्षित सद्गुणों के विकास को सहज बना देती है । जिन विचारकों ने इस कार्य में ईश्वर आस्था को बाधक माना वह विचारक शायद ईश्वर विचार को वास्तविकता में न ग्रहण कर उसे सम्प्रदायों द्वारा आवृत्त कर्मकाण्डिता से युक्त रूप में ग्रहण कर लेते है ।

इस शोध कार्य में अपने गुरू डा० डी० एन० द्विवेदी जी से जो कुशल निर्देशन एवं सहयोग प्राप्त हुआ उसके अभाव में इस कार्य का पूर्ण होना असम्भव था । उनके प्रति मै ससम्मान कृतार्थता व्यक्त करती हूँ । अपने अग्रज प्रो० ए० के० मिश्रा से प्राप्त प्रेरणा और संरक्षण के बिना मै यहाँ तक पहुँचने की कल्पना ही नही कर मकती थी । उनके प्रति मै हृदय से कृतज्ञ हूँ ।

इस कार्य में हमारे वह सभी सम्बन्धी एवम् मित्रगण जो प्रोत्साहन एवम् सहयोग के स्त्रोत रहे उनके प्रति विशेषतः श्री हरी शंकर झा के प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ ।

मंजरी शुक्ला

प्रथम अध्याय

अस्तित्ववाद का सामान्य परिचय

अस्तित्ववाद का सामान्य परिचय

अस्तित्ववाद को द्वितीय विश्व युद्ध के बाद बौद्धिक जगत को सर्वाधिक प्रभावित करने वाली एक आधुनिक चिन्तन पद्धति कहा जा सकता है । जिसकी विलक्षणता यह है कि वह अपने चिन्तन विषय के रूप में 'मनुष्य के अस्तित्व' को उसके यर्थाथ या व्यावहारिक परिवेश में ग्रहण करती है । इस विधा विशेष की व्याख्या किसी दार्शनिक निकाय के रूप में करना असंभव नहीं लेकिन अत्यन्त कठिन है क्योंकि इसका निर्माता कोई विशेष चिन्तक नही है और न कभी इसे क्रमबद्ध करने का सफल प्रयास हुआ है । इसको दार्शनिक विधा के रूप में परिभाषित करने का प्रयास इसलिए और असफल होता है क्यों कि इससे सम्बन्धित दार्शनिक स्वयं को अस्तित्ववादी कहने के लिए तत्पर नहीं थे । यास्पर्स अपने दर्शन को अस्तित्ववाद न कहकर अस्तित्वदर्शन कहते हैं । हाईडेगर अपने दर्शन को अस्तित्वपरक विश्लेषकी कहता हैं किर्केगार्ड अपने चिन्तन को किसी सम्प्रदाय या परम्परा विशेष से नहीं बाँधना चाहता ।'' अस्तित्ववाद के संकुचित अर्थ में नहीं लेकिन बंधी बंधायी परिपाटी को स्वीकार न करने की दृढता, विश्वासों को प्रचलित करने वाले समाज में अनास्था तथा दर्शन के किसी भी प्रचारित मतवाद को इन्कार करने की संकल्प शक्ति, जो जिन्दगी से कटे हुए वाग्जाल के सामने माथा झुकाने को तैयार नहीं थी, नीत्शे को अस्तित्ववाद की भूमिका में खड़ा करती है'' ।(१) मार्सेल एवं कामू भी अपने को अस्तित्ववादी नहीं स्वीकार करते । केवल ज्याँ पाल सार्त्र ही अपने को अस्तित्ववादी कहता है । इस प्रकार यह विधा किसी सर्वसम्मत निश्चित दार्शनिक सिद्धान्त की परिचायक नहीं हैं इसके विचारों को प्राप्त करने का साधन नीत्शे, किर्केगार्ड, कार्ल यास्पर्स, मार्सेल, हाईडेगर तथा सार्त्र के विभिन्न लेख व कृतियाँ हैं । इनके अतिरिक्त निकोलाई बर्दिएफ, मार्लो अबाग्नानों पोन्ती, अलवेयर कामू, काफ्का तथा दोस्तोवस्की का भी इस क्षेत्र में योगदान है । यह सभी विचारक स्वतन्त्र और अपनी विशेष चिन्तन विधि से युक्त थे अतः उनमें समान तत्वों की खोज कर इस चिन्तन पद्धति को निश्चित परिभाषा प्रदान करना अत्यन्त कठिन हो जाता है । इसीलिए कहा जाता है कि अस्तित्ववाद कोई निश्चित दार्शनिव विचारधारा नहीं बल्कि एक प्रकार की चिन्तन पद्धति है । किन्तु सभी विचारक क्योंकि

तत्कालीन परिवेश से प्रभावित थे और सभी तत्कालीन संकट से मनुष्य को उबारना चाहते थे इसलिए उनमें कतिपय अन्तर के साथ भी कुछ सामान्य बातों में समान रूप से सहमति थो । इन्हीं समानताओं के आधार पर इस चिन्तन पद्धति को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास समय समय पर हुआ ।

पारम्परिक दार्शनिक चिन्तन द्वारा व्यावहारिक जीवन की समस्याओं का समाधान प्राप्त न होने से, विश्वयुद्धों के व्यापक प्रभाव के रूप में मूल्यों का विघटन होने तथा औद्योगिक उन्नति एवं वैज्ञानिक उन्नति से उत्पन्न 'तकनीकी अलगाव' के कारण असुरक्षा परायापन, चिन्ता व्याकुलता की भावना से उत्पन्न अस्तित्ववाद, दर्शन को मात्र नित्य अक्षुण्ण और सार्वभौम सत्ता का अध्ययन करने वाला विषय न मानकर अपने अध्ययन का विषय मुख्यतः मनुष्य और मनुष्य की व्यक्तिगत अनुभूतियों को स्वीकार करता है ।

विश्व युद्ध के परिणाम स्वरूप मनुष्य यंत्रवत् जीवन जीने लगा था, तकनीकी ज्ञान विज्ञान ने जहाँ एक ओर उसके जीवन को अधिकाधिक सुविधाजनक बनाया वहीं संघातक अस्त्र शस्त्रों के द्वारा उसने मानवता को असुरक्षित कर दिया । नित्य नई नई मशीनों के उत्पादन से स्वयं आदमी का जीवन मशीनी हो गया जिसमें अब आदमी का आदमी से सम्बन्ध न होकर आदमी और उसके द्वारा निर्मित मशीनों में सम्बन्ध स्थापित हो गया । ऐसी स्थिति में अधिकाधिक तकनीकी विज्ञान मनुष्य को और अधिक अकेला बनाता जाता रहा था ।

तकनीकी प्रगति मनुष्य की आन्तरिकता की उपेक्षा कर उसके जीवन को अधिकाधिक यंत्रवत्ता प्रदान कर रही थी । इसीलिए अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने अपने चिन्तन का विषय मनुष्य और उसकी अनुभूतियों जैसे जीवन, मृत्यु ,घृणा, प्रेम, चिन्ता आदि को माना । यद्यपि इनमें से अनेक समस्याओं पर चिन्तन पहले भी हुआ किन्तु वह चिन्तन इन अनुभूतियों की यथार्थता का नहीं था । उन्होने मृत्यु पर विचार करते समय यह दिखाने का प्रयास किया कि मनुष्य मरणशील है या अमर । उसका मूल स्वरूप क्या है । मृत्यु के

उपरान्त जीवन है या नहीं । अस्तित्ववादियों की मौलिकता समान विषय पर चिन्तन करने पर भी उनके व्यावहारिक दृष्टिकोण के कारण थी, वह मृत्यु का अध्ययन उस रूप में करते हैं जिस रूप में यह मानव विचार जीवन और क्रिया कलाप को प्रभावित करती है । मृत्यु के समय मनुष्य कैसा अनुभव करता है, मृत्यु के विचार से उनके निर्णय कैसे प्रभावित होते हैं इत्यादि । अनुभूतियों को महत्वपूर्ण मानने का कारण अस्तित्ववादियों की यह मान्यता थी कि मनुष्य मात्र विवेक नहीं है । उसकी बौद्धिकता के साथ साथ भावनात्मकता का भी महत्व है ।

इस प्रकार अस्तित्ववाद का अध्ययन विषय मनुष्य के व्यावहारिक जीवन से सम्वन्धित है पारमार्थिक व अमूर्त विषयों से नहीं । इसीलिए यह विचाराधारा तर्क को अक्षम समझकर त्याग देती है तथा परम्परागत ईश्वर में आस्था नहीं रखती हैं । यह धर्म निरपेक्ष स्तर पर मानव जीवन के लिये चिन्तित है और मानव जीवन को असहाय निरूपाय देखकर उसके अस्तित्व को वास्तविक अर्थ व मूल्य देने के लिए प्रयासरत है ।

अस्तित्ववाद का प्रारम्भ निश्चित विचारधारा के रूप में किर्केगार्ड के दर्शन से होता है लेकिन कुछ विचारकों ने इसका प्रारम्भ हेराक्लीटस्, सुकरात, प्लेटो एवं अरस्तू की विचारधाराओं में दिखाने का प्रयास किया । मध्य युग में सन्त थामस एक्वीनस, आधुनिक युग में ब्लेसी पास्केल और कान्ट के दर्शन में वे अस्तित्ववाद का मूल प्रदर्शित करते हैं । पाश्चात्य दर्शन के समान ही भारतीय दर्शन में आत्मानुसंधान दुःख एवं करूणा का विवेचन होने से उसको भी अस्तित्ववाद के मूल से जोड़ने का प्रयास करते हैं । जबकि वास्तविकता यह है कि अस्तित्व पर किसी न किसी रूप में चिन्तन सभी दार्शनिक सम्प्रदायों में होता रहा है । लेकिन इस विशेष विचारधारा का प्रारम्भ जिसमें पारम्परिक मूल्यों को निष्प्राण समझ कर उसके स्थान पर तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुरूप नये मानवीय मूल्यों की स्थापना का प्रयास किया जा रहा था किर्केगार्ड के दर्शन से ही हुआ ।

अस्तित्ववाद को उन सभी विचाराधाराओं के विरूद्ध प्रतिक्रिया के रूप में स्वीकार किया गया जो मनुष्य को वस्तु समझ कर उसके अनुभव और अस्तित्व पर विचार नहीं करती । इसीलिये अस्तित्ववादियों का वस्तुवाद, प्रत्ययवाद, मार्क्सवाद आदि से विरोध था ।

वस्तुवादी दृष्टि के अनुसार समस्त वस्तुओं का यर्थाथ अस्तित्व है । प्रकृति एक महान् यंत्र है । जैसे एक मशीन के विभिन्न पुर्जो का उसमें एक निश्चित स्थान और पहले से निश्चित भूमिका है उसी प्रकार प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं का उसमें पूर्वनिर्धारित स्थान और भूमिका है । मनुष्य प्रकृति के विभिन्न अवयवों में से एक हैं । वस्तुवादी विचार द्वारा प्रस्तुत विश्व की यांत्रिक संरचना मनुष्य को उसकी विशिष्टता से वंचित कर देती है । यंत्रवत आबद्ध और संचालित होने वाली अन्य वस्तुओं के ही समान उसके जीवन को भी वाह्य कारणों से नियंत्रित मान लेती है । जिसमें व्यक्ति के निर्णयों इच्छाओं या अनुभवों का कोई महत्व नहीं है । इसका विरोध अस्तित्ववादियों ने इसलिए किया क्योंकि यह व्यक्ति की विशिष्टता और उसकी संकल्प की स्वतंत्रता की अवहेलना करती है ।

वस्तुवाद की विरोधी विचारधारा प्रत्ययवाद का भी अस्तित्ववाद से सामंजस्य नहीं है । यह विचारधारा भौतिक वस्तुओं के विपरीत आध्यात्मिक चेतना की वास्तविक सत्ता स्वीकार करती है । जिसकी उत्पत्ति भौतिक तत्वों से नहीं बल्कि समस्त भौतिक तत्व उसी आध्यात्मिक चेतना का प्रकटीकरण है, उसकी अपनी स्वतंत्र कोटि है वही मात्र निरपेक्ष सत् है । इसमें प्रकृति के अंग के रूप में मनुष्य भी उस चेतना की एक अभिव्यक्ति मात्र है । उसकी सार्थकता मनुष्य के रूप में नहीं बल्कि चित् का अंश होने में है । अतः व्यक्ति स्वयं में कुछ नहीं है । यह विचारधारा चेतना (आत्मा) की स्वतंत्र कोटि स्थापित करने के बाद भी वस्तुवाद के समान ही अस्तित्ववाद की आलोचना का विषय रही क्योंकि इसमें भी मनुष्य की व्यक्तिनिष्ठता सुरक्षित नहीं रह पायी । अस्तित्ववाद की आलोचना के मतानुसार यह दोनों ही विचारधारा मनुष्य के वास्तविक अस्तित्व पर विचार नहीं करती है

और मनुष्य को वस्तु रूप में स्वीकार करती है । ऐसी स्थिति में मनुष्य भौतिक पदार्थों की ही भाँति अपनी ही सत्ता में सीमित रहेगा और न उसे किसी अन्य वस्तु का ज्ञान होगा और न अन्य से सम्बन्ध स्थापित होगा । यहाँ स्पष्टीकरण आवश्यक है कि अस्तित्ववादी मनुष्य को यथार्थ व निरपेक्ष सत् के रूप में प्रतिस्थापित नहीं करना चाहते थे क्योंकि ऐसा होने पर मनुष्य के भौतिक व सामाजिक सम्बन्धों की व्याख्या नहीं हो पायेगी (निरपेक्ष चित् को सम्वन्धों की अपेक्षा नहीं) । इसीलिए अस्तित्ववाद के पूर्ववर्ती पास्कल जब ईश्वर के अस्तित्व और अनस्तित्व के विषय में शर्त लगाने के लिये कहते हैं तो वे एक ओर तर्कवुद्धि की सीमाओं को प्रदर्शित कर आस्था का समर्थन करते हैं और दूसरी ओर अस्तित्ववादियों के अनुकूल इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि हम इन प्रश्नों पर केवल वस्तुनिष्ठ रूप से विचार नहीं कर सकते क्योंकि आभ्यन्तर अनुभूति के साथ इसका अन्तः सम्बन्ध है । हम आस्था के सम्वन्ध में सार्थक रूप से तभी विचार विमर्श कर सकते हैं, अगर हम सम्मिलित हो अगर आभ्यन्तर सहयोग हो, अगर हमारी भावना सक्रिय हो । इसीलिए अस्तित्वादी दार्शनिकों ने समस्याओं के रूप में मनुष्य और उसकी अनुभूतियों जैसे, जीवन, मृत्यु, घृणा, प्रेम, चिन्ता, लज्जा इत्यादि का आदर्शात्मक अध्ययन न कर व्यावहारिक अध्ययन किया । आदर्शात्मक अध्ययन का तात्पर्य उस प्रकार के पारम्परिक चिन्तन से हैं जहाँ मृत्यु पर विचार करते समय इस प्रकार का प्रश्न उठाया गया कि मनुष्य मरणशील है या अमर ? मृत्यु के उपरान्त भी कोई जीवन है अथवा नहीं । जबकि व्यावहारिक चिन्तन में इस प्रकार का प्रश्न किया गया कि मृत्यु के समय मनुष्य कैसा अनुभव करता है ? मृत्यु के विचार से मनुष्य के निर्णय कैसे प्रभावित होते हैं और इन प्रश्नों का समाधान तार्किक स्तर पर संभव नहीं है । बल्कि इन सत्यों को अनुभूत करना होता है । अतः यह विचारधारा तर्क को अक्षम कर त्याग देती है ।

उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में किर्केगार्ड ने यूरोपीय विचारधारा जिसमें परम तर्कवुद्धि में विश्वास किया जा रहा था के विरोध में 'आस्था' और 'नैतिक आत्मा' के विश्वास के समर्थन में परम विरोधाभास का सहारा लिया जिसके अनुसार यदि हम मूल्य,

नैतिकता और धर्म के क्षेत्र की अनुभूति प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें तर्कबुद्धि का पूर्ण रूप से त्याग करना होगा । अपने इसी चिन्तन के अनुरूप किर्केगार्ड अस्तित्व शब्द का अर्थ प्रस्तुत करते हुये कहते हैं - '' अस्तित्ववाद समस्त विशुद्ध चिन्तन विशुद्ध तार्किक या वैज्ञानिक दर्शन का अस्वीकरण हैं, इसके स्थान पर यह इस बात पर बल देता है कि दर्शन का सम्बन्ध व्यक्ति के अपने जीवन और अनुभव के साथ उस ऐतिहासिक स्थिति के साथ होना चाहिये जिसमें वह अपने को पाता है । इसे अमूर्त चिन्तन में रूचि नहीं रखनी चाहिए इसे तो जीवन पद्धति में रूचि रखनी चाहिए यह एक ऐसा दर्शन होना चाहिए जिसमें जीवित रहने की क्षमता हो '(२) । अस्तित्व' शब्द में इन सारी बातों का सार है, अस्तित्ववादी दार्शनिक इस बात पर बल देते है कि जिसे मैं वास्तविक रूप में जानता हूँ वह अपने उसी रूप में वाह्य जगत में नहीं है वह मेरी अपनी अनुभूति है । इसके लिए व्यक्ति यर्थाथ है। अतः दर्शन का आरम्भ किसी की अपनी अनुभूति अपने आभ्यन्तर ज्ञान से होना चाहिए और इसी आभ्यन्तर ज्ञान को विश्लेषित करना चाहिए उसका विस्तार करना चाहिए और इस प्रकार उसे समृद्ध करना चाहिए। इसके लिए अपनी अनुभूति को प्रमाण के रूप में स्वीकार करना चाहिए (३) ।

अस्तित्ववादी विचारधारा का उनसे प्रतिवाद है जो तर्कबुद्धि या विवेक की निरपेक्षता को स्वीकार करती है । बुद्धि की निरपेक्षता का आशय यह है कि बुद्धि ही वास्तविक और अन्तिम सत्ता है जो अव्युत्पन्न और स्वतंत्र है । इसके अतिरिक्त उसकी क्षमता असीम है । अर्थात् उससे सभी प्रकार के ज्ञान प्राप्ति की अपेक्षा की जाती है । अस्तित्ववादियों का कहना है कि बुद्धिवादियों के इस प्रकार के विश्वास का खंडन अनुभव से हो जाता है क्योंकि बुद्धि मानव स्वभाव का एक अंश है जिसे अन्तिम नहीं माना जा सकता उसकी शक्ति सीमित है वह वास्तविक सत्ता के एक सीमित अंश को ही प्रकाशित करने में सक्षम हैं । इसका स्पष्ट प्रमाण है विज्ञान जो बौद्धिक आधार को ग्रहण कर सफलता के चरम शिखर पर पहुँचने के वाद भी विश्व की समस्त समस्याओं का सफलता पूर्वक समाधान

प्रस्तुत करने का दावा नहीं कर पाया । क्योंकि बहुत सारे विषय आज भी विज्ञान की सीमा से परें हैं । उदाहरण के लिए सर्वाधिक विकसित पदार्थ विज्ञान की निरपेक्ष वास्तविकता जिससे वे कुछ निष्कर्ष निकालते हैं । जैसे क्वान्तुम सिद्धान्त, जिस पर आधारित है इस प्रक्रिया का मूलभूत क्वान्तुम । उदाहरण के लिए - किसी परमाणु से ऊर्जा वैसी ही मात्रा में बाहर नहीं फेकी जाती, उसका एक न्यूनतम क्वान्तुम होता है और जो भी शक्ति का परिणाम विकसित हो वह उस न्यूनतम क्वान्तुम का ही गुणनयोग्य अंश होता है । यह तथ्य पदार्थ-विज्ञान स्पष्ट करता है लेकिन ऐसा क्यों होता है इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में निरूत्तरता के अतिरिक्त केवल यही विकल्प है कि वह माने कि एक ऐसी वास्तविकता का ज्ञान होता है जो समझी नहीं जा सकती । हाइजेनवर्ग ने इसी तथ्य को निम्न शब्दों में व्यक्त किया -

'ऐसा सब ज्ञान एक अमाप गहराई के ऊपर पुल कीतरह झूल रहा है ।' (४)

इस प्रकार अस्तित्ववादी मनुष्य की सत्ता को पर्याप्त महत्व न देने वाली सभी विचारधाराओं की आलोचना करते हुए कहते हैं - तर्क या बुद्धि सत्ता की गहराई को छू पाने में असमर्थ हैं । बुद्धि की निरपेक्षता के विरूद्ध प्रतिक्रिया करने से ही यह अबुद्धिवाद का दर्शन भी कहलाया ।

अस्तित्ववादी विचारकों के अनुसार विज्ञान अवैयक्तिक है अतः इससे वैयक्तिकता को जानने में सहायता नहीं मिल सकती । विज्ञान में अधिकांश निर्णय उनकी पूर्वमान्यताओं पर आधारित होते हैं जैसे-भौतिक विज्ञान का यह तथ्य कि माप के परिणामों से प्रेक्षित वस्तु के गुणधर्म का अनुमान लगाया जा सकता है । स्पष्टतः कारणता नियम को पूर्व मान्यता के रूप में स्वीकार करने पर ही यह तथ्य निगमित होता है । लेकिन विज्ञान की तरह पूर्वमान्यताओं को स्वीकार कर मानव अनुभूतियों के सम्बन्ध में उचित ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता क्योंकि हम वास्तविक रूप में संकल्प की स्वतंत्रता, विकल्पों का चयन, निर्णय, कार्य करने की स्वतंत्रता को तभी स्वीकार कर सकते है जब हम इनको करने में

किसी पूर्व मान्यता या सत्ता को स्वीकार न कर केवल स्वयं को उत्तरदायी माने । अस्तित्ववाद ने कहा मनुष्य की बौद्धिकता की अब तक की यह सर्वोच्च उपलब्धियाँ मनुष्य को परिभाषित करने के लिए काफी नहीं है इसीलिए अस्तित्ववादी चिन्तन पद्धति वस्तुपरक न होकर आत्मपरक है । इस सन्दर्भ में डा० राधाकृष्ण का कथन उल्लेखनीय है - उपनिषदों में स्पष्ट घोषणा थी आत्मानंविद्धि - अपने को जानो, भगवद्गीता कहती है सभी प्रकार के ज्ञानों में आत्मज्ञान सबसे महत्वपूर्ण है । हमें इस बात का गहरा ज्ञान होना चाहिए कि मनुष्य होने का क्या अर्थ है । मनोविज्ञान अस्तित्व की स्थितियों को उसके तंत्र को विश्लेषित तो करता है पर वह मनुष्य को बहुत से टुकड़ों में बाँट देता है ताकि विज्ञान की दूसरी शाखायें उसका विश्लेषण करें । आदमी नाना पदार्थो के बीच एक पदार्थ की तरह स्वीकार किया जाता है जिसमे आत्मिक पक्ष और नैतिक पहलू उपेक्षित रह जाता है । विज्ञान व्यक्तियों की जगह धारणा और मतवादों का पुलिन्दा पेश करता है जिसमें आदमी विचार अनुभवों और इच्छाओं की ढेरी बन जाता है । टेनिस की गेंद पदार्थ है किन्तु मनुष्य पदार्थ भी है और पदार्थविद् भी। अस्तित्ववाद मानव अस्तित्व के मूल्यों को स्पष्ट करना चाहता है और उनके अनुसार इसके लिए हमें विज्ञान से परे जाना होगा (५) मानव की क्रियाओं तथा उसके व्यवहारों को स्नायुतंत्र माँसपेशियों इत्यादि की क्रियाओं से समझना संभव नहीं मानव की वास्तविकता उसके अन्तर में है उसकी आन्तरिकता में है अतः मनुष्य को अपना अस्तित्व समझने के लिए अपनी आन्तरिकता में जाना चाहिए । यद्यपि सभी विज्ञानवादी दर्शन में सृष्टिकर्ता ईश्वर को परमसत्ता नहीं माना गया लेकिन मनुष्य की व्याष्टता को पहले से निर्धारित (क्योंकि मनुष्य निरपेक्ष सत् का प्रकाशन है) मान कर उसकी स्वतंत्रता को समाप्त कर दिया गया ।

मार्क्सवाद जो कि विज्ञानवाद की विरोधी विचारधारा है वह भी व्यक्ति के निषेध का सिद्धान्त है क्योंकि वे जब यह कहते हैं कि आर्थिक परिस्थिति के नियंत्रण में मानव जीवन की वास्तविकता को नियंत्रित किया जाता है तो यह व्यवस्था और व्यक्ति का

व्यवस्था में समन्वित कर देते हैं । यही कारण है कि सार्त्र का झुकाव यद्यपि मार्क्सवाद की ओर था तथापि वह उसकी आलोचना करते हैं ।

इन सारे प्रतिवादों के द्वारा अस्तित्ववादी मनुष्य के यर्थाथ अस्तित्वको महत्व देना चाहते थे । अतः उन सभी के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या अस्तित्व की समस्या है । वह यह मानते है कि अस्तित्व का अर्थ है नित्य सृजनात्मक रूप में प्रामाणिक जीवन जीना, स्वतंत्र निर्णय लेना, सार्थक क्रिया में संलग्न रहना । अतः अस्तित्व के विषय में इस सामान्य धारणा से कि देश काल में स्थित होना ही अस्तित्ववान होने का परिचायक है उनकी सहमति नहीं है । इसीलिए वे अस्तित्व को वर्तमान मे सहज प्राप्त होने वाली वस्तु न मानकर भविष्य में प्राप्त होने वाला स्वीकार करते हैं । वास्तव में उपरोक्त अर्थ को प्रचलित अर्थ मानकर वे अस्तित्व शब्द के मूलार्थ पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं जिसके अनुसार अस्तित्व का अर्थ है आर्विभाव या उद्‌गमन अतः अस्तित्व का अर्थ हुआ - '' अस्तित्व की अनुभूति के साथ निरन्तर आर्विभावित होना । इस अर्थ में वस्तुयें आर्विभावित नहीं होती । इस विशिष्ट अर्थ मे केवल मनुष्य अस्तित्ववान है इसीलिए यह विचारधारा मानव केन्द्रित है । मनुष्य के लिये महत्वपूर्ण उसकी अपनी अनुभूतियाँ है । अस्तित्व की प्रथम अनुभूति में मनुष्य अपने को एक परिस्थिति में पाता है और परिस्थिति की चेतना के परिपक्व होने पर जब वह अपनी परिस्थिति का विश्लेषण करता है तब उसके दो मूल अवयव प्राप्त होते हैं - वस्तुयें और अन्य । उसकी अपनी व्यक्तिवादिता का विकास वस्तओं की अनुभूति तथा अन्य की अनभूति से प्रभावित है । अतः वे अस्तित्व के तीन आयाम स्वीकार करते हैं वस्तु , वह स्वयं तथा अन्य ।(६) अतः सभी अस्तित्ववादी विचारक इनके पारस्परिक सम्बन्ध अन्य व्यक्तियों से अपने सम्बन्ध का अध्ययन अलग अलग तरीकों से करते हैं ।

सार्त्र ने अस्तित्व को परिभाषित करते हुए कहा '' अस्तित्व सार का पूर्वगामी है '' जिसका समर्थन सभी ने किया । सार्त्र ने कहा मानव जीवन किसी दैवी

शक्ति द्वारा प्रदत्त या संचालित नहीं है वह अपने अस्तित्व का निर्माता स्वयं हैं । वह जैसे सारतत्व निर्धारण करता है उसी के अनुरूप अस्तित्व में आता है । उसने कहा- अस्तित्व का एक विशेष अर्थ है - अस्तित्व का अर्थ या उसके अर्थ का एक भाग यह है कि कोई भी सार नित्य नहीं है जो ईश्वर के मन में प्रत्यय रूप में विद्यमान रहता है और इस प्रकार वह किसी वस्तु के अस्तित्व के पूर्व ही प्रस्तुत रहे । सार का निर्धारण मानव रूचि और चयन से होता है अतः उसकी वस्तु परक सत्ता नहीं है ।(७)

सार्त्र के इस कथन को इस उदाहरण द्वारा और स्पष्टता प्राप्त होती है - कुर्सी एक पदार्थ है जिसका निमार्ण बढ़ई ने किया है कुर्सी बनाने की प्रेरणा उसे कुर्सी के विचार से प्राप्त हुई । अतः कुर्सी के अस्तित्व में आने के पहले उसका सार वैचारिक रूप में बढ़ई के मन में स्थित था अतः वस्तुओं के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उनका अस्तित्व सार द्वारा निर्धारित है । ईश्वर के सृष्टिकर्ता रूप में विश्वास करने वाले दार्शनिक मानव अस्तित्व के महत्व व उसके जीवन की समस्त अनुभूतियों को दैवी इच्छा की अभिव्यक्ति मान उसे पदार्थवत् स्वीकार करते हैं; जबकि मनुष्य वस्तुवत् नहीं है ।

अस्तित्ववादी दर्शन में अस्तित्व का सार से पूर्वगामी होना केवल मनुष्य पर लागू होता है । वस्तु का सारत्तव पहले है अस्तित्व बाद में । जबकि मनुष्य पहले अस्तित्व में आता है और फिर वह जैसी उसकी इच्छा हो स्वतन्त्रता पूर्वक अपने सार तत्व का निर्माण करता है यह भी सम्भव है कि वह अपनी स्वतंत्रता का समुचित उपयोग न कर परिस्थितियों से समझौता कर अपने अस्तित्व का समापन कर ले किन्तु यहाँ भी वह चाहे तो विरोध कर अपनी स्वतंत्रता का उपयोग कर सकता है ।

मनुष्य की पूर्ण स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य स्वयं अपनी इच्छा से संसार में आता है, सभी अस्तित्ववादियों ने यह माना कि मनुष्य संसार में फेंक दिया गया है एक बार उसका अस्तित्व संसार में हो जाने पर वह अपने सार के निमार्ण में

स्वतंत्र है । (१) संसार में जन्म लेना (२) हमारे अन्य से सम्बन्ध, उसकी स्वतंत्रता में यह दो ही बाधायें है - लेकिन इन बाधाओं के बाद भी मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए बाध्य है । इस बाध्यता का कारण यह है कि न उसने स्वयं अपने अस्तित्व की रचना की है और न अपने को स्वतंत्र बनाया है बल्कि स्वतंत्रता उसका स्वभाव है अतः कोई भी समय ऐसा नहीं है जब वह स्वतंत्र न हो । जिस समय मनुष्य अपने को स्वतंत्र नहीं समझता उस समय भी स्वतंत्रता नष्ट नहीं होती बल्कि उस पर आवरण पड़ा होता है । स्वतंत्रता और अस्तित्व अभिन्न है । यहाँ तक कि जब मनुष्य आत्महत्या करता है तो उसका कारण कुछ अन्य नहीं क्योंकि आत्महत्या भी वह स्वतंत्र चयन के अनुसार करता है । प्रतिकूल परिस्थितियों व कार्यो का विरोध करने के लिए मनुष्य स्वतंत्र है ।

स्वतंत्रता का अनिवार्य सम्बन्ध उत्तरदायित्व से हैं । हम जो भी है उसके लिये हम स्वयं उत्तरदायी है क्योंकि हम कुछ भी हो सकने के लिए स्वतंत्र हैं । हमारी गतिविधियों के लिए और कोई यहाँ तक की ईश्वर भी उत्तरदायी नहीं हो सकता । अतः मनुष्य अपने सुख व दुख के लिए स्वयं ही उत्तरदायी है ।

मनुष्य का उत्तरदायित्व वैयक्तिक ही नहीं वरन सम्पूर्ण मानव समाज के लिये है क्योंकि वह जो कुछ चयन करता है वह सम्पूर्ण मानव समाज के लिये होता है । वह जो कुछ अपने लिए चुनता है वह मनुष्य मात्र के लिए चुनता है । एक व्यक्ति का चयन न्यूनाधिक रूप में सम्पूर्ण मनुष्य पर प्रभाव डालता है । मनुष्य की चयनित कार्य में प्राप्त सफलता या असफलता अन्य मनुष्यों को तदनुकूल आचरण करने के लिये प्रेरित या बाधित करती है । इस प्रकार मनुष्य के क्रियाकलापों का उत्तरदायित्व स्वयं उसका है । यह स्वीकार करते हुये यह विचारधारा नियतिवाद का निषेध करती है । इसके मतानुसार मूल्यों में स्वतः प्रमाणिकता नहीं होती मनुष्य उनका चयन कर उन्हें मूल्य प्रदान करता है इस लिये वे प्रामाणिक है । वह सार निर्मित करने की प्रक्रिया में जिन मूल्यों की स्थापना करता है

उनका उल्लघंन व उनमें परिर्वतन के लिए वह पूरी तरह से स्वतंत्र है । स्वतंत्रता का अर्थ समझना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि मनुष्य की प्रमाणिकता के लिए उस स्वतंत्रता का व्यवहार में प्रयोग भी आवश्यक है ।

इस प्रकार स्वतंत्रता वह प्रत्यय है जो समस्त अस्तित्ववादियों को सम्बन्धित करती है और उन्हें वस्तुओं से पृथक प्रकार की सत्ता मानती है । मनुष्य के पास अपनी गतिविधियों को स्वतंत्र रूप से संचालित करने की क्षमता है । यद्यपि मनुष्य जन्म लेने न लेने के लिए स्वतन्त्र नहीं है लेकिन एक बार जन्म लेने के बाद वह चयन करने के लिए, अपनी गतिविधियों को चयन के अनुसार निश्चित करने में और चयन को मूल्य प्रदान के लिए स्वतंत्र है । मनुष्य जब अपनी स्वतंत्रता को नहीं स्वीकार करता तो इसका अर्थ है कि वह अपने उत्तरदायित्व को नहीं ग्रहण करना चाहता । स्वतंत्रता को अस्वीकार करने और उत्तरदायित्व से पलायन की प्रवृत्ति दुरास्था है । जन्म के समय की बाधाएँ क्या मनुष्य की स्वतंत्रता को सीमित करती है इसके उत्तर में सार्त्र कहते हैं - '' वस्तुतः मनुष्य का अपने जन्म पर कोई नियन्त्रण नहीं है वह अपने वातावरण और वस्तुओं को निर्धारित करने में स्वतन्त्र नहीं है फिर भी वह स्वतंत्र होने के लिए बाध्य है क्योंकि जिस क्षण वह संसार में फेक दिया गया है वह अपने प्रत्येक कृत्यों के लिए स्वयं उत्तरदायी है मनुष्य अपने वातावरण में सत्ता के समान अस्तित्ववान है उसकी स्थिति हमेशा उसकी परिस्थितियों से उच्चतर है क्योंकि वह अपनी परिस्थितियों का सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथ्य स्वयं है । वह स्वयं उनसे निर्धारित न होकर परिस्थितियों को अपने अनुसार निर्धारित करता है (८)

मनुष्य की स्वतंत्रता की दूसरी बाध्यता उसका अन्य मनुष्यों से सम्बन्ध है । जो कुछ सहज प्रश्नों को जन्म देता है - क्या अन्य मनुष्यों से व्यक्ति नियंत्रित होता है । यदि वह समाज के बिना नहीं रह सकता तो अन्य मनुष्य उसकी स्वतंत्रता में बाधक है ।

इस संदर्भ में विभिन्न अस्तित्ववादियों के अलग अलग विचार हैं । अस्तित्ववादी विचारधारा को प्रायः व्यक्तिवादी कहा जाता है किन्तु फिर भी यह कहना उचित नहीं होगा कि उसका सामान्य से कोई सम्बन्ध नहीं है । व्यक्ति व्यक्तिगत रूप से अपने सार का निर्माता होते हुए भी अन्य व्यक्तियों से सम्बन्धित हो सकता है । सार्त्र मनुष्य की सामान्यता को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि यह प्रदत्त नहीं है बल्कि सप्रयास बनाई जाती है । अपने आपको चुनते हुए मैने स्वयं को सार्वभौम या सामान्य बनाया है । यास्पर्स की दृष्टि में व्यक्ति का अपना ही अस्तित्व प्रामाणिक और यर्थाथ नहीं है बल्कि वह अपने अस्तित्व के साथ अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व को भी प्रामाणिक मानता है मनुष्यों में आन्तरिक सम्वन्ध स्थापित होता है संज्ञापन के द्वारा । मार्सल भी अन्य व्यक्ति के सम्बन्ध को स्वीकार करता है लेकिन यह यास्पर्स के समान संज्ञापन की आवश्यकता को नहीं स्वीकार करता । उसने माना था कि मनुष्य अन्य मनुष्यों का अस्तित्व होने पर ही अपने अस्तित्व को आत्मगत रूप में देख सकता है । इस प्रकार अस्तित्ववादियों के अनुसार अन्य व्यक्तियों का अस्तित्व कोई समस्या नहीं है और न ही अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये प्रमाण की आवश्यकता है सार्त्र ने माना था लज्जा के आधार पर अन्य व्यक्ति का अस्तित्व स्वतः प्रमाणित होता है । जब तक हमारे सामने केवल वस्तुयें है कोई व्यक्ति नहीं तब तक कोई लज्जा नहीं होती पर अन्य व्यक्ति के सामने होने पर लज्जा उत्पन्न होती है । अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व के आधार पर ही यह विचारधारा अपने लक्ष्य अर्थात् मानवीय अनुभूतियों की संप्रत्ययात्मक एकता को प्राप्त कर सकती है सार्त्र ने कहा था मनुष्य अपने कार्यो द्वारा अपना जो सार निर्धारित करता है वह उसका अपना ही सार नही होता इस प्रक्रिया में साथ ही वह अन्य मनुष्यों का सार भी निर्धारित करता है । यह उसका महान अस्तित्वपरक उत्तरदायित्व है । और इसके द्वारा ही उसका अन्य मनुष्यों से सम्बन्ध स्थापित होता है । यद्यपि इस प्रकार के उत्तरदायित्व से वह नहीं बच सकता लेकिन यह उसकी आन्तरिक संरचना में ही निहित है कि वह जो कुछ भी अपने सार का निर्धारण कर रहा है उसका प्रत्याख्यान कर सकता है । अपनी इसी विशेषता के कारण वह एक प्रश्न बना रहता है । अगले क्षण वह क्या करेगा इसको सिर्फ वहीं जानता है । यही कारण है

कि सार्त्र मनुष्य को 'अवस्तु' या 'कुछ नहीं' की संज्ञा देते हैं । इसी क्षमता के कारण मनुष्य संस्था समाज तथा वस्तुओं के साथ रहते हुये भी उनसे अलग है । इसी अलगाव तथा अपने क्रियाकलाप वस्तु तथा अपनी उपलब्धि से सम्बन्धित प्रश्नात्मक स्थितियों में ही उसे अपनी निजता और स्वतंत्रता का आभास होता है ।

यद्यपि सांमजस्य की भावना मनुष्य के मूल में है अतः वह स्वाभाविक रूप से अन्य मनुष्यों से सहयोग करना चाहता है । जैसे उसके पास चेतना है स्वतंत्रता है वैसे ही अन्य के पास भी है । प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने दृष्टिकोण से संसार में अपने को स्थापित करना चाहता है जिसमें संघर्ष की संभावना हमेशा बनी रहती है । अतः समाज के मूल में घृणा निहित है । व्यक्तियों के बीच सम्बन्ध के जितने भी रूप है इनमें घृणाकी न्यूनाधिकता अवश्य है । कभी वह व्यक्त हो जाती है और कहीं छिपी रहती है । ईश्वर निष्ठा या नैतिकता से कुछ समय के लिए घृणा के स्थान पर प्रेम का वातावरण स्थापित हो सकता है लेकिन अवसर आने पर छिपी हुई घृणा अवश्य व्यक्त होती है । इसीलिए उसने कहा अन्य मनुष्य परिताप है ।

सार्त्र की घृणा समापन को असंभव मानने वाले विचारों से मार्सेल, यास्पर्स और हेडेगर सहमत नहीं है । मार्सेल ने कहा - प्रेम और मित्रता के आधार पर समाज में सह-अस्तित्व की स्थापना संभव है जिसके लिए आत्मसंयम और अशत्रुता के भाव को विकसित कर व्यावहारिक जीवन में अभ्यास करना चाहिए । यास्पर्स के अनुसार - हमारी स्वतंत्रता के विविध पक्ष अन्य मनुष्यों के सम्पर्क में ही प्रकट होते हैं । अन्य मनुष्यों के सम्पर्क में आकर ही वह अपनी वैयक्तिकता को पूर्णता प्रदान करता है । हेडेगर भी स्वीकार करता है कि सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर ही मानव अस्तित्व को पूर्णता प्राप्त होती है ।

अस्तित्व की प्रथम अनुभूति के साथ ही व्यक्ति को यह अनुभूति भी होती है कि वह एक परिस्थिति में है । आत्म अनुभूति की प्रथम अवस्था में परिस्थिति की चेतना अस्पष्ट रहती है लेकिन बाद का विश्लेषण विकास इन दोनों से प्रभावित होता है । अस्तित्व वस्तुएं और अन्य इन तीन अवयवों के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन प्रायः हर अस्तित्ववादी ने किया है । इसी विवेचन के आधार पर इस विचारधारा में दो वर्ग हुये :-

(१) ईश्वरवादी अस्तित्ववादी
(२) अनीश्वरवादी अस्तित्ववादी

पारम्परिक ईश्वरीय चिन्तन के समान अस्तित्ववादी ईश्वर के अस्तित्व को उसके रचयिता व नियन्ता के रूप में नहीं सिद्ध करते । कुछ विचारक इन तीनों के परिप्रेक्ष्य में आत्म स्वतंत्रता का विवेचन करते हुए एक स्तर पर अपने अन्तर में ही ईश्वरीय सत्ता काअनुभव करते है , इस प्रकार के विचार का समर्थन करने वाले विचारकों में सोरेन किर्केगार्ड गैब्रियल मार्सेल कार्ल यास्पर्स के नाम प्रमुख हैं । इसके विपरीत निरीश्वरवादी विचारकों को अपनी मानव व्याख्या में किसी स्थल पर ईश्वर को स्वीकार न करने से बाधा नहीं उत्पन्न होती अतः वे ईश्वर को अपने चिन्तन में कहीं भी स्थान नहीं देते। वस्तुतः उसके दर्शन में ईश्वर विचार अप्रासंगिक है - मार्टिन हाईडेगर तथा ज्यां पाल सार्त्र निरीश्वरवादी विचारको में प्रमुख है इनके अतिरिक्त निरीश्वरवादी विचारको, में कामू तथा नीत्शे ईश्वरवादी विचारकों में माटिन ब्यूबर और पॉल टिलिख का भी उल्लेख किया जाता है ।

ईश्वरवादियों ने माना कि यदि मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप से अलग होकर ईश्वर की खोज करते है तो वे ईश्वर से दूर हो जाते है। किर्केगार्ड के अनुसार-

' जब मैं अन्तर्मुखी ध्यान में लीन हो जाता हूँ तब मैं सान्त और असीम दोनों ही रूपों के प्रति सचेत हो जाता हूँ । अपने अस्तित्व का यह विरोधाभास मुझे दुखी कर देता है। एक ओर मैं हूँ जो सीमित अपूर्ण हूँ तथा जो काल में जीता है दूसरी ओर मेरे अस्तित्व की आन्तरिकता है । अपनी आन्तरिकता में मैं उसके लिये आकुल रहता हूँ जो असीम पूर्ण अमर शाश्वत और परमानन्द है ।(१) इस प्रकार किर्केगार्ड का मानना है कि मनुष्य के अस्तित्व का उद्देश्य परमशुभ ईश्वर का सामीप्य प्राप्त करना है ।इसी प्रकार मार्सल ने भी कहा - अन्तर्मुखी चिन्तन द्वारा व्यक्ति स्थूल बन्धनों का अतिक्रमण कर अपना आन्तरिक रूपान्तर कर सकता है । यास्पर्स ने माना- हमें जगत में अपनी स्वतंत्रता को प्राप्त करना है और उसे परात्पर में खो देना है , परात्पर ही स्वतंत्रता का आधार सीमा और लक्ष्य है ।

अन्य दार्शनिक विधाओं की तरह इसके मूल भावों की अज्ञानता के कारण इस विधा विशेष से सम्बन्धित दुष्प्रभावों व कठिनाईयों का उल्लेख प्रायः होता रहा है । इसको मुख्य रूप से आलोचना का केन्द्र बनाया केथोलिक चर्च एवं वामपंथी साम्यवादियों ने, सार्त्र को अपनी पुस्तक(बींइग एण्ड नथिंगनेस) के प्रकाशन के बाद इनकी आलोचना के तीक्ष्ण प्रहार सहने पड़े। अस्तित्ववाद एवं अपने दार्शनिक विचारों की सुरक्षा हेतु सार्त्र ने एक्सिस्टेन्शियलिज्म एण्ड ह्यूमैनिज्म नामक पुस्तक का सम्पादन किया जो १९४५ में पेरिस में दिये गये व्याख्यान पर आधारित थी । यद्यपि सार्त्र इसके प्रकाशन के कुछ दार्शनिक पहलू प्रस्तुत करते हैं, लेकिन यह पुस्तक इस विचारधारा के विरूद्ध हुये प्रत्याख्यानों का समाधान करने में बहुत सफल सिद्ध हुई ।

इस विचारधारा के विरूद्ध सबसे गम्भीर आपत्ति यह की जाती है कि यह मानव जीवन के सुन्दर एवं गरिमामय पक्ष की उपेक्षा करने वाला, जीवन को दुःखद एवं त्रासदी के रूप में प्रस्तुत करने वाला दर्शन है । इसे निराशा कुंठा , विपर्यास,

निष्क्रियता, अभिशाप, मनस्ताप, एकाकीपन तथा मानवीय जीवन के विद्रुप तथा अंधेरे पहलू को प्रकट करने वाला दर्शन कहा गया ।

सार्त्र उपरोक्त आलोचना का प्रत्युत्तर देते हुये कहता है इस प्रकार की आलोचना का कारण कुछ शब्दों का जो कि बार-बार अस्तित्ववादी दार्शनिकों द्वारा प्रयोग में लाये गये हैं, वास्तविक अर्थ नहीं समझना है । हाईडेगर एकाकी शब्द का प्रयोग करता है, सार्त्र ने मनुष्य को परिताप कहा । लेकिन इन शब्दों का आलोचको ने शब्दों का प्रयोग करने वालों से बिलकुल भिन्न अर्थ ग्रहण किया । सार्त्र ने इन शब्दों को उनके वास्तविक अर्थ में व्याख्यायित करने का प्रयास किया - हाईडेगर के अनुसार -

ईश्वर नहीं है, उसके अस्तित्व विहीन होने के या इस तथ्य के बहुत सारे परिणाम है जिनका सामना मनुष्य को करना है । किसी अतीन्द्रिय सत्ता या ईश्वर के बिना मनुष्य नितान्त अकेला है क्योंकि ईश्वर के निषेध से मानवीय मूल्यों और कर्मो का कोई अलौकिक आधार नहीं रह जाता है । वह अपने समस्त क्रिया-कलाप और मूल्यों के चयन का स्वयं उत्तरदायी है । मनुष्य इसी अर्थ में स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है । चयन और निर्णय के लिये वह न तो किसी अतींन्द्रिय सत्ता का सहारा ले सकता है और न ही सार्वभौम नियम का, क्योकि ईश्वर सदृश अतीन्द्रिय सत्ता है नहीं और मनुष्य के लिये कोई पूर्वनिर्धारित नियम नहीं है वह अपनी परिस्थितियों के अनुकूल निर्णय लेकर स्वयं ही नियमों की रचना करता है । किन्तु मनुष्य का यह एकाकीपन उसे निराश नहीं करता है क्योंकि वह अकेला है वह अपनी सम्पूर्ण गतिविधियों का स्वयं ही नियंत्रक है, वही अपने भविष्य और भाग्य का निर्माता है । यह भावना मनुष्य की गतिविधियों में और अधिक रूचि उत्पन्न करती है और भविष्य के प्रति अधिक आशान्वित करती है । यदि मनुष्य को नियन्त्रित करने वाला कोई नहीं है तो वह स्वतंत्र है वह सब कुछ करने के लिये जो वह चाहता है, और यही भविष्य के प्रति आशान्वित करने की सबसे बड़ी कुंजी है ।

सार्त्र परिताप शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं मनुष्य को परिताप कहकर अस्तित्ववाद में उसकी गरिमा को कम नहीं किया गया है बल्कि इसका अर्थ है कि वह सम्पूर्ण मानवता में सक्रिय रूप से साझेदार है इसी लिए उसका उत्तरदायित्व सिर्फ अपने प्रति न होकर सम्पूर्ण मानवता के प्रति है (९)। मनुष्य अपने लिये जो चुनाव करता है, वह सभी मनुष्यों के लिये भी चयन करता है यदि हम सोचे कि मनुष्य के व्यक्तित्व की यह निश्चित अवधारणा या स्वरूप मेरे लिये वैध है अनुकरणीय है तो वह समान रूप से सभी के लिये वैध व अनुकरण करने योग्य है, इसी लिये वह केवल अपने प्रति उत्तरदायी नहीं है बल्कि अपने साथ समस्त मानवता के प्रति उत्तरदायी है । यह उत्तरदायित्व जो महसूस करता है वह व्यक्ति परिताप की भावना से नहीं बच सकता है । यह परिताप पूर्णतः आशा युक्त है क्योंकि वह केवल अपने प्रति उत्तरदायी नहीं है बल्कि अपने साथ समस्त मानवता के प्रति उत्तरदायी है । यह परिताप पूर्णतः आशा युक्त है क्योंकि वह केवल अपना भविष्य निर्माता ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानवता के भविष्य का निर्माता है ।

यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार के उत्तरदायित्व से बचते हुए कहे, वह जो कुछ कर रहा है वह उसका नितांत अपना है, केवल उसी को वैसा करने का अधिकार है तो सार्त्र कहते है यदि ऐसा सभी लोग सोचे तो ? यह सामान्य मनुष्य के लिये संक्षोभ या निराशा उत्पन्न करने वाला है और जो इस प्रकार के संक्षोभ से इन्कार करता है वह दोहरे व्यक्तित्व वाला है । अपने निर्णय और व्यवहार की स्थिति में हर व्यक्ति इस विचार के अधीन होता है कि जैसे समस्त मानवता की निगाहें उसी के ऊपर केन्द्रित है । अपने अस्तित्व की निजता में सीमित रहना उसके लिये संभव नहीं है यही मनुष्य का परिताप है। यह परिताप उत्तरदायित्व की भावना से उत्पन्न है जो मनुष्य को निष्क्रियता की ओर नहीं ले जाता, यह मनुष्य की गतिविधियों के लिए व्यवधान नहीं है बल्कि उसकी गतिविधियों का ही अंग है ।

अस्तित्ववाद के विरूद्ध दूसरी मुख्य आपत्ति यह लगाई जाती है कि यह विचारधारा जब यह स्वीकार करती है कि मनुष्य को उसकी क्रियाओं उसके व्यवहार, स्नायुतंत्र, माँसपेशी इत्यादि की हरकतों से नहीं समझा जा सकता है क्योंकि मानव की वास्तविकता उसके अन्तर में हैं- तो वह मानव केन्द्रित होने के क्रम में पहले व्यक्ति तक और फिर व्यक्ति की आन्तरिकता तक पहुँच जाता है अतः यह पूर्णतया व्यक्तिवादी, आत्मनिष्ठवादी है ।

इसके स्पष्टीकरण में कहा गया कि अस्तित्ववादी मत का अध्ययन विषय मानव केन्द्रित होने पर भी यह व्यक्तिवादी नहीं है क्योंकि व्यक्तिवादिता का दोष तब लगता है जव यह विचारधारा व्यक्ति को विश्व का मापदण्ड स्वीकार करती, जबकि अस्तित्ववादियों की ऐसी मान्यता नहीं है । वह यह मानता है कि प्रत्येक स्थापनायें किसी व्यक्ति विशेष की स्थापनायें हैं । लेकिन व्यक्ति अपने को एक परिस्थिति में पाता है उस स्थिति का अंग वस्तुयें तथा अन्य व्यक्ति भी है, इन दोनों से क्रिया प्रतिक्रिया के विविध अनुभवों में उसका स्वयं का भी विकास निहित है । व्यक्ति अपने परिवेश के विविध अवयवों को अपने अनुरूप ढालने की कोशिश नहीं करता बल्कि उसकी अपने वैयक्तिकता इनके अनुरूप संरचित होती है । वास्तव में अस्तित्ववाद में सब्जेक्टिव शब्द (आत्मनिष्ठता) का प्रयोग नहीं है बल्कि वहाँ सबजेक्टिविटि शब्द का प्रयोग है जिसका अर्थ है आन्तरिकता । मनुष्य का वास्तविक अस्तित्व उसकी आन्तरिकता से उसके अपने प्रयासों से निर्मित होता है । इस प्रकार व्यक्ति की आन्तरिकता उसे गरिमा प्रदान करती है । यह विचार व्यक्ति को वस्तु के रूप में इस्तेमाल करने का विरोध करती है । इस व्यक्तिवादिता या आन्तरिकता के बाद भी वह सामान्य केवल इस अर्थ में हैं कि उसके व्यक्तित्व के प्रत्येक रूप उसके द्वारा समझे जा सकते हैं यह सामान्यता भी प्रदत्त नहीं बल्कि उसके स्वयं के द्वारा निर्मित है ।

ईसाई (क्रिश्चियन) दृष्टिकोण से यह विचारधारा मानवीय क्रियाओ की यथार्थता और गम्भीरताकी उपेक्षा करती है । जब हम ईश्वर के नियंत्रण व निर्देश तथा शाश्वत

नियमों को अस्वीकार कर देगें तो केवल अराजकता या अव्यवस्था के अतिरिक्त कुछ नहीं शेष रहता । ऐसी स्थिति मे मनुष्य जो चाहे वह करने के लिये स्वतंत्र हैं, उसको नियन्त्रित करने के लिये न तो नैतिक नियम है और न ही ईश्वर है ।

इस आपत्ति का उत्तर देते हुए सार्त्र कहते है, ऐसी परिस्थिति का एक अर्थ यह है कि मनुष्य चयन करने के लिये स्वतंत्र है । मनुष्य सब कुछ करने में समर्थ है यहाँ महत्वपूर्ण यह नहीं है कि वह क्या चयन करता है केवल वह चयन न करने के लिये स्वतंत्र नहीं है, हम सदैव चयन करते हैं, और उस समय भी जब हम चयन नहीं करते हैं, हम अपने चयन का ही एक रूप प्रस्तुत करते हैं । और जब हम अपने चयन के साथ उत्तरदायित्व को स्वीकार कर लेते है तो उत्तरदायित्व में हम अपने साथ साथ सम्पूर्ण मानवता को शामिल कर लेते हैं । अतः मनुष्य के चयन से पहले प्रागनुभविक मूल्यों का निश्चय न होने से कोई अव्यवस्था नहीं उत्पन्न होती बल्कि उसे स्वतंत्रता प्राप्त होती है । वह अपने मूल्यों और नियमों की स्थापना स्वयं करता है वह पहले से निर्मित मूल्यों के अनुकरण में अपने को खोकर अपने को अस्तित्वविहीन करने से बच जाता है । कला और नैतिकता में सामान्य तथ्य यही है कि हम दोनों की खोज करते हैं दोनों का निमार्ण करते है हम पहले से यह नहीं निश्चित कर सकते हैं कि क्या होने जा रहा है । मनुष्य प्रारम्भ में ही निर्मित नहीं है वह अपने चयन द्वारा अपने को निर्मित करता है । अपने वातावरण में वह अपने लिये नैतिकता के चयन से बच नहीं सकता । अतः चयन की स्वच्छन्दता व अव्यवस्था का आरोप इस विचारधारा पर लागू नहीं होता ।

इस विचारधारा के विरूद्ध यह भी कहा जाता रहा है कि हम अन्य तक अपने निर्णयों को संप्रेषित करने में असमर्थ हैं, क्योंकि यदि पूर्व स्वीकृत कोई मूल्य नहो है तो कोई कारण नहों शेष रह जाता कि हम अन्य व्यक्तियों के अच्छे निर्णयों का अनुसरण करें, उन्हें स्वीकार करें ।

सार्त्र कहते हैं एक अर्थ में यह सत्य भी है, क्योंकि मनुष्य अपने लिये चयन कर सकता है वह अन्य के लिये नहीं । लेकिन उसका चयन व निर्णय यदि किसी विशेष परिस्थिति के लिये सत्य है तो उसी परिस्थिति के लिये किसी अन्य को निर्णय व चयन की आवश्यकता नहीं रह जाती है । चयन हमेशा वातावरण में चयन है अतः उसका हम आकलन नहीं कर सकते । दूसरे अर्थ में हम अपने निर्णयों को इसलिये अन्य तक संप्रेषित कर सकते हैं क्योंकि उसका चयन केवल उसके लिये नहीं बल्कि अन्य के लिये भी है – अर्थात एक मनुष्य के द्वारा किया गया चयन उसी परिस्थिति में अन्य के द्वारा भी किया जा सकता है – सार्त्र कहता है जीवन में स्वतंत्रता महत्वपूर्ण हैं मनुष्य हमेशा स्वतंत्रता चाहता है । मेरी स्वतंत्रता अन्य की स्वतंत्रता पर निर्भर करती है और अन्य की मेरे ऊपर। मैं अपनी स्वतंत्रता को लक्ष्य के रूप में तभी ग्रहण कर सकता हूँ जबकि समान रूप से अन्य की स्वतंत्रता को भी लक्ष्य के रूप में ग्रहण करूँ । अतः जब मनुष्य अपनी वास्तविकता के विरूद्ध अपनी स्वतन्त्रता को त्यागता या छिपाता है तो हम उसके दृष्टिकोण को जान सकते है ।

एक अन्य आपत्ति उपरोक्त विवरण पर आधारित है । आलोचकों का कहना है कि किसी के निजी मूल्यों के चयन को पुनः चुनना उसी प्रकार है जैसे किसी वस्तु को एक स्थान से उठाकर दूसरी जगह रख देना है । अतः मूलतः मूल्यों में कोई गाम्भीर्य नहीं है क्योंकि मनुष्य उसका चयन करता है ।

सार्त्र कहते है इसी बात को हम इस रूप में भी ग्रहण कर सकते हैं – यदि ईश्वर नहीं है तो मूल्यों की खोज के लिये किसी अन्य को होना चाहिए और यह उत्तरदायित्व मनुष्य ग्रहण करता है । और जब तक मनुष्य में परिवर्तन करने की क्षमता न हो वह वस्तुओं को उसी रूप में जैसी वे है ग्रहण करने के लिए बाध्य है ।जैसे जब तक मनुष्य जीवन नहीं ग्रहण करता, उसके लिये जीवन कुछ नहीं है , यह उसके ऊपर है कि

वह उसको क्या अर्थ दें । उसी प्रकार मूल्यों को जो अर्थ दिया जाये उसके अतिरिक्त वह कुछ नहीं है।

प्रायः अस्तित्ववाद को दर्शन के रूप में नहीं ग्रहण किया जाता । इसे दोनों विश्व युद्ध के विरूद्ध प्रतिक्रिया के रूप में ग्रहण किया जाता रहा है, यह आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक संकट के विरूद्ध उत्पन्न प्रतिवाद है । लेकिन इसके अध्ययन के फलस्वरूप जब विविध अस्तित्ववादी विचारकों की स्थिति युद्ध के पहले प्रकाश में आयी तो इस प्रकार की आपत्ति का कोई आधार नहीं शेष रह जाता । किर्केगार्ड (१८१३-५५) जिसको इस विधा का प्रथम विचारक माना जाता है वे युद्ध से लगभग सौ वर्ष पूर्व विद्यमान थे । हाईडेगर और यास्पर्स ने इस दर्शन को हिटलर की उत्पत्ति के पहले से प्रभावित किया । फ्रान्स से मार्सल (१८८९-१९७५) के अस्तित्ववाद का निश्चित स्वरूप १९१२ में प्रकाशित हुआ । लुईस लावेल की प्रथम दो पुस्तकें १९२१ में प्रकाशित हुई । सार्त्र के (१९०५-१९८०) पहले बोइवार १९०८-८६ मार्ल्यू पोन्ती (१९०६-६१) और कुछ अर्थो में कामू और कुछ अन्य विचार जिन्होने इस दर्शन को प्रसारित करने में श्रेय दिया पहले ही सुव्यवस्थित हो चुका था अतः इसे युद्ध के बाद की प्रतिक्रिया कहा जाना उचित नहीं है । इसके कल्पना , नाटक, उपन्यास, कविता , चित्रकला में गम्भीर प्रभाव के बाद भी इसकी दार्शनिक महत्ता की उपेक्षा करना उचित नहीं है ।

इन आपत्तियों के बाद भी एक भ्रान्ति यह शेष रह जाती है कि क्या अस्तित्ववाद मानववाद है ?

वास्तव में अस्तित्ववाद की मानववादी विचारधारा पारम्परिक मानवतावाद से भिन्न है, यह मनुष्य को पूर्ण गरिमा देकर भी सर्वोच्च मूल्य नहीं प्रदान करता , इस प्रकार का मानववाद उनके लिये बकवास है । मनुष्य को सर्वोच्च मूल्य के रूप में ग्रहण न करने पर हम किसी विशेष व्यक्ति के सत्कर्मो को उस पर आरोपित कर देते है। केवल

पशु ही इस प्रकार के सार्वभौम निर्णय कर सकते हैं । हम विशेष व्यक्ति के आधार पर सभी मनुष्यों के ऊपर मूल्यों का आरोपण नहीं कर सकते हैं । अस्तित्ववादी मनुष्य को इस रूप में नहीं ग्रहण कर सकता क्योंकि वहाँ मनुष्य नित्य नये मूल्यों की स्थापना कर रहा है । वह अगले क्षण क्या करेगा यह कोई नहीं जानता है । अतः सार्त्र ने मानववाद की व्याख्या अन्य प्रकार से की है । यह मानववाद इसलिए है क्योंकि यह मनुष्य को निरन्तर यह स्मरण कराता है कि उसके अतिरिक्त अन्य कोई नियमों का निर्माता नहीं है । मनुष्य स्वयं को मनुष्य के रूप में स्वयं ही प्रतिस्थापित करता है यही उसकी निराश्रयता है । इसी निराश्रयता को अपनी स्वतंत्रता के आधार पर वह अर्थ प्रदान करता है ।

इस प्रकार यह विचारधारा अतिवैज्ञानिकता, मानव के अवमूल्यन, अतिवौद्धिकता, रूढिवादिता की उपेक्षा कर प्रकाश में आयी । इसे आन्तरिकता और स्वतंत्रता का दर्शन कहा जा सकता है । बल्कि यह एक ऐसा मंत्र है जिससे इस क्षेत्र की प्रगति कभी रूकेगी नहीं नित्य नयी नयी मान्यतायें स्थापित होगी क्योंकि अपने वातावरण में मनुष्य अपने निर्णय करने में स्वतंत्र है अतः वह पहले से निर्मित मूल्यों को ढोने के लिये विवश नहीं है । यह विचारधारा दर्शन पर लगे इस आक्षेप से स्वयं को बचा लेती है कि दर्शनशास्त्र का व्यावहारिक जीवन में कोई महत्व नहीं उसकी उपयोगिता व्यावहारिकता से परे आध्यात्मिक उन्नति के लिये है । यह विचारधारा मनुष्य को उसकी अपनी वास्तविकताओं के साथ उपयोगी लगती है जिससे वह जुड़ाव महसूस करता है ।

सन्दर्भ

१- सिंह डा० शिव प्रसाद, आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद पृ० १ ।

२- रूबिचेक पॉल - अस्तित्ववाद पक्ष व विपक्ष पृ० ११ अनुवादक डा० प्रभाकर माचवे १९७३ ।

३- वही , पृष्ठ, १२

४- हाईजेगवर्ग डब्ल्यू-फिलोसोफिकल प्राब्लम्स आफ न्यूक्लियर साइंस पृ० ९३, लंदन १९०२ ।

५- राधाकृष्णन. एस. कृतरिलिजन एण्ड कल्चर पृ० ११ ।

६- सार्त्र जे.पी. एक्सिस्टेन्शियलिज्म एण्ड ह्यूमैनिज्म ।

७- सार्त्र जे.पी. एक्सिस्टेन्शियलिज्म एण्ड ह्यूमन इमोशन पृ० १८ ।

८- एलेन.ई.एल. एक्सिस्टेन्शियलिज्म फ्राम विदिन रूटेज एण्ड केगन पॉल लंदन १९५३ पृ० १५

९- मार्लियू पोन्ति : सेन्स एण्ड नॉनसेन्स पृ० ७१ ।

ए-१

द्वितीय अध्याय

ईश्वर संप्रत्यय

ईश्वर संप्रत्यय

मानव विकास के प्रारम्भिक काल में प्राकृतिक नियमों के प्रति अज्ञानता अपनी आवश्यकता पूर्ति की असमर्थता, बौद्धिक अपरिपक्वता, भय व असुरक्षा की भावना, जीवन तथा सुखों को सुरक्षित करने की लालसा ने मनुष्य को अलौकिक शक्तियों में विश्वास हेतु बाध्य किया । अपनी इच्छापूर्ति व प्राकृतिक आपदाओं के निदान के लिए वह अलौकिक शक्तियों की प्रार्थना व उपासना करता था । इन्हीं अलौकिक शक्तियों की कल्पना से विश्वव्यापी धर्मो में ईश्वर की अवधारणा विकसित हुई । धर्मो में इसे आस्था या श्रद्धा के आधार पर स्वीकार किया गया है । मानवीय ज्ञान के विकास के साथ किसी विश्वास या मान्यता को बिना बौद्धिक आधार के स्वीकार किया जाना असंभव हो गया, अतः धार्मिक मान्यताओं को भी बौद्धिक आधार प्रदान किये जाने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी जिससे धर्म अन्धविश्वास जनित जादू-टोने से पृथक अपनी पहचान कायम रख सकें। इसी उद्देश्य से धार्मिक भावनाओं के औचित्य का निर्धारण धर्म दर्शन में किया जाने लगा । धर्म दर्शन समस्त धार्मिक विषय अर्थात धर्म, ईश्वर, आत्मा, जगत नैतिकता आदि से सम्बन्धित विविध प्रश्नों व तथ्यों का निष्पक्ष परीक्षण कर उसका औचित्य या अनौचित्य सिद्ध करता है ।

किसी वस्तु के अस्तित्व का साधारणतः अभिप्राय यह है कि वह वस्तु वास्तव में हमारे समक्ष या मन में उपस्थित है । ईश्वर के अस्तित्व की समस्या धर्मो में नहीं है क्योकि धर्मो में इसे आस्था या श्रद्धा के आधार पर स्वीकार किया गया है। इसीलिए कुछ धर्म शास्त्रियों ने धार्मिक मान्यताओं को तर्कबुद्धि के आधार पर परीक्षित करने के प्रयास को व्यर्थ कहा क्योकि धार्मिक सत्यों को मनुष्य अपनी तार्किक बुद्धि व सीमित अनुभव से कदापि नहीं जान सकता ।उनका ज्ञान ईश्वरीय अनुग्रह से प्राप्त आस्था व श्रुतियों से ही संभव है। ऐसा विचार प्रमुख रूप से कार्ल बार्थ ऐमील ब्रनूर रीनोल्ड नीबूर आदि का है ।

उपरोक्त विचारकों का यह मत धर्म के प्रति अतिरेक आस्था का परिचायक है। क्योंकि किसी भी सिद्धान्त को वर्तमान समय में तार्किक परीक्षण से सत्यापित व प्रमाणित किये बिना नहीं स्वीकार किया जा सकता । केवल आस्था के आधार पर कुछ भी स्वीकार किया जाना दर्शन के अन्धकार युग की प्रवृत्ति है

अनीश्वरवाद ईश्वर की अवधारणा का किसी न किसी रूप में विरोध है। विरोधकर्ता के लिये विरोध से पहले विरोध किये जाने वाले विषय की स्पष्ट अवधारणा होनी चाहिए। अतः अनीश्वरवाद के विवेचन से पहले ईश्वर अवधारणा से सम्बन्धित विविध तथ्यों का संक्षिप्त विवरण आवश्यक है ।

ईश्वर से सम्वन्धित विविध प्रश्नों जैसे ईश्वर एक है या अनेक ईश्वर के गुण, जगत से उसका सम्वन्ध, उसके अस्तित्व को प्रमाणित करने वाले तर्को के परीक्षण के विवेचन से पहले यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि ईश्वर किस प्रकार की सत्ता है - क्या वह वस्तु रूप है या कोई विशिष्ट प्राणी या मूल्यों या आदर्शो के रूप में उसकी वैचारिक सत्ता है ? ईश्वर को समस्त भौतिक वस्तुओं का रचयिता मानते हुए भी उसे भौतिक सत्ता नही प्रदान की गई, क्योंकि भौतिक वस्तु की सत्ता संभाव्य या आपातिक है अर्थात वह अपने वर्तमान स्वरुप की उत्पत्ति और व्याख्या हेतु किसी अन्य तत्व की अपेक्षा रखने से पराश्रित है इसके विपरीत ईश्वर को अनाश्रित अनादि अनन्त, स्वयंभू नित्य या शाश्वत माना गया है । भौतिक वस्तुयें विस्तार युक्त है जबकि ईश्वर को शरीर रहित ऐसी सत्ता के रूप मे कल्पित किया गया जो मानवीय इन्द्रियानुभव व तर्क बुद्धि का विषय नही है अतः ईश्वर की सत्ता अभौतिक है । ईश्वर की सत्यता को मूल्य व आदर्शो के रुप मे वैचारिक सत्ता भी नही प्रदान की जा सकती क्योंकि प्रत्येक विचार अन्ततः मनुष्य के मन पर निर्भर है उन्हें मानव मन से परे अस्तित्ववान नही माना जा सकता जबकि ईश्वर को केवल मनुष्य का ही नही बल्कि सम्पूर्ण ब्रह्मांड का रचयिता माना जाता है अतः उसे वैचारिक सत्ता प्रदान कर मानव मन पर आधारित

करना उसकी असगंत कल्पना है । अतः उसकी न भौतिक सत्ता है न किसी विचार के रुप मे मानसिक सत्ता । वस्तुतः ईश्वर क्या है इस विषय में प्रत्येक काल व स्थान पर परस्पर पृथक पृथक ईश्वर स्वरुप कल्पित किये गये । कुछ लोगो ने उसे सगुण साकार तथा व्यक्तित्व सम्पन्न सत्ता माना, लेकिन कुछ अन्य दार्शनिकों ने उसे व्यक्तित्वरहित निर्गुण निराकार सत्ता के रुप मे स्वीकार किया है । प्लेटो ने उसे परमशुभ, अरस्तु ने प्रथम गतिदाता, स्पिनोजा ने उसे एकमात्रद्रव्य, जर्मन दार्शनिक कान्ट ने नैतिकता का धारक, हेगल ने निरपेक्ष विचार, स्पेन्सर ने अज्ञेय सत्ता और ब्रैडले ने निरपेक्ष सत्ता कहा ।

भारतीय दर्शन में न्याय वैशेषिक दर्शन ईश्वर को षड्एश्वर्य धर्म यश, श्री, वैराग्य एवं मोक्ष से पूर्ण सत्ता मानते है । रामानुज ने ईश्वर को चित् अचित् गुणो से युक्त माना है । इसी प्रकार कुछ विचारको ने जहाँ ईश्वर को ही एक मात्र तत्व के रुप में स्वीकार किया है । वही कुछ अन्य विचारकों न ईश्वर के साथ अन्य तत्वों की सत्यता में भी विश्वास कर लिया है । जैसे प्लेटों और अरस्तु ईश्वर के साथ ही भूत को भी पारमार्थिक सत्ता मानते हैं । वैशषिक दर्शन ईश्वर के अतिरिक्त परमाणु मन आत्मा दिक, काल आदि अनेक तत्वों को स्वीकार करते हैं ।

दृष्टिकोणों के पृथक होने पर भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने वाले सभी दार्शनिक उसे शरीररहित, अभौतिक , विशुद्ध चैतन्य सत्ता मानते हैं जो अनादि, अनन्त , शाश्वत और स्वयंभू व सम्पूर्ण ब्रह्मांड का आधार है । धर्मो में उपासकगण मानवीय दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट गुण सर्वशक्तिमता, सर्वज्ञता , सर्वव्यापकता, नित्यता, पूर्णशुभत्व, असीमित प्रेम, करूणा आदि से ईश्वर को युक्त मानते है । अपनी आस्था से वे इन गुणों से युक्त ईश्वर को स्वीकार करते हैं जिसके लिए वे किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं स्वीकार करते बल्कि आस्थावान होकर उसकी पूजा अर्चना करते है और प्रत्युत्तर में ईश्वर से अपनी समस्त माँगों की पूर्ति चाहते हैं । इस प्रकार प्रारम्भिक धर्म से विश्व धर्म तक ईश्वर विचार निम्न रूपों में विकसित हुआ -

१. अनेकेश्वरवाद
२. विकल्पेश्वरवाद
३. एकेश्वरवाद

अनेकेश्वरवाद के अर्थ से ही स्पष्ट है कि यह विचारधारा अनेक ईश्वर की सत्ता में विश्वास करती है । मैकग्रीगर अनेक देवी देवताओं की उपासना को अनेकेश्वरबाद की संज्ञा देते है ।(१) यह विचार धर्म के विकास के प्रारम्भिक काल में स्वीकार किया गया था । तब मनुष्य ऋतुओं का निश्चित क्रम में आना, सागर की गहराई , आकाश की विशालता, भूकम्प, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि से स्तब्ध था, अतः उसकी अविकसित आध्यात्मिक चेतना ने समस्त प्राकृतिक घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में एक अदृश्य शक्ति की कल्पना कर ली और यह विश्वास किया कि इन विभिन्न शक्तिओं की उपासना अर्चना द्वारा इन्हें प्रसन्न कर वह सम्बन्धित देवता के प्रकोपों से बच सकता है । इसी भावना के वशीभूत हो वे वर्षा हेतु इन्द्र की,ऊर्जा स्रोत के रुप मे सूर्य की जिसको सवितृ भी कहा गया, प्रकाश तथा ऊर्जा हेतु अग्नि की, वायु की, आकाश की देवता के रुप में वरुण व मित्र की पूजा करते थे । वरुण को ये प्राकृतिक जगत का शासक तथा नैतिकता और विश्व व्यवस्था का संरक्षक मानते थे । जिस नियम के आधार पर वरुण विश्व मे व्यवस्था स्थापित करता है । उसे ऋत् कहते हैं । इन देवताओं के अतिरिक्त उषा, सरस्वती वाक् तथा अदिति के रूप में देवियों की पूजा भी की जाती थी । प्राकृतिक शक्ति के नियन्ता के अतिरिक्त क्षमा, नम्रता, ऐश्वर्य आदि गुणों के प्रतीक रूप में भी विभिन्न देवताओं की कल्पना की गई । इन्द्र को शौर्य का प्रतीक, वरूण को न्याय का एथीना ज्ञान का हेस्टिया पवित्रता की प्रतीक थी । इस प्रकार तत्कालीन मानव ने प्राकृतिक नियमों के नियन्ता तथा मानवीय गुणों के प्रतीकीकरण के रूप में विविध ईश्वरीय शक्ति की कल्पना कर ली थी । प्रो० एटकिन्सन ली ने इस विचारधारा के विकास काल को आरम्भिक धर्म और आध्यात्मिक धर्म के मध्य स्वीकार किया है ।(२)

मानव सम्यता के आरम्भिक काल में उसकी चिन्तन सीमा शरीर की मूल आवश्यकताओं तक ही केन्द्रित थी लेकिन चिन्तन के विकास के साथ ही उसमें प्रकृति में छिपे हुए सौन्दर्य के प्रति जिज्ञासा हुई जिसके परिणाम स्वरूप अनेकेश्वरवाद का विकास हुआ । अनेकेश्वरवाद में विविध देवी देवताओं को पृथ्वीलोक का निवासी नहीं माना गया उनका निवास स्थल स्वर्गलोक, पाताललोक, इन्द्रपुरी, ओलिम्पस पर्वत है । शाप के वशीभूत हो या मानव जाति के कल्याण हेतु वे अवतार ग्रहण कर पृथ्वी पर निवास करते थे । ये देवतागण व्यक्तित्व सम्पन्न थे जो अपने भक्तों को दर्शन देते थे उन पर कृपा करते थे । इन देवी देवताओं के व्यक्तित्व की कल्पना मानव सदृश ही की गई थी । यद्यपि तत्कालीन मनुष्यत्वारोपणवाद दोष पूर्ण है क्यों कि इससे इनमें मानवोचित गुण दोषों को स्वीकार करना होगा जिससे ईश्वर सीमित हो जायेगा । जबकि ईश्वर की अवधारणा असीमित रूप में कल्पित की गई थी अतः इस अवधारणा से और विचार में व्याघात उत्पन्न हो जायेगा । तथापि भक्तजन मनुष्यत्वारोपण के बाद भी उसे असीमित, पूर्ण, नित्य सुख-दुख से परे अनन्त आनन्दयुक्त सत्ता स्वीकार करते हैं ।

अनेकेश्वरवाद का उदाहरण भारत में ही नहीं बल्कि यूनान, बेबिलोनिया, रोम मिस्त्र आदि देशों के धर्म में भी मिलता है । यूनानी धर्म में जीउस अपोलो आटेमिस आदि मिस्त्र रा सूर्य रोम में मार्स वीनस बेबिलोनिया में मारदुक आदि इसके उदाहरण हैं।

मानव चेतना विज्ञान से प्रभावित होकर विश्व के मूल में किसी एक सत्ता की माँग करने लगी इस माँग को पुष्ट करने में अनेकेश्वरवाद के दोष सहायक सिद्ध हुये । अनेकेश्वरवाद में अनेक ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने से उनमें प्रतिष्ठा वृद्धि हेतु परस्पर संघर्ष, प्रकृति की रहस्यात्मकता के आधार पर देवताओं की कल्पना से अन्धविश्वास को बढ़ावा, याचना एवं भय हेतु की गई उपासना न तो नैतिक है न धार्मिक। इस रूप में ईश्वर, भक्तजनों का वह उत्कट अनुभव नहीं है जिसको अनुभूत करने की अभिलाषा भक्तजनों का लक्ष्य माना गया बल्कि वह उसकी माँगों की पूर्ति का

साधन बन जाता है । इसके अतिरिक्त तैतीस करोड़ देवताओं की उपासना कर उन्हें सन्तुष्ट कर पाना मानव क्षमता से सर्वथा परे था । उसकी मानवत्वारोपणवादी ईश्वरीय अवधारणा का उपासक की ईश्वर की कल्पना से सामंजस्य नहीं था । अतः एकेश्वरवाद के विकसित होने के पहले विकल्प रूप में कई देवताओं के सम्मिलित पूजन के उदाहरण भी मिलते हैं । वैदिक कालीन धर्मो में मित्र वरूण, अग्नि, व सोम, इन्द्र और अग्नि के एक साथ उपासना के दृष्टान्त मिलते हैं । लेकिन इससे भी उपासक को सन्तोष नहीं मिला । धर्म के तीनों पहलू ज्ञान कर्म और भाव भी एक ही ईश्वर की उपासना से सन्तुष्ट होते हैं । डा० राधाकृष्णन भी ईश्वर की बहुलता को धार्मिक चेतना के विरूद्ध मानते हैं ।(३) अतः धर्म की इस मांग के अनुरूप ही वैदिक काल में आराधना के समय अनेक ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते हुये भी किसी एक देव को प्रधान मानकर सम्पूर्ण क्रिया-कलाप उसी के प्रति समर्पित किये जाते थे । कभी अग्नि, कभी वरूण, इन्द्र या अन्य किसी भी देवता का प्रधान मानकर उपासना का प्रचलन था । मैक्समूलर ने इसी प्रवृत्ति को विकल्पेश्वरवाद कहा । ब्लूमफील्ड ने इस प्रवृत्ति को अवसरवादी एकेश्वरवाद कहा । डा० राधाकृष्णन ने अनेकेश्वरवाद को धर्म का स्वाभाविक निष्कर्ष कहा । मैकडोलन ने कहा- विकल्पेश्वरवाद की यह प्रवृत्ति बारी-बारी प्रत्येक देवता को सर्वोच्च बना देती है ।(४) वस्तुतः यह अनेकेश्वरवाद से एकेश्वरवाद के मध्य की कड़ी है जो भावना को पूरी तरह त्याग नहीं पा रही थी और एकेश्वरवाद मान्यता की मांग को अस्वीकार नहीं कर पा रही थी ।

धर्म के इतिहास में एकेश्वरबाद का विकास मनुष्य की चिन्तनशक्ति, ज्ञान तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों के सुविकसित होने के फलस्वरूप हुआ । एकेश्वरवाद के शब्दिक विश्लेषण से ही स्पष्ट है कि यह विचारधारा एक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करती है। धर्मो में उसे ऐसी वस्तुपरक सत्ता माना गया है जिसमें असीम शक्ति, ज्ञान नित्यता, शुभत्व, प्रेम दया आदि गुण अनिवार्यतः विद्यमान रहते है जो जगत का आदिकारण, रचयिता, पालनकर्ता शासक और संहारक है ।

वस्तुतः अनेकेश्वरवाद की अप्रासंगिकता वैदिक काल से ही स्वीकार की जाने लगी थी । विकल्पेश्वरवाद से भी यही आभासित होता है कि मूल सत्ता तो एक ही है। विभिन्न देवता उस सत्ता के विभिन्न रूप हैं । ऋग्वेद में इसी प्रकार का वर्णन करते हुए कहा गया :-

इन्द्र मित्रं वरूणमानिमाहुर्यो
दिव्यः स सुषर्णो गुरूत्मन्
एकसद्विप्राः बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः

अर्थात वे लोग उसे इन्द्र मित्र वरूण अग्नि तथा आकाशगामी श्रेष्ठ पंखे वाले गुरुत्मन की संज्ञा देते हैं, सत् अथवा सत्ता एक ही है जिसे बुद्धिमान अग्नि, यम, तथा मातरिश्वन के विभिन्न नामों से पुकारते हैं । एकेश्वरवादी भावना अनेकेश्वरवाद में भी अस्तित्तवान थी, किसी एक देवता को सभी देवताओं का प्रतीक मानकर ही पूजन होता था । इस प्रकार के मंत्रों का उल्लेख ऋग्वेद में कई स्थान पर है । (५)

केवल भारतीय दृष्टान्त ही नहीं बल्कि पाश्चात्य जगत में मैक्ग्रीगर ने भी सिसरो द्वारा कथित विचार को इस मत के पुष्टिकरण हेतु प्रस्तुत किया । (६)

अनेकेश्वरवाद से एकेश्वरवाद के विकास का आधार भक्तों का अपने देव के प्रति आत्मसमर्पण का भाव है । यह समर्पण सदैव अपने से 'श्रेष्ठ' सत्ता के प्रति ही संभव है । यदि वह सत्ता विविधता व अनेकता के कारण संघर्ष की संभावाना से युक्त है, यदि उसमें सीमित गुण है या कतिपय गुणों का अभाव है तो वह भक्तजनों की उपासना का विषय नहीं रह जायेगा और ऐसा ईश्वर संसार की व्यवस्था व उनकी

मांगों की पूर्ति में भी सक्षम नहीं हो सकता । अतः भक्तजनों के सर्वस्व समर्पण के परिप्रेक्ष्य में निहित है असीम श्रेष्ठ, सर्वशक्तिमान सत्ता की माँग । जिसकी पूर्ति होती है एकेश्वरवादी अवधारणा में । सगुण और साकार ईश्वर की यह मानवत्वारोपी अवधारणा ही ईश्वरवादी धर्मों के लिए सार्थक एवं उपयोगी है निगुर्ण तथा निराकार ईश्वर की विशुद्ध बौद्धिक अवधारणा नहीं । ईश्वर अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए जो तर्क आदि प्रस्तुत किये गये व भी सगुण और साकार ईश्वर हेतु ही है ।

एकेश्वरवादी विचारधारा की स्थापना का आधार तार्किक बौद्धिकता न होकर तर्कणातीत अनुभूति है जहाँ भक्त समस्त लोक के स्वामी, असीम श्रेष्ठ सर्वशक्तिशाली ईश्वर के प्रति समपर्ण कर अपनी उत्कट अभिलाषा की पूर्ति करना चाहता है । एकेश्वरवादी विचारधारा के उदाहरण भारतोय एवं पाश्चात्य दर्शन दोनों में प्राप्त होते हैं। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में इसके सर्वाधिक प्रबल समर्थक स्पिनोजा हैं जिन्होने ईश्वर सबकुछ और सब कुछ ईश्वर है, स्वीकार किया । देकार्त भी एक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते थे लेकिन उन्होने निरपेक्ष के अतिरिक्त सापेक्ष तत्व के रूप में जड़ तथा चेतन को भी स्वीकार कर लिया । स्पिनोजा ने इस तत्वात्मक द्वैत को अस्वीकार कर उसे एकमात्र ईश्वर के गुण के रूप में स्वीकार कर लिया । यह गुण वह है जिन्हें बुद्धि तत्व का रूप समझती है, गुण की वास्तविक सत्ता नहीं, वह प्रतीति मात्र है । गुणों की वास्तविक सत्ता ईश्वर को सीमित कर देगी क्यों कि 'प्रत्येक निर्धारण निषेधात्मक हैं । ''स्पिनोजा को ईश्वर की निगुर्ण सत्ता स्वीकार है । इस लिए उनका दर्शन अमूर्त एकतत्ववाद कहा जा सकता है । इसके अतिरिक्त हेगल, ग्रीन, फिश्टे, ब्रैडले भी एकतत्ववाद का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । ये विचारक जगत की अनेकता को भ्रम न मानकर एकता की ही अभिव्यक्ति मानते हैं । भारतीय दर्शन में उपनिषद्, शंकर के अद्वैतवाद रामानुज का दर्शन एकेश्वरवाद का समर्थन करते है ।

विश्व के विभिन्न धर्म जैसे ईसाई धर्म इस्लाम धर्म आदि भी एकेश्वरवादी विचारधारा के पोषक हैं । धर्मो में इस एकेश्वर सत्ता को निरपेक्ष तटस्थ परमतत्व न

मानकर व्यक्तित्व सम्पन्न माना गया है जो अपने भक्तों की प्रार्थना सुनता है, उनके कष्ट का निवारण करता है, जिसे अपनी सत्ता के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है वह पूर्ण तथा शाश्वत है । व्यक्तित्व सम्पन्न होने का अर्थ ईश्वर का एक व्यक्ति होना नहीं उसका आशय यह है कि ईश्वर में कम से कम वैयक्तिक होने का गुण है इससे अधिक वह बहुत कुछ है जो मानव कल्पना से परे हैं । वह इस संसार का सृष्टा, पालक एवं संहारक हैं । वह मूल्यों का संरक्षणकर्ता व कर्मफल प्रदाता है । यह वैयक्तिक या सगुण ईश्वर ही आराधना का विषय है । गुणो के अधिष्ठान के रूप में उस पर व्यक्तित्व का आरोपण होता है । ईश्वर के गुण मानव के गुण से भिन्न हैं। मानव के गुण आकस्मिक और वर्णनात्मक है जबकि ईश्वरीय गुण नित्य और वर्णनातीत है ।

ईश्वर के गुणों को दो वर्गों में विभाजित किया गया : (१) तात्विक गुण (२) नैतिक गुण ।

तात्विक गुण के अन्तर्गत प्रमुख रूप से जो विशेषताएँ रखी गयी वे इस प्रकार है :-

सर्वशक्तिमानता
सर्वव्यापकता
सर्वज्ञता
अपरिमितता
नित्यता

जो ईश्वरवादी एक ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं वे उसे अनिवार्यतः सर्वशक्तिमान मानते हैं । अर्थात वे उसमें असीम शक्ति मानते हैं और उनका विश्वास

है कि ईश्वर अपनी उसी शक्ति से सम्पूर्ण ब्रह्मांड को नियंत्रित करता है । ईश्वर संसार की समस्त वस्तुओं को उत्पन्न करता है, उनकी रक्षा करता है और उनका विनाश करता है । वह अपनी इच्छानुसार सब कुछ कर सकने में सक्षम है, उसके लिए कुछ भी असंभव नहीं है। आगस्टाइन ने ईश्वर के इस गुण के लिए सर्वशक्तिमानता के स्थान पर 'अनन्त शक्ति ' शब्द का प्रयोग किया । ईश्वर को सर्वशक्तिमान स्वीकार कर ही भक्त उसकी उपासना करता है । उसका विश्वास है कि जो कार्य वह स्वयं नहीं कर सकता वह सर्वशक्तिमान होने के कारण ईश्वर अवश्य कर सकता है ।

ईश्वर में यह तात्विक गुण हैं अथवा नहीं इस विषय में दार्शनिकों में परस्पर मतभेद है । जे०एस० मिल इस सम्बन्ध में उपरोक्त मत के विपरीत विचार प्रस्तुत करते हैं । उनके अनुसार ईश्वर की सर्वशक्तिमानता का तात्पर्य है कि उसने इस जगत का निमार्ण किया है और ईश्वर का यह सृष्टिकर्ता रूप ही उसे सीमित कर देता है जब कि सीमित ईश्वर को ईश्वर कहना ही असंगत है । जब मिल या उनके समान विचार प्रस्तुत करने वाले दार्शनिक इस प्रकार का मत प्रस्तुत करते हैं तो वे निमार्ण और सृष्टि दोनों का एक ही अर्थ ग्रहण करते है निर्माण में निमार्णकर्ता के अलावा भी अन्य वस्तुएँ (उपादान तत्व) अस्तित्ववान रहती है जैसे कुम्हार को घड़े के निर्माण के लिए मिट्टी, जल, चाक आदि की अपेक्षा होती है लेकिन सृष्टिकर्ता सृष्टि बिना किसी उपादान के शून्य से करता है। अतः ईश्वर निर्माता नहीं बल्कि सृष्टिकर्ता है । ईश्वर के सृष्टिकर्ता रूप को प्लेटो स्पिनोजा आदि ने स्वीकार किया (यद्यपि सृष्टिकर्ता भाव भिन्न है) भारतीय दर्शन में इस सृष्टिकर्ता को 'लीला' की संज्ञा प्रदान की गई जो रहस्यात्मक है । इसी प्रकार का मत पाश्चात्य विचारक बटॅक्सी भी प्रस्तुत करते हैं :-

> 'साफ-साफ हम नही जानते हैं कि ईश्वर द्वारा सृष्टि रचना का क्या स्वरूप है । सृष्टि रचना से हम स्पष्ट कहना चाहते हैं कि ईश्वर ने विश्व रचना न तो अपने से परे किसी स्वतंत्र पदार्थ से की है और न अपने किसी अंश से । हमें स्वीकार कर लेना चाहिए कि हम नहीं जानते है कि वह किस प्रकार सृष्टि करता है । ''(७)

सृष्टि रचना से ईश्वर के किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती । क्योंकि वह तो स्वयं ही पूर्ण सत्ता है । पाश्चात्य विचारक थामसन के अनुसार-ईश्वर विश्व रचना के पूर्व ही पूर्ण था उसकी पूर्णता विश्व रचना से अप्रभावित है । उन्होने कहा- ईश्वर को काल का बोध होता है पर यह बोध स्वयं कालगत नहीं होता क्योंकि भूत और भविष्य ईश्वर की चेतना में वर्तमान रहते हैं । (८)

जब ईश्वर को सर्वशक्तिमान कहकर यह अभिप्राय लगाया जाता है कि वह असंभव को भी संभव कर सकता है तो कुछ विरोध उत्पन्न होते है जिन्हें दार्शनिकों ने 'सर्वशक्तिमत्ता का विरोधाभास' कहा जिसके अन्तर्गत प्रश्न किया गया कि क्या ईश्वर आत्महत्या कर सकता है । क्या वह झूठ को सत्य बना सकता है । क्या वह इतना भारी पत्थर बना सकता है जिसे वह स्वयं न उठा सके । इन प्रश्नों का तर्कसंगत समाधान संभव ही नहीं है । उदाहरण के लिये यदि वह आत्महत्या नहीं कर सकता तो वह सर्वशक्तिमान नहीं कहा जा सकता और यदि वह कर सकता है तो वह शाश्वत और नित्य नहीं है । इन सभी प्रश्नों के दोनों ही उत्तर (स्वीकारात्मक और निषेधात्मक) सर्वशक्तिमत्ता के विरूद्ध है ।

इस सम्बन्ध में ईश्वरवादियों ने कहा सर्वशक्तिमत्ता का अर्थ असंभव को संभव करना नहीं है अर्थात दो और दो को मिलाकर पाँच की प्राप्ति कराना नहीं है । क्योंकि ईश्वर के द्वारा उन्ही कार्यो का सम्पादन होता है जो उसके गुणों से मेल खाते है। ईश्वर शाश्वत और अनन्त है यदि उसको अनन्तता में विरोध उत्पन्न होगा तो वह सीमित हो जायेगा और सीमित ईश्वर, ईश्वर नहीं है ।

ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता मनुष्य में निहित संकल्प की स्वतंत्रता का भी निषेध करती है । जो नैतिकता की अनिवार्य शर्त है । यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है तो इसका अर्थ हुआ कि मनुष्य ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकता जो उसकी इच्छा के

प्रतिकूल हो और यदि यह माना जाय कि मनुष्य ईश्वर इच्छा के प्रतिकूल भी कर्म कर सकता है तो इसका अर्थ है कि वह सर्वशक्तिमान नहीं है । ईश्वरवादी इस विरोध की उपेक्षा करते हुए ईश्वर को सर्वशक्तिमान मानते हैं और साथ ही मनुष्य में संकल्प को स्वतंत्रता को भो स्वीकार करते हैं ।

ईश्वर को सर्वशक्तिमान मानने पर उससे सम्बन्धित एक प्रश्न और उत्पन्न होता है कि यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है और शुभ है तो संसार में प्राकृतिक (भूकम्प, बाढ़, मृत्यु, रोग, साँप , बाघ, अभाव, अज्ञान, अकाल, इत्यादि) एवं नैतिक (असत्य, हिंसा,चोरी,डकैती) अशुभ क्यों है ? प्रो० पैटरसन इसको स्पष्ट करते हुये कहते है :-

ईश्वर सृष्टि मे अशुभ के अनधिकृत प्रवेश को रोक सकता है लेकिन यदि वह ऐसा नहीं करना चाहता- ऐसी स्थिति में उसे शुभ(कल्याणकारी) नहीं कहा जा सकता- यदि वह अशुभ को रोकने में असमर्थ है तो उसे शुभ भले ही कहा जाए वह सर्वशक्तिमान नहीं कहा जा सकता ।

इसी प्रकार की विचारधारा प्रो० गैलवे डी एम एडवर्ड इत्यादि की भी है ।

इस आपत्ति का ईश्वरवादियों ने उत्तर देते हुए कहा कि मनुष्य को ईश्वर ने संकल्प की स्वतंत्रता प्रदान की है जब मनुष्य उसका दुरूपयोग करता है तो उसे अशुभ की प्राप्ति होती है ।

स्पष्ट है कि ईश्वर को सर्वशक्तिमान मानने पर अनेक समाधान रहित समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, जबकि धर्मों में ईश्वर को सर्वशक्तिमान कहा जाता है तो वहाँ ईश्वर को ही सब कुछ मानकर उसमें आस्था प्रदर्शित की जाती है । अर्थात वहाँ सर्वशक्तिमत्ता का तात्पर्य किसी तथ्यात्मक सत्ता के गुण से नहीं है ।

ईश्वर का दूसरा तात्विक गुण है सर्वव्यापकता । ईश्वर को सर्वव्यापक कहने का अर्थ है कि ईश्वर जगत के कण-कण में व्याप्त है । उदाहरण देते हुए ईश्वरवादी कहते है जैस दूध में सफेदी, या शरीर में आत्मा विद्यमान रहती है उसी प्रकार ईश्वर सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है । धर्म के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में ईश्वर स्थान विशेष तक सीमित था । तदुपरान्त प्राकृतिक धर्म में उसका क्षेत्र कुछ और व्यापक हुआ वह समस्त प्रकृति में व्याप्त माना जाने लगा । विश्वव्यापी धर्मो तक ईश्वर को सर्वव्यापी मानना अनिवार्य हो जाता है अन्यथा ईश्वर असीम व सभी दृष्टियों से पूर्ण नहीं कहा जा सकता ।

सर्वव्यापकता का अर्थ स्पष्ट करते हुए ईश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर सर्वव्यापक है । इस कथन का आशय यह नहीं लगाना चाहिए कि वह जगत में उसी प्रकार व्याप्त है जैसे भौतिक वस्तुओं की व्यापकता हम उसके स्थान विशेष पर विद्यमान होने से व्यक्त करते है । बल्कि ईश्वर उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार आत्मा शरीर में व्याप्त है जिसकी व्याप्ति का प्रमाण अनुभूति है ।

ईश्वर को सर्वव्यापी कहना भी सर्वथा दोषमुक्त नहीं है इसमें सम्बन्धित अनेक समस्याएं उत्पन्न होती है :-

१. ईश्वर की सर्वव्यापकता की अवधारणा का ज्ञान कैसे हो ? क्योंकि ईश्वर अभौतिक सत्ता है, जिसकी देश-काल में उपस्थिति स्वीकार नहीं की जा सकती । मनुष्य किसी भी वस्तु की व्यापकता का ज्ञान देश-काल के परिप्रेक्ष्य में ही जान सकता है ।

२. उसकी सर्वव्यापकता के स्पष्टीकरण के लिए ईश्वरवादियों द्वारा प्रस्तुत उदाहरण भी युक्तिसंगत नहीं है । दूध और मक्खन वाले उदाहरण में दोनों तत्व भौतिक है और शरीर तथा आत्मा वाले उदाहरण में आत्मा का अस्तित्व ही संदिग्ध और विवादास्पद है ।

३. देश काल स्वयं ईश्वर की रचनाएँ है जिसका तात्पर्य है कि ईश्वर देश एवं काल से भिन्न है क्योंकि रचयिता का रचना से भिन्न होना अनिवार्य है । अतः वह अपनी रचना में व्याप्त नहीं हो सकता । अतः उसकी सर्वव्यापी होने की अवधारणा अबोधगम्य है ।

४. ईश्वर को सर्वव्यापी मानने पर उपास्य व उपासक का भेद समाप्त हो जाता है क्योंकि यदि ईश्वर जगत के कण-कण में व्याप्त है तो वह भक्त में भी व्याप्त होगा । परिणामस्वरूप भक्त और ईश्वर में भिन्नता नहीं रह जाएगी । भिन्नता के अभाव में ईश्वर की उपासना असंभव हो जाएगी ।

५. ईश्वर की सर्वव्यापकता से स्वाभाविक रूप से यह अर्थ निकलता है कि वह विश्व के अशुभ में भी व्याप्त है और तब उसे अत्यन्त निकृष्ट एवं निदंनीय स्थानों पर घृणास्पद वस्तुओं में भी उपस्थित मानना पड़ेगा । जो कभी भी ईश्वरवादियों को स्वीकार नहीं होगा ।

ईश्वर को सर्वशक्तिमान व सर्वव्यापी होने के साथ-साथ सर्वज्ञ भी कहा गया । ईश्वर वह सत्ता है जिसे सम्पूर्ण जगत या सभी भौतिक वस्तुओं, पेड-पौधे तथा प्राणियों, भूत वर्तमान और भविष्य की समस्त घटनाओं का पूर्ण ज्ञान है । मनुष्य का ज्ञान सीमित है क्योंकि वह तर्कबुद्धि व ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जगत का ज्ञान प्राप्त करता है । इनका क्षेत्र अत्यन्त सीमित है इसके अतिरिक्त देश काल भी मानव ज्ञान को सीमित करते हैं और इसीलिए वह बहुत सारे तथ्यों से अनभिज्ञ है । वह अपने उपास्य में ज्ञान की पूर्णता को स्वीकार करता है क्योंकि ईश्वर के सन्दर्भ में देश काल व ज्ञानेन्द्रियों एवं तर्कबुद्धि की सीमाएँ निर्धारित नहीं की जा सकती । सम्पूर्ण ब्रह्मांड (जिनके अन्तर्गत देश काल आदि भी है) जब उसकी ही रचना है तो कोई भी ज्ञेय विषय उसकी चेतना की परिधि से परे नहीं हो सकता । अतः ईश्वर अनिवार्यतः सर्वज्ञ है ।

अन्य गुणों की भाँति भक्त जनों द्वारा ईश्वर को सर्वज्ञ मानने की अवधारणा के सम्बन्ध में भी कुछ दार्शनिक कठिनाईयाँ है :-

सबसे पहले इस विचार में और मानव में निहित संकल्प की स्वतंत्रता में सामंजस्य स्थापित नहीं किया जा सकता । जबकि ईश्वरवादी दार्शनिक मनुष्य में संकल्प की स्वतंत्रता के साथ ही साथ ईश्वर को सर्वज्ञ भी कहते हैं । ईश्वर को सर्वज्ञ कहने का अर्थ है उसे भूत और वर्तमान के साथ-साथ भविष्य की घटनाओं का भी ज्ञान

है, अर्थात मनुष्य भविष्य में क्या करेगा । इसका भी उसे पूर्वज्ञान है । लेकिन जब मनुष्य की नैतिक प्रक्रियाएं स्वतंत्र है वे पूर्व निश्चित नहीं है तो उनका पूर्वज्ञान कैसे संभव है इस संदर्भ में दो मत मिलते हैं ।

सन्त आगस्टाइन का कहना है कि ईश्वर को मानव की भावी क्रियाओं का पूर्वज्ञान रहता है लेकिन उससे मनुष्य की संकल्प की स्वतंत्रता नहीं बाधित होती । उनके मत का समर्थन फ्लू मैकी तथा मैक्कलोस्के भी करते हैं । ये विचारक कहते हैं जैसे कोई कुशल मनोवैज्ञानिक किसी व्यक्ति के मन का अध्ययन कर यह बता सकता है कि वह भविष्य में समान परिस्थितियां होने पर क्या निर्णय लेगा । उसी प्रकार ईश्वर तो मनुष्य के बारे में सम्पूर्ण ज्ञान रखता है । अतः उसे मानव की भावी प्रक्रियाओं का पूरा ज्ञान है । सन्त आगस्टाइन कहते हैं यह ठीक है कि ईश्वर पहले से जानता है कि मानव क्या करेगा और उसके पूर्वज्ञान में कही भी धोखा नहीं हो सकता लेकिन ईश्वर के इस पूर्वज्ञान के साथ भी मनुष्य में नैतिक विकल्पों में से किसी एक विकल्प को स्वतंत्र रीति से चुनने की शक्ति ज्यों की त्यों अक्षुण्ण रहती है ।

इसके विपरीत जोनाथन एडवर्डस, हेनरी बर्गसां सैमुअल अलैक्जेण्डर, बटोक्सी के अनुसार- स्वतंत्र प्रक्रिया का तात्पर्य ही यह है कि अभी तक घटित नहीं हुई और जो घटित नहीं हुआ हो उसका पूर्व ज्ञान कदापि संभव नहीं है । जिस प्रकार चित्रकार को चित्र के पूरा होने से पहले उसकी सजीवता का ज्ञान नहीं हो सकता उसी प्रकार मनुष्य की भावी क्रियाओं को ईश्वर घटित होने से पहले नहीं जान सकता । वटोक्सी कहते हैं ।

> यदि जॉन एक या अन्य विकल्प चयन करने के लिए स्वतन्त्र है तो ईश्वर जान के चयन करने तक यह नहीं जान सकता है कि जान ए चयन करेगा या बी ।'

इस प्रकार उसकी सर्वज्ञता के संदर्भ में दोनों पक्ष प्रर्याप्त आधार प्रदान करते हैं। अतः समस्या है इनके विरोधी मतों में संगति कैसे हो ? क्योंकि ईश्वर को सर्वज्ञ मानकर मनुष्य में संकल्प की स्वतंत्रता स्वीकार करना संभव नहीं है ।

ईश्वर नित्य है, ईश्वर की नित्यता के दो अर्थ हैं, प्रथम अर्थ में ईश्वर नित्य है यह कहने का अभिप्राय है कि वह शाश्वत अनश्वर अपरिर्वतनशील अनादि एवं अनन्त है ये विशेषताएँ उसे सांसारिक वस्तुओं से भिन्न सिद्ध करती हैं क्यों कि सांसारिक वस्तुएँ नश्वर एवं परविर्तनशील हैं उनकी उत्पत्ति एवं विनाश देश काल के अन्दर हा होता है अतः वे अनित्य हैं। ईश्वर समस्त ब्रह्मांड का मूल आधार है जो उत्पत्ति और विनाश से परे हैं ।

ईश्वर की नित्यता का दूसरा अर्थ उसका काल से परे होना अर्थात् कालातीत होना है । क्योंकि काल के अन्तर्गत मानकर उसे परिवर्तनरहित मानना असंगत हैं । इसके अतिरिक्त काल स्वयं ईश्वर की सृष्टि है अतः काल विषयक कोई अवधारणा ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या नहीं कर सकती । ईश्वर कालातीत है अतः वह काल एवं कालगत परिर्वतन से पूरी तरह अप्रभावित अनश्वर और अपिवर्तनशील है ।

ईश्वर को नित्य कहना भी सवर्था आपत्ति जनक है, प्रथमतः ईश्वर काल के अन्तर्गत रहकर परिर्वतन से परे नहीं रह सकता क्योंकि काल के अन्तर्गत रहने वाले सभी तत्व परिर्वतन व विकार से युक्त हैं । यदि वह काल के अन्तर्गत है तो परिर्वतनरहित नहीं हो सकता और यदि काल स्वयं उसकी रचना है तो वह कालाधीन नहीं हो सकता , ये दोनों एक साथ संभव नहीं है । ईश्वर को कालातीत मानने पर इस जगत से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जायेगा क्योंकि जगत काल के नियमों से संचालित है । लेकिन जगत से असम्बद्ध ईश्वर की अवधारणा ईश्वरवादी भक्त जनों को स्वीकार नहीं है क्योंकि ऐसा ईश्वर उनका उपास्य नहीं हो सकता और जगत से

असम्बद्ध ईश्वर से जगत में किसी प्रकार के सुधार की अपेक्षा नहीं की जा सकती है । अतः ईश्वर का उपास्य स्वरूप और उसको कालातीत सत्ता के अर्थ में नित्य मानना तर्क संगत नहीं है ।

संसार की समस्त वस्तुओं की अनिवार्यतः कुछ सीमाएँ होती है जिनके परिप्रेक्ष्य में ही उनके अस्तित्व की कल्पना की जा सकती है इसी कारण वह सीमित है, जबकि ईश्वर किसी भी प्रकार की सीमाओं में आबद्ध नहीं है अतः वह असीम और अपरिमित है । ईश्वर के अपरिमितता गुण के आधार पर ही पाल टिलिच उसके अस्तित्व की चर्चा को ही असंगत मानते हैं । उनके शब्दों में -'ईश्वर के अस्तित्व के विषय में प्रश्न न तो पूछा जा सकता है और न उसका उत्तर दिया जा सकता है । यदि यह प्रश्न पूछा जाता है तो यह उसके विषय में है जो अस्तित्व से ऊपर है (किसी के अस्तित्व की बात करना उसे सीमित मानना है) और इसीलिए उसका उत्तर नकारात्मक हो या सकारात्मक- अप्रत्यक्षतः ईश्वर के स्वरूप का निषेध करता है । ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना उतना ही निरीश्वरवादी है जितना उसके अस्तित्व को अस्वीकार करना ।ईश्वर की असीमितता का यह तात्पर्य भी है कि वह सभी दृष्टियों से पूर्ण अपने में पर्याप्त है । ईश्वर में कोई ऐसी कमी नहीं है जो उसे सीमित कर सके ।

ईश्वर की असीमता के सम्बन्ध में कहा जाता है कि मनुष्य के पास ज्ञान प्राप्ति का आधार अनुभव व तर्कबुद्धि है जिनसे वह सीमित वस्तुओं को ही जान पाता है अतः ईश्वर असीमित है इस कथन का कोई संज्ञानात्मक अर्थ नहीं हैं ।

ईश्वर में तत्वमीमांसीय गुणों के अतिरिक्त नैतिक गुणों को भी स्वीकार किया गया । अनेक ईश्वरवादी दार्शनिक व भक्त जन उसे निगुर्ण निराकार निर्विशेष व्यक्तित्व रहित ब्रह्म न मानकर सगुण साकार सविशेष और व्यक्तित्व सम्पन्न मानते

हैं जो विशिष्ट व्यक्तित्व से युक्त महान, पुरूष है और इस जगत का रचयिता पालनकर्ता और संहारक है । जिसमें समस्त सद्‌गुण जैसे प्रेम, शुभत्व, करूणा, परोपकार, न्याय, उदारता, क्षमाशीलता आदि असीमित मात्रा में हैं । वह अपने द्वारा रचित समस्त प्राणियों से निस्वार्थ प्रेम करता है । वह सभी प्रकार के दुर्गुणों एवं दोषों से परे पवित्र है वह परोपकारी तथा क्षमाशील है, वह कर्मानुसार मनुष्य को सुख दुख प्रदान करने वाला कर्मफलप्रदाता है । ऐसा ईश्वर ही भक्तों की उपासना का विषय हो सकता है निगुर्ण तथा व्यक्तित्वरहित ईश्वर नहीं । भक्तजन ईश्वर को उसकी नैतिक महानता के कारण भी उपास्य मानते हैं ।

ईश्वरवादी दार्शनिकों के लिए ईश्वर की इस मानवत्वारोपी अवधारणा को तर्कसंगत रूप से स्वीकार करना संभव नहीं है । क्योंकि वे ईश्वर को शरीररहित अभौतिक और मानवीय अनुभव ज्ञान और तर्कबुद्धि से परे मानते है । यदि ईश्वरवादी दार्शनिकों की इस मान्यता को स्वीकार किया जाए तो व्यक्तित्व सम्पन्न नैतिकता की दृष्टि से पूर्ण सत्ता के रूप में ईश्वर की कल्पना नहीं की जा सकती । शरीररहित और अभौतिक होते हुए भी ईश्वर प्रेममय, क्षमाशील अत्यन्त दयालु , परोपकारक, करूणामय पूर्ण शुभ और न्यायाशील, भक्तों की प्रार्थना सुनकर सहायता करने वाला कैसे हो सकता है ? इस समस्या के कारण ही जानहिक् और आई०एम० क्रौम्बी आदि ईश्वर की सत्ता को जानने का दावा मूर्खतापूर्ण कहते हैं । जान्‌हिक् कहते हैं-

> 'ईसाई धर्म शास्त्र में ईश्वर का वर्णन सर्व शक्तिमत्ता , सर्वव्यापकता, पूर्ण शुभत्व असीम प्रेम आदि विभिन्न अपरिमित गुणों द्वारा किया गया है जिनका हम अनुभव नहीं कर सकते । ये गुण मानवीय अनुभव के विषय नहीं हो सकते । —— कोई भी ऐसी सत्ता के साक्षात्कार का दावा नहीं कर सकता जिसे असीम सर्वशक्तिमान शाश्वत रचयिता के रूप में जाना जाता है केवल ईश्वर ही अपने अपरिमित स्वरूप को जानता है ।' (९)

इस प्रकार ईश्वर की मानवत्वारोपी अवधारणा युक्ति संगत नहीं है क्योंकि ईश्वर इन्द्रियातीत और मानवीय अनुभव से परे हैं अतः उसमें इन्द्रियों द्वारा ज्ञात गुणों की बात करना निरर्थक है ।

ईश्वर को शुभ कहने के लिए भी शुभता का कोई ऐसा मापदण्ड होना चाहिए जो ईश्वर पर आधारित न हो । लेकिन ईश्वर से पृथक शुभता का मापदण्ड मानने और न मानने दोनों ही स्थितियों में समस्या है । यदि ईश्वरवादी ईश्वर को शुभ कहते हैं तो उसका अर्थ है कि उनको ज्ञात है कि शुभता का क्या अर्थ है और वे यह भी स्वीकार करते हैं कि ईश्वर से परे शुभता को निर्धारित करने का कोई मापदण्ड हैं । लेकिन शुभता का मापदण्ड ईश्वर से परे स्वीकार करने पर ईश्वर को सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान और परम सत्ता नहीं कहा जा सकता । और यदि शुभता का कोई मापदण्ड स्वीकर नहीं किया जाता तो ईश्वर को शुभ कहने का क्या अर्थ है यह स्पष्ट नहीं हो सकता । इस प्रकार ईश्वरवादियों के द्वारा ईश्वर के शुभ गुण की भी सन्तोषप्रद व्याख्या नहीं हो पाती ।

मनुष्य ने अपने अनुभव के आधार पर सर्वशक्तिमत्ता , सर्वव्यापकता सर्वज्ञता, नित्यता, असीमता, क्षमाशीलता, करूणा, उदारता, न्यायशीलता , परोपकार आदि समस्त गुणों की अपरिमित मात्रा में कल्पना कर अपने उपास्य में उनको स्थित माना लेकिन ईश्वर के इन गुणों के अस्तित्व का कोई बौद्धिक एवं तर्कसंगत प्रमाण नहीं मिलता, यह समस्त गुण और ईश्वर मनुष्य की अपूर्ण और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उसकी अपनी कल्पना मात्र हैं ।

ईश्वरीय परिचर्चा में दूसरा महत्वपूर्ण विषय ईश्वर और विश्व रचना है । सभी ईश्वरवादी इस संसार को ईश्वर द्वारा रचित मानते हैं । कुछ विचारक ईश्वर को केवल निमित्त कारण के रूप में स्वीकार करते हैं उनके अनुसार जगत के निमार्ण के

लिए मूल तत्व शाश्वत व अविनाशी हैं इन्हीं तत्वों को संगठित और विघटित कर ईश्वर सृष्टि और संहार करता है । एक अन्य मत ईश्वर को निमित्त कारण के साथ ही उपादान कारण भी स्वीकार करता है और स्वीकार करता है कि ईश्वर अपनी शक्ति से विश्व को प्रकट करता है । तीसरा मत उन विचारकों का है जो यह मानते है कि ईश्वर ने सृष्टि की उत्पत्ति शून्य या अभाव से की है । इस संदर्भ में जान् हिक् का मत दृष्टव्य हैं - ' इस सिद्धान्त में रचना का अर्थ पहले से विद्यमान सामग्री को नया रूप प्रदान करने की अपेक्षा कही ,अधिक है (जैसा कि एक भवन निर्माता मकान वनाने के लिए अथवा एक मूर्तिकार मूर्ति बनाने के लिए करता है) इसका अर्थ है अभाव से रचना करना - अपनी इच्छा द्वारा ब्रह्मांड को तब अस्तित्व में लाना जब केवल ईश्वर ही था । '(१०)

विश्व रचना सम्वन्धी इन सभी सिद्धान्तों को स्वीकार करने पर दार्शनिक कठिनाईयाँ उत्पन्न होती है जैसे अभाव से उत्पत्ति का सिद्धान्त कारण कार्य के मूल प्राकृतिक नियम का उल्लघंन करता है जिसके अनुसार असत् से सत् की उत्पत्ति नही, हो सकती । इस कठिनाई का गेलोवें ने भी उल्लेख किया -

'अभाव से सृष्टि के इस विचार में कुछ व्याघात है ..... अभाव से किसी वस्तु की रचना के विचार में निश्चय ही कुछ असंगति विद्यमान है ..... वस्तुतः जब हम रचना करने की बात करते हैं तो हमारे लिए मानवीय क्रिया के क्षेत्र से प्राप्त शब्दों तथा साम्यानुमानों के प्रयोग को छोड़ देना लगभग अंसभव है । ये अनुभवात्मक विश्व के सम्वन्धों पर तो लागू होते हैं किन्तु ये इस बात का समुचित वर्णन नहीं कर सकते कि स्वयं इस विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई । '(११)

इसी प्रकार यह मानना कि ईश्वर स्वयं विश्व रूप में अभिव्यक्त होता है ईश्वर और जगत के भेद को समाप्त कर विश्व की स्वतंत्र सत्ता समाप्त कर देना है जिससे संकल्प की स्वतंत्रता एवं नैतिक मूल्यों के विकल्प की संभावनाएँ समाप्त हो जाती है ।

विश्व रचना में ईश्वर के प्रयोजन की व्याख्या में ईश्वरवादियों का कहना हैं कि वह किसी इच्छा की पूर्ति या आनन्द की प्राप्ति हेतु विश्व की रचना नहीं करता है क्योंकि वह पूर्ण और आप्तकाम है । उसने सृष्टि की रचना परोपकार वश अपने से इतर प्राणियों को सुखी करने के लिए की है । परोपकार सम्बन्धी यह व्याख्या उचित नहीं है क्योंकि विश्व रचना से पहले किसी जीव का अस्तित्व नहीं था जिसे सुखी करने के लिए ईश्वर ने विश्व रचना की हो । इसके अतिरिक्त यदि वह दया के वशीभूत हो रचना कर रहा था तो उसने संसार में अशुभ क्यों उत्पन्न किया । अतः विश्व रचना के द्वारा जीवों के प्रति परोपकार करना ईश्वर का प्रयोजन नहीं हो सकता । एक मत यह भी प्रस्तुत किया जाता है कि सम्पूर्ण विश्व ईश्वर की लीला है जिसका कोई प्रयोजन या उद्देश्य नहीं है । लेकिन इस सिद्धान्त में ईश्वर की लीला को निष्प्रयोजन मानने पर जगत को व्यवस्थित और सोद्देश्य नहीं माना जा सकता । इस प्रकार यदि ईश्वर को जगत का सृष्टा स्वीकार किया जाता है तो उसे अपरिवर्तनशील और पूर्ण नहीं कहा जा सकता । अतः ईश्वर के स्वरूप के साथ उसके रचयिता रूप का तर्कसंगत रूप में सामंजस्य उचित नहीं प्रतीत होता ।

इन आपत्तियों की उपेक्षा करते हुए भी ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को जगत का सृष्टा मानते हैं । और उससे जगत के सम्बन्ध को प्रकट करने के लिए विविध सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं । इस संदर्भ में तीन प्रमुख सिद्धान्त हैं :-

१. तटस्थेश्वरवाद
२. सर्वेश्वरवाद
३. ईश्वरवाद

तटस्थेश्वरवाद

यह सिद्धान्त ईश्वर को पूर्ण शाश्वत, असीम, सर्वशक्तिमान, निरपेक्ष और व्यक्तित्व सम्पन्न सत्ता के रूप में स्वीकार करता है । ईश्वर विश्व का निमित्तकारण है लेकिन उसे सृष्टि के लिए उपादान कारण की अपेक्षा नहीं है क्योंकि वह शून्य से सृष्टि करता है ।

ईश्वर पूर्ण और आप्तकाम है अतः सृष्टि करना उसकी आवश्यकता नहीं है वह अपने से भिन्न प्राणियों को सृष्टि के द्वारा अस्तित्व प्रदान कर सुखी बनाता है ।

सृष्टि के उपरान्त वह उससे पृथक अतीन्द्रिय लोक में चला जाता है । फिर वह सृष्टि प्रक्रिया में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता । इसीलिए यह विचारधारा ईश्वर को जगत का रचयिता मानती है संरक्षक व पालनकर्ता नहीं ।

सृष्टि के समय ही ईश्वर ने प्राकृतिक नियमों के रूप में जगत को पर्याप्त संचालन शक्ति प्रदान कर दी है जिससे यह बिना ईश्वर के स्वयं संचालित होता है । यह प्राकृतिक नियम शाश्वत है ।

इस जगत की रचना स्वयं ईश्वर द्वारा हुई है अतः इसके अव्यवस्थित और त्रुटिपूर्ण होने की संभावना अत्यन्त अल्प है । यदि कभी विश्व में बहुत अधिक अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है तो आपवादिक रूप में ईश्वर उसे व्यवस्थित करने के लिए विश्व प्रक्रिया में हस्तक्षेप करता है ।

यह सिद्धान्त सृष्टि को आदि रहित नहीं मानता बल्कि इसे किसी विशेष काल में निर्मित मानता है ।

ईश्वर विश्वातीत है । वह जगत में अर्न्तव्याप्त नहीं है । उसकी अतीन्द्रियता जड़ व चेतन किसी की भी कार्य प्रणाली में व्यवधान नहीं उत्पन्न करती । लेकिन इस स्थिति में विश्वातीत ईश्वर और मानव के बीच उपास्य उपासक का सम्बन्ध भी स्थापित नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर मानव से बहुत दूर उसके सुख दुःख से अप्रभावित उसके लिये अगम्य है ।

ईश्वर ने जड़ जगत के संचालन हेतु जैसे प्राकृतिक नियम प्रदान किये है वैसे ही चेतन आत्माओं को उसने संकल्प की स्वतंत्रता और स्वाभाविक प्रकाश प्रदान किया है जिससे मनुष्यों को अपने कर्तव्य का बोध रहता है और वह निरन्तर शुभ की ओर अग्रसर होता है ।

इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम उदाहरण हमें अरस्तू के दर्शन से प्राप्त होता है इसकों सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया चरबरी के हबर्ट ने । सुप्रसिद्ध विचारक वोल्टेयर, जॉन टोलैण्ड , मैथ्यूटिण्डल तथा थामस चब ने भी इसे स्वीकार किया । जे०एस०मिल०, न्यूटन, लैप्लास, डार्विन आदि वैज्ञानिकों ने भी इसका समर्थन किया इस सिद्धान्त में धर्म को श्रुति के स्थान पर तर्कबुद्धि पर आधारित करने का प्रयास किया गया जिसमें ईश्वरीय चमत्कार और अन्धविश्वास नहीं था ।

यह सिद्धान्त भी पूर्णतया दोषमुक्त नहीं कहा जा सकता । क्योंकि यह सिद्धान्त शून्य से सृष्टि को स्वीकार करता है जो असंभव है शून्य से शून्य की ही प्राप्ति हो सकती है । यदि शून्य से उत्पत्ति स्वीकार भी कर लिया जाय तो संसार में व्याप्त विविधता, व्यवस्था और प्रयोजन की व्याख्या असंभव है ।

ईश्वर की सृष्टि का उद्देश्य प्राणियों को सुखी बनाना भी तर्कसंगत नहीं है क्योंकि सृष्टि के पूर्व सांसारिक प्राणियों के अभाव में उनकों सुखी बनाने की कल्पना व्यावहारिक नहीं प्रतीत होती । और यदि इस उद्देश्य को स्वीकार भी कर लिया जाये तो संसार में व्याप्त अशुभ के समाधान के लिए ईश्वरवादियों ने समय-समय पर अनेक व्याख्यायें प्रस्तुत की । जैसे अशुभ के परिप्रेक्ष्य में ही शुभ का स्पष्टीकरण संभव हैं अत· नैतिकता के विकास के लिए शुभ आवश्यक है या अशुभ का कारण ईश्वर नहीं बल्कि मनुष्य को प्राप्त संकल्प की स्वतंत्रता है या अशुभ अयर्थाथ है - लेकिन यह सभी उत्तर स्वयं आलोचनायुक्त है अतः अशुभ की समस्या यथावत् शेष रह जाती है ।

इस सिद्रान्त में ईश्वर की अतीन्द्रियता से सम्बन्धित विचार पर भी आपत्ति की जाती है । सर्वप्रथम ईश्वर को पूर्णतः अतीन्द्रिय नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह संचालक नियमों (जिन्हें उसकी शक्ति का प्रतीक माना गया) के रूप में जगत में उपस्थित रहता है। फिर ईश्वर के द्वारा किसी काल विशेष में सृष्टि करना उसकी पूर्णता पर प्रश्नचिन्ह लगाता है ।इन तार्किक कठिनाइयों के अतिरिक्त यह सिद्धान्त ईश्वरोपासकों के लिए भी सन्तोषपद नहीं है क्योंकि ईश्वर विश्वातीत है अतः प्राणियों के सुख दुख से उदासीन है । ऐसे तटस्थ ईश्वर से किसी प्रकार की सहायता की अपेक्षा नहीं की जा सकती न ही उसके किसी कृत्य से अभिभूत हो उसकी पूजा अर्चना करते हुए भक्तजन अपने को समर्पित कर सकते हैं । इस प्रकार का ईश्वर एक निरपेक्ष बौद्धिक सत्ता मात्र रह जायेगी जिसका भक्तों के ईश्वर से कोई साम्य नहीं हो सकता ।

सर्वेश्वरवाद

ईश्वर और जगत के सम्बन्ध में दूसरी मुख्य विचारधारा सर्वेश्वरवाद है । धार्मिक विचारधारा के प्राथमिक चरण में ही मानव मन में एक सर्वव्यापी ईश्वरीय प्रकाश के सम्बन्ध में क्षीण सचैतन्यता परिलक्षित होती है । जैसे -जैसे विभिन्न देवी देवताओं के गुण तथा शक्ति में प्रचलित भेदों का अन्त होता है वैसे -वैसे मानव प्रकृति में सर्वेश्वरवाद के प्रति यह आस्था और गहरी हो जाती है ।

उपासना की पराकाष्ठा में भक्त को एक मात्र पारमार्थिक सत्ता ईश्वर की ही प्रतीत होती है, सब कुछ परमात्मा में है और सभी में परमात्मा है इस प्रकार की अनुभूति ही सर्वेश्वरवाद का सार है । यह पारमार्थिक सत्ता अनादि अनन्त और सर्वव्यापक है । सर्वेश्वरवाद को अंग्रेजी में पैनथीइज्म कहा जाता है इस का अर्थ है ईश्वर ही सब कुछ है और सब कुछ ईश्वर है । प्रो० फ्लिन्ट सर्वेश्वरवाद को परिभाषित करते हुए कहते हैं :-

'सर्वेश्वरवाद ऐसा सिद्धान्त है जिसके अनुसार सभी समीम वस्तुयें एक ही शाश्वत परमसत्ता के मात्र पहलू विकार या अवयव है । सभी भौतिक पदार्थ एवं मन आवश्यक रूप से एक विशेष असीम द्रव्य से उद्भव हुए हैं । यह एक निरपेक्ष द्रव्य सर्वपक्षीय सत्ता को ईश्वर की मंज्ञा देता है' (१२)।

तटेस्थेश्वरवाद के विपरीत यह विचाराधारा ईश्वर और जगत में अविच्छिन्न सम्वन्ध स्वीकार करती है । जिसके अनुसार ईश्वर जगत के कण-कण में व्याप्त है ईश्वर और जगत में भिन्नता की कल्पना नहीं की जा सकती ईश्वर जगत में पूर्णतः अर्न्तव्याप्त है जैसे दूध सफेदी से और सेब लालिमा से पृथक नहीं है दोनों में अनिवार्य व अभेद सम्बन्ध है उसी प्रकार विश्व और ईश्वर पृथक नहीं है । ईश्वर और विश्व के सम्वन्ध को व्यक्त करते हुए कहा गया-

> 'ईश्वर सर्वव्यापक है और विश्व में सर्वथा व्याप्त है उसकी
> विश्व से परे कहीं भी अतीन्द्रिय सत्ता नहीं है ।' (१३)

इस प्रकार विश्व का कण-कण ईश्वर पर आश्रित है विश्व को अपने अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर की आवश्यकता है और ईश्वर को भी स्वयं को

अभिव्यक्त करने के लिए विश्व की आवश्यकता है । विश्व की उत्पत्ति ईश्वर के लिए ऐच्छिक नहीं है ईश्वर का विश्व के रूप में प्रकट होना उसकी प्रकृति में ही निहित है। प्रो० फ्लिन्ट के अनुसार-

'सर्वेश्वरवाद में एकेश्वरवाद तथा नियतिवाद दोनों निहित है ।

यह विचारधारा ईश्वर को व्यक्तित्वरहित स्वीकार करती है । जिसमें संकल्प इच्छा आदि का अभाव है । जिससे उपकार व प्रेम की आशा रखना व्यर्थ है। इस विचारधारा का अन्य ईश्वरवादी विचारधाराओं से यही प्रमुख भेद है । पारम्परिक ईश्वरीय अवधारणा को न स्वीकार करने से सर्वेश्वरवादी समर्थकों को अनीश्वरवादी या ईश्वर निन्दक भी कहा गया । लेकिन स्पष्ट है सर्वेश्वरवादियों का मंतव्य ईश्वर की सत्ता का निषेध नहीं बल्कि उसे पारम्परिक रूप में न स्वीकार कर उससे भिन्न मत का प्रतिपादन करना था ।

इस सिद्धान्त के समर्थक भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों जगह प्राप्त होते रहे हैं। वैदिक काल में यद्यपि बहुदेवाद प्रचलित था लेकिन ऋग्वेद से एक ही ईश्वर को सर्वोच्च सत्ता मानने का सिद्धान्त भी प्राप्त होता है, ऋग्वेद के बाद उपनिषद् भगवद्गीता, शंकराचार्य व रामानुज ने भी सर्वेश्वरवाद का समर्थन किया । इन दार्शनिकों के अतिरिक्त कुछ भक्ति कालीन संत कवियों ने भी सर्वेश्वरवाद को स्वीकार किया ।

पाश्चात्य विचारक प्लोटिनस एवं स्पिनोजा भी मानते हैं कि ईश्वर ही एक मात्र परमसत्ता है अतः ईश्वर और जगत में कोई मूल भेद नहीं है । इसके अतिरिक्त परमतत्व में विश्वास करने वाले दार्शनिक हेगल एवं ब्रैडले इत्यादि भी ईश्वर से पृथक एवं स्वतंत्र जगत का अस्तित्व नहीं स्वीकार करते हैं ।

धर्म से सम्बन्धित रहस्यात्मकता जगत की विविधता के मूल में एक ही रहस्यमयी सत्ता को स्वीकार कर, रहस्यवादियों की इस मान्यता को कि धार्मिक विकास के लिए ईश्वर को जगत में अनिवार्यतः व्याप्त रहना आवश्यक है, स्वीकार कर वह अत्याधिक लोकप्रियता प्राप्त कर लेता है । रहस्यवादी विशिष्टताओं के साथ ही सर्वेश्वरवाद आधुनिक समय की माँग के अनुरूप ही ईश्वर और जगत के द्वैत को समाप्त कर एकता की स्थापना भी करता है । इन विशेषताओं के बाद भी इस सिद्धान्त को पूर्णतः सन्तोषप्रद नहीं कहा जा सकता -

सर्वप्रथम यह सिद्धान्त मनुष्य की धार्मिक मनोवृत्ति को सन्तुष्ट करने में सक्षम नहीं है । इसमें ईश्वर को व्यक्तित्व शून्य सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया जिसमें संकल्प इच्छा, विचार, दया , प्रेम, आदि का अभाव है । ऐसा ईश्वर भक्त की विपत्तियों का निराकरण नहीं कर सकता । साथ ही इन गुणों के अभाव में वह अपने भक्तों की उपासना का विषय नहीं हो सकता, भक्त ऐसे व्यक्तित्व शून्य ईश्वर के प्रति स्वयं को निर्भर कर कभी समर्पित नहीं होगा ।

उपासना के लिए ईश्वर तथा उपासक का भेद अनिवार्य है लेकिन सर्वेश्वरवाद ईश्वर सब कुछ है और सब कुछ ईश्वर है यह स्वीकार कर इस भेद को समाप्त कर देता है । जब ईश्वर और उपासक एक है तो उपासना का प्रश्न ही निरर्थक है क्योंकि ऐसी स्थिति में ईश्वर स्वयं अपनी ही उपासना करेगा । इस प्रकार यह भक्तजनों के लिए सन्तोषप्रद नहीं हो सकता । यह भक्त जनों की ईश्वर से एकाकारता की उत्कट अभिलाषा को भी अर्थहीन सिद्ध कर देती है क्योंकि जो हमेशा से स्वयं प्राप्त है उसकी प्राप्ति का प्रश्न ही कहाँ है । इसकी धर्म विरोधी मान्यताओं को लक्ष्य कर मैक्ग्रीगर ने कहा -

'सर्वेश्वरवाद धर्म नहीं अपितु ईश्वर सम्वन्धी दार्शनिक सिद्धान्त है ।'

सर्वेश्वरवाद की अन्य कठिनाई यह है कि यह सिद्धान्त चेतन सजीव प्राणियों एवं निर्जीव भौतिक वस्तुओं में कोई मूलभूत अन्तर नहीं स्वीकार करता । दोनों में ईश्वर व्याप्त है और दोनों के ही माध्यम से ईश्वर स्वयं को प्रकट कर रहा है । अतः दोनों में कोई भेद नहीं लेकिन अधिकांश दार्शनिक इस मत से असहमत है वे दोनों को ईश्वर की सृष्टि मानते हुए भी चेतना के स्तर पर उनमें भिन्नता स्वीकार करते हैं ।

इसके अतिरिक्त ईश्वर के कण-कण में व्याप्त कहने का अर्थ है कि वह अशुभ निकृष्ट वस्तुओं में भी व्याप्त है तब वह पूर्ण और कल्याणकारी नहीं है, ऐसी स्थिति में वह धार्मिक जगत में पूजा व श्रद्धा का पात्र भी नहीं हो सकता । फिर अशुभ में ईश्वर की व्याप्ति निराशा उत्पन्न करती है। ईश्वर नित्य और शाश्वत है अतः अशुभ भी नित्य और शाश्वत होगा अतः मनुष्य की वह आशा समाप्त हो जायेगी जिसके आधार पर वह कष्ट सहते हुए भी नैतिकतापरक जीवन जीता है कि एक न एक दिन ईश्वर अशुभ समाप्त करेगा और जगत में शुभ व नैतिकता का साम्राज्य होगा ।

यह सिद्धान्त नैतिकता के प्रमुख आधार संकल्प की स्वतंत्रता और नैतिक मूल्यों का निषेध करता है जब ईश्वर ही सब कुछ है और सब कुछ ईश्वर है व्यक्ति के समस्त कर्मो का उत्तरदायी भी वही है तव संकल्प की स्वतंत्रता , शुभ अशुभ का भेद नैतिक मूल्यों का महत्व सब व्यर्थ है । इनकी सार्थकता तभी संभव है जब मनुष्य ईश्वर से कुछ सीमा तक भिन्न और स्वतंत्र हो । यह सिद्धान्त नियतिवाद का समर्थन कर व्यवहार से विरोधी मत प्रस्तुत करता है हम नित्यप्रति के जीवन में शुभ, अशुभ, उचित अनुचित , नैतिक अनैतिक का भेद करते हैं इनके लिए पुरस्कार व दण्ड का भी प्राविधान है लेकिन सर्वेश्वरवाद को मानने पर यह सब निरर्थक है । प्रो० पिलन्ट ने उचित ही कहा है -'सर्वेश्वरवाद नैतिकता के आधार को ही समाप्त कर देता है ।'

इस सिद्धान्त को प्रकट करने वाली प्रमुख युक्ति'' ईश्वर सब कुछ है'' और सब कुछ ईश्वर है ' से भिन्न अर्थ निकलते हैं । ईश्वर सब कुछ है युक्ति के इस अंश को स्वीकार करने पर जगत की सत्ता भ्रमात्मक सिद्ध होगी जिससे मनुष्य उसके सम्बन्ध उसके समस्त कृत्य भी मिथ्या सिद्ध होगें ।ऐसी स्थिति में जब ईश्वर विषयक चिन्तक ही भ्रम पूर्ण सिद्ध हो गया तब उसका चिन्तन भी वास्तविक नहीं रह जाएगा । इस प्रकार धार्मिक भावना का विकास संभव नहीं होगा ।यदि युक्ति के दूसरे अंश को स्वीकार किया जाए तो विश्व की सत्ता वास्तविक होगी और इसी भौतिक सत्ता के आधार पर ईश्वर के स्वरूप का निर्धारण किया जायेगा जो भौतिक होगा । जबकि ईश्वर की सत्ता भौतिक नहीं वल्कि आध्यात्मिक हैं । अतः दोनों ही अंशों में ईश्वर और जगत की वास्तविक स्थिति नहीं प्रकट हो पाती ।

ईश्वरवाद

ईश्वर और जगत के सम्वन्ध को प्रकट करने वाला यह सिद्धान्त ईश्वरवाद के नाम से प्रसिद्ध है । शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार यह शब्द युनानी भाषा में प्रयुक्त 'थीओस' शब्द से निर्मित है । जिसका तात्पर्य ईश्वरवाद से है । इस अर्थ में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने वाली प्रत्येक विचारधारा 'ईश्वरवाद के अन्तर्गत समाविष्ट की जानी चाहिए किन्तु प्रस्तुत संदर्भ में थीज्म से हमारा तात्पर्य ईश्वर और जगत के सम्बन्ध को व्यक्त करने वाली विशिष्ट विधा से है ।प्रो० फिलन्ट ने ईश्वरवाद को परिभाषित करते हुए कहा -'जिसमें एक व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर अराधना का विषय रहता है वह ईश्वरवादी धर्म है ।'

यह सिद्धान्त तटस्थेश्वरवाद एवं सर्वेश्वरवाद की कुछ मान्यताओं को स्वीकार करता है और कुछ से असहमत होकर उनका खण्डन करता है ।

ईश्वरवाद तटस्थेश्वरवादियों की इस मान्यता को स्वीकार करता है कि ईश्वर विश्वातीत और सृष्टिकर्ता है । ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान असीम नित्य एवं पूर्ण है जो मानव बुद्धि एवं अनुभव से परे हैं , वह समस्त सीमित वस्तु से मूलतः भिन्न है अतः ईश्वर और जगत में पूर्ण तादात्म्य नहीं है । लेकिन ईश्वरवाद में जगत और ईश्वर में यह भेद स्वीकार करते हुए भी ईश्वर को जगत में अन्तर्वर्ती या कण-कण में विराजमान माना गया है । जगत पूर्णतः ईश्वर पर निर्भर है उसका ईश्वर से पृथक और स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है । इस प्रकार ईश्वरवादी ईश्वर को जगत से अतीत भी मानता है और अन्तर्व्याप्त भी । ईश्वरवाद के अनुसार ईश्वर व्यक्तित्व सम्पन्न सत्ता है जो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान सर्वव्यापक है वह जगत का निमित्त और उपादान दोनों कारण है वह विश्वव्यापी और विश्वातीत है । विश्वातीत होते हुये भी वह न तो अपने भक्तों से पूर्णतः उदासीन रहता है और न उसका भक्तों से पूर्णतः तादात्म्य है । वह अपने भक्तों से पूजा अर्चना या अन्य किसी माध्यम से आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित करता है वह स्वरचित प्राणियों से प्रेम करता है उनकी रक्षा एवं पोषण करता है । वह अपने भक्तों के कल्याण के लिए श्रेष्ठ गुणों से युक्त होकर जगत में अवतरित होता है । जैसे राम , श्रीकृष्ण , जीसस् क्राइसट ने अवतार ग्रहण कर अधोपतित समाज का उद्धार किया । ईश्वरवादियों की यह उक्ति की ईश्वर का व्यक्तित्व जीवन के यर्थाथ आदर्श मूल्यों के रूप में प्रकट होता है इसी अर्थ में सार्थक सिद्ध होती है ।

ईश्वर को व्यक्तित्व सम्पन्न सत्ता स्वीकार कर यह विचारधारा धार्मिक जन को सन्तोष प्रदान करने में सफल होती है । क्योंकि इसमें उपास्य उपासक का सम्बन्ध सहजता से स्थापित हो सकता है । उपासक ईश्वर के प्रति प्रेम निष्ठा त्याग व समर्पण की भावना रखता है और उपास्य में उपासक के प्रति करूणा, क्षमा, प्रेम निहित होता है। ईश्वर ने मनुष्य को इच्छा स्वातंत्रता प्रदान किया है अतः सत्कर्मों के द्वारा वह अपने जीवन को सर्वोत्कृष्ट आदर्श की ओर अग्रसर कर सकता है । इस प्रकार यह सिद्धान्त पूर्वोक्त दोनों सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हैं । प्रो० गेलोवे ईश्वरवाद के सम्बन्ध में कहते हैं-' तटस्थेश्वरवाद तथा सर्वेश्वरवाद में जो कुछ सत्य है उसे

सम्मिलित रूप में प्रस्तुत करते हुए ईश्वरवाद यह घोषणा करता है कि ईश्वर अन्तर्वर्ती और अतीत दोनों है....... ईश्वरवादी तटस्थेश्वरवाद के इस मत को तो स्वीकार करता है कि ईश्वर का जगत के साथ तादात्म्य नहीं है किन्तु वह इस बात को अस्वीकार करता है कि जगत ईश्वर से स्वतंत्र है ।....... दूसरी ओर ईश्वरवाद सर्वेश्वरवाद के कथनों में भी सुधार करता है और उन्हें उस रूप में प्रस्तुत करता है जिसकी आध्यात्मिक मूल्यों के साथ संगति स्थापित की जा सकती है । ' सब कुछ ईश्वर है 'सर्वेश्वरवादियों के इस कथन को ईश्वरवादी इस कथन में परिवर्तित कर देता है कि सब कुछ ईश्वर पर निर्भर है ।' यह कथन पहले कथन से बहुत भिन्न है ।.... इस प्रकार धार्मिक अनुभव से मानवीय तथा ईश्वरीय पक्षों को समुचित मान्यता प्राप्त हो जाती है । (१४)'

गैलोवे के अतिरिक्त इस सिद्धान्त को मानने वाले विचारक ईसाई धर्म की ईश्वर विषयक अवधारणा को स्वीकार करने वाले एम्वाइनस, आगसटाइन, देकार्त, वर्कले, प्रींगंल पैटिसन, सोरले जेम्सवार्ड , जॉन हिक्, डेविड एल्टन ट्रूब्लड्, एच०एच० फारमर आदि है । भारतीय दर्शन में वेद उपनिषद गीता में इस सिद्धान्त का पूर्ण प्रकाशन हुआ । इसके अतिरिक्त रामानुज तथा अन्य वैष्णव दार्शनिक निम्बार्क, वल्लभाचार्य आदि भी इसी सिद्धान्त को स्वीकार करते है ।

प्रथम दृष्टि में ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वरवाद तटस्थेश्वरवाद व सर्वेश्वरवाद की असंगततओं से मुक्त आलोचना रहित सिद्धान्त प्रस्तुत करता है किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है इस सिद्धान्त में भी अनेक दोष हैं -

सर्वप्रथम यह सिद्धान्त ईश्वर को विश्वव्यापी और विश्वातीत दोनों स्वीकार करता है जिससे स्वतो व्याघात उत्पन्न होता है । यदि वह विश्वव्यापी है तो विश्वातीत नहीं हो सकता और यदि विश्वातीत है तो विश्वव्यापी नहीं हो सकता ।

इसके अतिरिक्त ईश्वर को व्यक्तित्वसम्पन्न और विविध तत्वमीमांसीय और नैतिक गुणों से युक्त सत्ता स्वीकार करने पर व्यक्तित्वसम्पन्नता तथा गुणों से सम्बन्धित विभिन्न दोष भी इस सिद्धान्त में शामिल हो जाते हैं । इस प्रकार अन्य दोनों सिद्धान्तों की ही भाँति यह सिद्धान्त भी ईश्वर और जगत के सम्बन्ध को सन्तोषजनक रूप में नहीं प्रकट कर पाता ।

अब तक ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर की मानवत्वारोपी अवधारणा के आधार पर ईश्वर और विश्व के सम्बन्ध की व्याख्या कर रहे थे । लेकिन इस अवधारणा में कठिनाई उत्पन्न होने के फलस्वरूप कुछ अन्य विचार ईश्वर को निराकार, निर्विशेष, निगुर्ण तथा निर्वैयक्तिक सत्ता स्वीकार कर ईश्वर की निरपेक्ष अवधारणा का समर्थन करते हैं । इस प्रकार की अवधारणा को स्वीकार करने वाले प्रमुख विचारक भारतीय दार्शनिक शंकराचार्य, पाश्चात्य विचारक शैलिगं, हेगल, ग्रीन ब्रैडले आदि है ।

शंकराचार्य के अनुसार एक मात्र सत्ता ब्रह्म की है जो निगुर्ण निराकार तथा निर्विशेष एवं पारमार्थिक सत्ता है । ईश्वर जीव तथा जगत पारमार्थिक दृष्टि से यर्थाथ न होकर माया या अविद्या से उत्पन्न मिथ्या प्रतीति मात्र है , जिनकी कोई पृथक और स्वतंत्र सत्ता नहीं है । जगत की समस्त वस्तुएँ अनित्य एवं परिर्वतनशील है जिनका अधिष्ठान ,शाश्वत और पूर्ण चैतन्य ब्रह्म हैं ।

धार्मिक चेतना एवं मानव के बौद्धिक विकास के साथ ही साथ अनेकेश्वरवादी और विकल्पेश्वरवादी ईश्वर विषयक प्राचीन मान्यताएँ विलुप्त हों गई । वर्तमान समय में दार्शनिकगण ईश्वर के पक्ष में अपने विचार प्रस्तुत कर रहे हो या विपक्ष में, अध्ययन विषय के रूप में एकेश्वरवादी ईश्वर अवधारणा को ग्रहण करते हैं । इसी एकेश्वरवादी विचार के आध्यात्मिक , असीम, स्वयंभू, सृष्टिकर्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए परम्परा से निम्न युक्तियाँ प्रतिपादित की गई–

१. प्रत्यय सत्ता युक्ति
२. विश्वमूलक युक्ति
३. प्रयोजनमूलक युक्ति
४. नीतिमूलक युक्ति

सन्दर्भ

१. मैकग्रेगर, इन्ट्रोडक्शन टू रिलिजियस फिलॉसॉफी पृ० ५२
२. एटकिन्सन ली, दि ग्राउन्ड वर्क ऑफ दि फिलॉसॉफी आफ रिलिजन
३. राधाकृष्णन एस० भारतीय दर्शन पृ० ९१
४. मैक्डोनल - वैदिक माइथॉलजी पृ० १६-१७
५. ऋग्वेद अध्याय २.१.३
६. मैकग्रेगर. जी.इन्ट्रोडक्शन टू रिलिजियस फिलॉसॉफी पृ० ५३ मैक्मिलन एन्ड क०लि०
७. बटॉक्सी.पो.ए. इन्ट्रोडक्शन टू दि फिलॉसॉफी आर्फ रिलिजियन पृ० ४५
८. थामसन.एस.एम.ए. मार्डन फिलॉसॉफी ऑफ रिलिजन
९. हिक जॉन - थियोलॉजी एन्ड वैरिफिकेशन. बेसिल मिचल द्वारा संपादित, दि फिलॉसॉफी ऑफ रिलिजन में सर्कलित पृ० ६८-६९
१०. हिक जॉन : फिलॉसॉफी ऑफ रिलिजन पृ० ८
११. गैलोवे जे. दि फिलॉसॉफी ऑफ रिलिजन पृ० ४७०
१२. फ्लिन्ट : एन्टी थीस्टिक थ्योरीज पृ० ३३६
१३. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एन्ड एथिक्स पृ० ६१३
१४. गैलोवे. जे. दि. फिलॉसॉफी ऑफ रिलिजन पृ० ४६८

तृतीय अध्याय

ईश्वर अस्तित्व को प्रतिपादित करने वाले युक्तियों का अध्ययन

३.१ प्रत्यय-सत्ता युक्ति

ईश्वर के अस्तित्व को तर्क द्वारा सिद्ध करने के प्रयास में प्रतिपादित समस्त पारम्परिक युक्तियों में प्रत्यय सत्ता युक्ति सर्वाधिक गूढ़ है । अपनी जटिलता व गहनता के कारण यह दार्शनिक विवाद के विषय रूप में दार्शनिकों के आर्कषण का केन्द्र रही है । इस युक्ति के सम्बन्ध में दो प्रकार की मान्यताएँ रही हैं । दार्शनिकों का एक वर्ग इस तर्क के प्रति अनास्था प्रकट करते हुये इसे दार्शनिकों के हाथ की सफाई मानता है जबकि दूसरा वर्ग इसे सर्वाधिक गहन तथा ईश्वर अस्तित्व के लिए निश्चित प्रमाण करने वाला तर्क मानता है ।

इस युक्ति की विशेषता यह है कि जहाँ अन्य युक्तियाँ ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए किसी न किसी स्तर पर अनुभव का सहारा लेती है वहीं यह युक्ति शुद्ध प्रागनुभविक स्तर पर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास करती है । यह तर्क ईश्वर को सर्वोच्च या पूर्णतिपूर्ण सत्ता के रूप में कल्पित कर उस पूर्णतिपूर्ण तत्व के विश्लेषण से प्रारम्भ होता है ।

पाश्चात्य दार्शनिक इतिहास में इस युक्ति के अनुरूप आशय ग्रहण कर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का सर्वप्रथम प्रयास प्लेटो ने किया था । प्लेटो के अनुसार प्रत्यय और सत्ता में अवियोज्य सम्बन्ध है । प्रत्यय बिम्ब है जगत के समस्त पदार्थ इसी बिम्ब के प्रतिबिम्ब मात्र है । प्रत्ययों की अनेकता सर्वोच्च प्रत्यय जिसे प्लेटो ने शुभ का प्रत्यय कहा, में विलीन हो जाती है । शुभ के प्रत्यय को प्लेटो ने सिम्पोजियम में परम सौन्दर्य, फाड्स में परमसत् और रिपब्लिक में शिवतत्व कहा है । प्लेटो ने कहा प्रत्यय के अभाव में अस्तित्व या सत्ता की कल्पना ही नहीं की जा सकती अतः ईश्वर प्रत्यय में ईश्वर सत्ता भी निहित है । इस तर्क को प्रमाणित और परिष्कृत रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय मध्ययुगीन दार्शनिक संत एन्सेल्म को है । (१) किन्तु आगस्टाइन के ईश्वर विषयक विचारों के आधार पर यह स्वीकार कर लेना असंगत नहीं होगा कि इस तर्क की पृष्ठभूमि आगस्टाइन की कृति डिलिवेरोआरबिटरों में ही तैयार हो गई थी जिसमें आगस्टाइन ने ईश्वर को परिभाषित करते हुए कहा- जिससे महत्तर वस्तु नहीं है । आगस्टाइन के ईश्वर विषयक विचार संक्षेप में इस प्रकार है -

आपने अपनी ओर से यह माना है कि यदि मै मस्तिष्क से किसी उच्चतर सत्ता को प्रदर्शित करने में सफल हो जाऊँ तो आप यह स्वीकार कर लेगें कि यह सत्ता ईश्वर है । मैनें आपकी बात स्वीकार की और कहा यदि मैं प्रमाणित कर पाऊँ कि यदि बुद्धि से अधिक श्रेष्ठ कोई सत्ता है तो वह ईश्वर है और यदि नहीं है तो सत्य यह होगा कि बुद्धि स्वंय ईश्वर है जिससे महत्तर कोई अन्य वस्तु नही है) अतः इस प्रकार की सत्ता हो या न हो आप इस तथ्य से इन्कार नही कर सकते कि ईश्वर का अस्तित्व है ' (२) ।

आगस्टाइन के विचारों द्वारा केवल इतना ही सिद्ध होता है कि ईश्वर को सर्वोच्च सत्ता मानकर उसके अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास एन्सेल्म से पहले आगस्टाइन ने भी किया था किन्तु केवल इसी के आधार पर इसे आगस्टाइन के तर्क की पुनरावृत्ति नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस आशय को तर्क रूप में प्रतिपादित करने का सर्वप्रथम सफल प्रयास एन्सेल्म ने ही किया था । अतःएन्सेल्म का तर्क आगस्टाइन के तर्क की पुनरावृत्ति न होकर इस तर्क की सर्वाधिक प्रमाणिक व परिष्कृत अभिव्यक्ति है ।

सन्त एन्सेलम (१०३३-११०९)

विशुद्ध ईश्वरवादी कैन्टबरी के मठाधीश सन्त एन्सेलम के ईश्वर विषयक विचार उनकी प्रसिद्ध कृति प्रोलोजियन से प्राप्त होते हैं । तर्क के प्रथम स्तर पर वे ईश्वर शब्द के अभिप्राय को व्यक्त करते हुए कहते हैं - वह सत्ता जिससे मह्त्ततर सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती ।'एन्सेलम के तर्क के सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि महत्तर सत्ता की कल्पना और महत्तर सत्ता का बाह्य जगत में अस्तित्ववान होना दोनो परस्पर पृथक हैं । इसलिए एन्सलन्म उपरोक्त वर्णित महत्तत्म सत्ता का अस्तित्व है यह सिद्ध करने की अपेक्षा यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि उससे महत्त्म सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती ।

एन्सेलम कहता है - '' ईश्वर के उपरोक्त अभिप्राय को एक नास्तिक भी समझता है और इस अभिप्राय को समझकर जब वह कहता है कि ईश्वर नहीं है तो वह अपने कथन में आत्मविरोध की स्थिति उत्पन्न कर रहा है, क्योंकि जब वह ईश्वर का निषेध करता है तो स्पष्ट है कि ईश्वर की स्पष्ट धारणा उसके मन में हैं अन्यथा यह निषेध किसका कर रहा है ? यदि उसके मस्तिष्क में ईश्वर का अस्तित्व है तो वह निषेध ईश्वर प्रत्यय का न करके बाह्य जगत में ईश्वर की वस्तुगत सत्ता का निषेध कर रहा है । अपने तर्क के विस्तारण में एन्सलम कहते हैं - किसी वस्तु का मन के साथ-साथ वास्तविकता में भी अस्तित्व मानना उसकी अधिक महानता का सूचक है '(३) अतः वह जिसका अस्तित्व केवल मन में है वह वस्तु हो सकती जिससे महानतम् वस्तु की कल्पना नही की जा सकती । इसका अर्थ हुआ कि कि यदि हम महानतम् वस्तु की कल्पना करते हैं तो उसका अस्तित्व केवल मन में नहीं हो सकता क्योंकि फिर उससे अधिक महान वस्तु वह कल्पित होगी जिसका अस्तित्व मन के साथ-साथ वास्तविकता में भी हो । अतः यह कहना कि ईश्वर नहीं है यह कहने के समान है कि महानतम् वस्तु महान नही है और यह आत्मविरोधी कथन है । इस आत्माविरोध कथन से बचने का विकल्प यही है कि उस महानतम् सत्ता का जिससे महान् सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती अर्थात् ईश्वर का मन के साथ-साथ वास्तविकता में भी अस्तित्व है ।

रेने देकार्त(१५५६-१६५०)

आधुनिक दर्शन के जनक महान दार्शनिक तथा गणितज्ञ देकार्त ने भी ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए प्रत्यय सत्ता युक्ति को प्रस्तुत किया । किन्तु जहाँ एन्सल्म ने ईश्वर को महानतम् सत्ता के रूप में ग्रहण कर अपने तर्क का प्रारम्भ किया वही देकार्त ईश्वर को ' पूर्णतम सत्ता के रूप में ग्रहण करते हैं । पूर्णता से दो प्रकार की पूर्णताओं का अभिप्राय है (१) तत्वमीमांसीय पूर्णता (२) नैतिक पूर्णता । जहाँ एन्सल्म ईश्वर की सत्ता महानतम् कल्पित सत्ता के रूप में सिद्ध करने का प्रयास करते हैं वही

देकार्त ईश्वर के अनिवार्य व वास्तविक अस्तित्व को सिद्ध करने का उद्देश्य रखते हैं । एन्सलम आगस्टाइन के धर्म ग्रन्थों पर आधारित विश्वास के सिद्धान्त को उदाहरण द्वारा बुद्धि पर आधारित करना चाहता है किन्तु देकार्त इसके विपरीत ईश्वर की सत्ता को विशुद्ध दार्शनिकता के स्तर पर प्रमाणित करना चाहता है । ईश्वर स्पष्टता और असंदिग्धता इन दो साधनों द्वारा बुद्धि से अनिवार्य रूप में निगमित होता है ।

देकार्त ईश्वर को पूर्णातिपूर्ण तत्व के रूप में परिभाषित करता है और कहता है अपूर्ण वस्तुओं का विचार वस्तुओं के संभावित अस्तित्व को व्यक्त करता हैं लेकिन पूर्णतम वस्तुओं का विचार उसकी अनिवार्य संभावना को व्यक्त करता है । अतः ईश्वर की पूर्णता में अस्तित्व अनिवार्य रूप में शामिल हैं । स्पष्ट है कि पूर्णता यदि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान शुभ आदि प्रशंसनीय गुणों से युक्त होते हुए भी अस्तित्ववान नहीं है तो वह उस तत्व की तुलना में कम पूर्ण होगा जिसमें उपरोक्त गुणों के साथ-साथ अस्तित्ववान होने का भी गुण है । अतः ईश्वर का वास्तविक अस्तित्व आवश्यक है । क्योंकि पूर्णतम सत्ता का अनिवार्य गुण वास्तविक अस्तित्व है । अपने तर्क के अगले चरण में वह ईश्वर के प्रत्यय से ईश्वर के वास्तविक अस्तित्व को अभिन्न मानता है वह कहता है जिस प्रकार त्रिभुज के प्रत्यय में तीन भुजाओं और अन्तःकोणों के योग में दो समकोण का अनिवार्य अस्तित्व है या वृत्त के समस्त अंशों की दूरी वृत्त के केन्द्र से अनिवार्यतः समान है उसी प्रकार ईश्वर के पूर्णातिपूर्ण प्रत्यय में ईश्वर का वास्तविक अस्तित्व अनिवार्य रूप से विद्यमान है लेकिन उपरोक्त गणित की मान्यताएँ त्रिभुज या वृत्त के वास्तविक अस्तित्व को नहीं प्रकट करती जबकि ईश्वर का प्रत्यय ईश्वर के वास्तविक अस्तित्व को प्रकट करता है । जिस प्रकार हम बिना घाटी के पर्वत की परिकल्पना नहीं कर सकते उसी प्रकार हम बिना अस्तित्व के ईश्वर की परिकल्पना नही कर सकते । अस्तित्व के बिना ईश्वर की परिकल्पना की असंभावना सिद्ध करती है कि ईश्वर का अस्तित्व ईश्वर से अपृथक है परिणामतः ईश्वर का वास्तविक अस्तित्व है । (४)

आलोचना

मार्मुतिअर के मठाधीश गोनिलो जो स्वयं ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते थे सर्वप्रथम एन्सल्म के तर्क को अप्रमाणित मानकर बौद्धिकता के प्रति अपनी निष्ठा को प्रदर्शित करते हुए उसके खंडन के लिए तत्पर हुए । अपनी कृति ''बिहाफ आफ दि फूल'' में वह एन्सेलम के तर्क के प्रति मुख्यतः दो आपत्ति प्रकट करते हैं -

सर्वप्रथम वह एन्सलम के इस तर्क पर कि वस्तुओं के अभिप्राय या उनकी अर्थवत्ता का ज्ञान उनके अस्तित्व को सिद्ध करता है - पर आघात करते हैं । यदि हम उन्हीं वस्तुओं के अभिप्राय से अवगत होते हैं जिनसे हम आनुभविक स्तर पर अवगत या सुपरिचित है तो ईश्वर की सत्ता का अनुभव भी आनुभविक जगत में अन्य वस्तुओं के समान ही होना चाहिए । क्योंकि हम ईश्वर शब्द के एवं जिससे महत्तर की कल्पना नहीं की जा सकती के अभिप्राय से भली भाँति अवगत हैं । किन्तु हम इस प्रत्यय के अनुरूप सत्ता को आनुभविक स्तर पर नही सिद्ध कर सकते क्योंकि ईश्वर की सत्ता अतीन्द्रिय है । इस प्रकार यदि अभिप्राय से एन्सलम का तात्पर्य वस्त्वर्थ (वास्तविक अस्तित्व) है तो नराश्व, चुड़ैल , परी और प्रेत इत्यादि सभी का एक ही अर्थ शून्य होता है किन्तु हम देखते है कि इनका वस्त्वर्थ नही है, उपरोक्त प्रत्येक पद का अभिप्राय विशेषताओं के अलग - अलग समूह से है जबकि इन विशेषताओं को धारण करने वाली कोई वास्तविक सत्ता नहीं है इससे यह सिद्ध होता है कि अभिप्राय व वस्तवर्थ दोनों एक नहीं है ।

द्वितीय स्तर पर गैनिलों एन्सलम की इस मान्यता का कि उन्ही वस्तुओं का प्रत्यय हमारे मन में है जिनका वास्तविक अस्तित्व है खंडन करते हैं क्योंकि प्रत्यय से वास्तविक अस्तित्व की सिद्धि संभव नहीं है । उदाहरण के लिए हमारे मस्तिष्क में एक पूर्ण द्वीप का प्रत्यय है जिसके आधार पर हम कहते हैं कि वह एक पूर्ण द्वीप है क्योंकि वह आदर्श

तापमान, जलवायु प्राकृतिक संपदा वाला द्वीप है । किन्तु इस परिभाषा के अनुरूप प्रत्यय से यह नहीं सिद्ध होता है कि द्वीप वस्तुतः अस्तित्ववान है । हमारा मस्तिष्क विचित्र वस्तुओं के प्रत्यय से परिपूर्ण है किन्तु उसके अनुरूप वस्तुओ का बाह्य जगत में अस्तित्व नहीं है ।(५)

इस प्रकार प्रत्यय सत्ता युक्ति का खंडन करते हुए गैनिलो इस तर्क को प्रस्तुत करने वाले तथा इसका समर्थन करने वाले दोनों की आलोचना करते हैं ।

गोनिलो की आपत्ति का प्रत्युत्तर प्रस्तुत करते हुए एन्सलम अपने तर्क द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि ईश्वर की सत्ता उसके अभिप्राय की ज्ञेयता से सिद्ध होती है । एन्सलम कहते है यदि गौनिलो के मन में ईश्वर का अस्तित्व न होता तो वह ईश्वर शब्द और जिससे महत्तर की कल्पना नहीं की जा सकती के अभिप्राय को न समझता । इन प्रत्ययों के अभिप्राय की अनभिज्ञता से वह तर्क को भी समझने में सक्षम नहीं होता । क्योंकि गैनिलो इस तर्क का खंडन करने के लिए तत्पर है यदि निषेधकर्ता के मन में निषेध के विषय की स्पष्ट अवधारणा न हो तो वह निषेध किसका करेगा अतः स्पष्ट है कि गौनिलो के मन में ईश्वर की स्पष्ट अवधारणा है अतः सिद्ध होता है कि ईश्वर का अस्तित्व है ।

इसके अतिरिक्त एन्सलम कहते है क्षीणतर से महत्तर की ओर बढ़ते हुये इस प्रत्यय की कल्पना करना कि वह जिससे महत्तर की कल्पना नहीं की जा सकती साधारण नही है । इस प्रत्यय के निमार्ण की प्रक्रिया में पहले जिसका प्रारम्भ है और जिसका प्रारम्भ नही है, जिसका प्रारम्भ है किन्तु अन्त नही है, और तब जिसका न तो प्रारम्भ है और न अन्त है की अवधारणा करनी पड़ती है जिससे अन्त में निर्विकार व अपरिवर्तनीय का प्रत्यय निर्मित होता है । उसका यह अदृश्य व निर्विकार रूप धर्मग्रन्थों में वर्णित उसके सृष्टिकर्ता रूप से सामंजस्य नहीं रखता । क्योंकि ईश्वर क्या है इसे प्रत्ययों द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता । ईश्वर अकाल्पनिक है किन्तु उसकी काल्पनिकता भी काल्पनिक है ।

जिस प्रकार कोई अनुभव अनिर्वचनीय हो सकता है किन्तु हम बता सकते है कि अनिर्वचनीयता का अभिप्राय क्या है उसी प्रकार असीमता क्या है इसे हम नहीं जान सकते किन्तु असीमता के प्रत्यय को निश्चित रूप से समझ सकते है अतः ईश्वर कल्पनातीत है । इस वाक्य के अभिप्राय को हम अच्छी तरह समझ सकते हैं ।

गौनिलो द्वारा प्रस्तुत दूसरी आपत्ति के प्रत्युत्तर में एन्सलम कहते हैं पूर्ण द्वीप एकश्रृंग या पूर्ण आदमी के प्रत्यय के प्रति यदि गौनिलों की आपत्ति प्रस्तुत की जाए तो वह उचित हो सकती है क्योंकि इन सभी वस्तुओं के प्रत्यय से अनिवार्यतः किसी का भी अस्तित्व निगमित नहीं होता । क्योंकि इनमे से किसी भी प्रत्यय की परिभाषा में उसका अस्तित्व शामिल नहीं है । उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति पूर्ण द्वीप की परिभाषा करें कि जो पूरी तरह पानी से घिरा हो, इस परिभाषा में ऐसा कुछ नहीं है जिससे यह सिद्ध होता हो कि ऐसा द्वीप अनिवार्यत· अस्तित्ववान है । इसी प्रकार एकश्रृंग में पूर्णता का प्रत्यय जोड़ दिया जाए तो भी उसमें अस्तित्ववान होने का गुण नहीं जुड़ जाएगा जबकि उसके उचित गुणों के वर्णन द्वारा जैसे उसकी नुकीली सींग और सफेद खाल आदि से व्यक्ति उसके अनस्तित्व की कल्पना उतनी ही आसानी से कर सकता है जितनी आसानी से उन वस्तुओं की जिनका अस्तित्व नहीं है । एन्सलम अपने तर्क में कहता है कि अनस्तित्व की कल्पना अपूर्ण वस्तुओं के बारे में संभव है किन्तु ईश्वर पूर्णद्वीप, एकश्रृंग और मनुष्य से पृथक है इसलिए उसके प्रत्यय में अस्तित्व अनिवार्यतः निहीत है । द्वीप एकश्रृंग इत्यादि को दैदीप्यमान या रमणीय कहा जा सकता है किन्तु उनके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह जिससे महत्तर की कल्पना नहीं की जा सकती । इसी प्रकार का विचार देकार्त का भी था इसलिए उन्होने कहा था - निश्चित पूर्णताओं से युक्त तत्व तथा सभी पूर्णताओं से पूर्ण या पूर्णातिपूर्ण तत्व परस्पर पृथक हैं । एन्सलम यह भी कहते हैं कि तर्क में यह महत्वपूर्ण नहीं है कि उस तत्व को जिससे महत्तर की कल्पना नहीं की जा सकती है क्या नाम देते है । नाम की निरर्थकता प्रदर्शित करते हुए एन्सलम कहते है यदि गोनिलो ने जिस द्वीप का उदाहरण प्रस्तुत किया है वह ऐसी सत्ता हो जिससे महानतम की कल्पना नहीं की जा सकती तो उसका अस्तित्व भी है । (६)

ईश्वरवादी होते हुए भी सन्त थामस एक्वीनस (१२२५-१२७४) ने एन्सलम के तर्क के प्रति आपत्ति प्रकट की । यद्यपि दोनों ही ईश्वरवादी थे किन्तु दोनों ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति भिन्न -भिन्न आधार पर स्वीकार करते थे । एन्सलम बुद्धिवादी थे जो प्लेटों की परम्पराओं का अनुसरण कर रहे थे जबकि एक्वीनस इन्द्रियानुभववाद का आधार ग्रहण कर अरस्तू का समर्थन कर रहे थे ।एन्सलम का कहना था कि ज्ञान प्रागनुभविक है जो निश्चित रूप में पहले से ही हमारी आत्मा में विद्यमान रहता है जबकि एक्वीनस का कहना था कि हम जो कुछ भी जानते है उसका एकमात्र आधार हमारे ऐद्रिक अनुभव है । एक्वीनस के अनुसार - ऐसा कुछ भी हमारी बुद्धि में नही है जो पहले अनुभव में नही था। इसी मान्यता को स्वीकार कर उन्होने ईश्वर अस्तित्व के ज्ञान को आनुभविक स्तर पर सिद्ध किया था ।

थामस एक्वीनस के अनुसार समस्त सृजनात्मक वस्तुओं के सार को उनके अस्तित्व से अलग किया जा सकता है या तथ्यात्मक कृतियों से उनके अस्तित्व को निगमित किया जा सकता है । जैसे मेज का सार उसके सार व अस्तित्व की समग्रता से आसानी से पृथक किया जा सकता है किन्तु ईश्वर स्वंय सिद्ध और अविभाज्य है अतः उसका सार व अस्तित्व अभिन्न होना चाहिए । अतः ईश्वर अस्तित्व को उसके सार से पृथक नही किया जा सकता ।

थामस एक्वीनस की इस मान्यता को कि ईश्वर स्वतः प्रमाणित है निर्विवाद रूप में नहीं स्वीकर किया गया और कहा गया कि ईश्वर स्वतः प्रमाणित नहीं है क्योंकि ईश्वर को हम परोक्षतः और अपूर्ण रूप से ही जान सकते है और उसको जानने के लिए भी हम उसी के द्वारा रचित प्रकृति को साधन रूप में ग्रहण करते हैं ।पंचज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान के अतिरिक्त वस्तुतः ईश्वर कैसा है हम नहीं जान सकते । हम केवल उतना ही जान सकते है जितना यह आनुभविक रूप में परिलक्षित होता है । अपने तर्क के समर्थन में यह दार्शनिक गण यह साम्यानुमान प्रस्तुत करते हैं - यह स्पष्ट रूप से स्वतः सिद्ध है कि सम्पूर्णता अपने अंश से महान् है अतः यह जगत ऐसे किसी व्यक्ति के लिए स्वतः

सिद्ध नहीं है जो सम्पूर्णता या अंशों की कल्पना करने में असमर्थ है । यही स्थिति ईश्वर विषयक विश्वास में भी है, ईश्वर का अस्तित्व अपने आप में स्वतः सिद्ध है किन्तु हम लोगों के लिए स्वतः सिद्ध नहीं है क्योकि हम लोग ईश्वरीय सत्ता को उसके वास्तविक रूप में ग्रहण करने में असमर्थ हैं और यदि हम ईश्वर के सार को नहीं जान सकते तो कैसे कह सकते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व उसके सार से अनिवार्यतः निगमित होता है । इस प्रकार का हमारा प्रयास उस प्रयास के समान है जिसमें हम बिना आधारवाक्य को जाने कि आधारवाक्य क्या है आधारवाक्य से निष्कर्ष निकालने का प्रयास करते हैं । (७)

जर्मन दार्शनिक इमैनुअल कान्ट (१७२४-१८०४) भी प्रत्ययसत्ता युक्ति के प्रति महत्वपूर्ण आपत्ति उठाता है । उनके द्वारा प्रस्तुत प्रत्यय सत्ता युक्ति की आलोचना के दो स्तर है प्रथम स्तर पर वे इस तर्क की आधारभूत मान्यता कि अस्तित्व का प्रत्यय ईश्वर के प्रत्यय में अनिवार्य रूप शामिल है और जिसे विशेषण द्वारा प्रकट किया जा सकता है - को स्वीकार कर लेते है । इस तर्क के समर्थक कहते है जिस प्रकार त्रिभुज के प्रत्यय में तीन कोणों का होना अनिवार्य है उसी प्रकार ईश्वर के प्रत्यय में अस्तित्व का होना अनिवार्य है इन दोनों ही तर्क वाक्यों में विधेय अनिवार्यतः उद्‌देश्य से सम्बन्धित है । किन्तु कान्ट कहता है अनिवार्य रूप से विधेय उद्‌देश्य से सम्बन्धित होते हुए भी यह नहीं सिद्ध करता कि उद्‌देश्य का अपने विधेयों सहित वास्तविक अस्तित्व है । यह अनिवार्य सम्बद्धता केवल इतना सिद्ध करती है कि यदि त्रिभुज है तो उसमें अनिवार्य रूप से तीन कोण है यही वात ईश्वर या पूर्णातिपूर्ण तत्व पर भी लागू होती है कि यदि पूर्णातिपूर्ण तत्व है तो वह अवश्य अस्तित्ववान है क्योंकि तार्किक दृष्टि से यह संभव नहीं है कि हम त्रिभुज को माने और उसमें तीन कोण को न माने, यदि हम कहें कि कोई वस्तु त्रिभुज हैकिन्तु उसमें तीन कोण नहीं है तो यह आत्म विरोधी कथन होगा उसी प्रकार यदि हम कहते है कि पूर्णातिपूर्ण तत्व है किन्तु उसमें अस्तित्व नहीं है तो यह आत्माविरोधी कथन होगा । कान्ट का कहना था कि यह आत्मविरोध की स्थिति तभी उत्पन्न होगी जब उद्‌देश्य को माने लेकिन विधेय को न माने लेकिन यदि हम उद्देश्य विधेय दोनों को एक साथ अस्वीकार कर दे तो आत्मविरोध की स्थिति कदापि उत्पन्न नहीं हो सकती । पूर्वोक्त उदाहरणों में त्रिभुज

को मानकर तीन कोणों को न मानना आत्मविरोधी स्थिति को उत्पन्न करना है । लेकिन यदि हम त्रिभुज एवं उसके कोण दोनों को अस्वीकार कर दें तो कोई आत्मविरोध नहीं होगा । यही वात ईश्वर प्रत्यय पर भी लागू होती है कि हम पूर्णातिपूर्ण तत्व को मानकर यदि उसे अस्तित्वहीन माने तो आत्मविरोध की स्थिति है लेकिन यदि हम पूर्णातिपूर्ण या ईश्वर तत्व और उसके अस्तित्व दोनों का निषेध कर दें तो कोई आत्म विरोध नहीं उत्पन्न होता । इसी तथ्य को अन्य रूप में भी कहा गया कि कोई भी विश्लेषणात्मक कथन या पुनरूक्ति पूर्णतः औपाधिक है यह विश्लेषणात्मक कथनों के स्वरूप से ही निश्चित है । उदाहरणतः यदि भौंकने वाले कुत्तों का अस्तित्व है तो वे भौंकते है । लेकिन इससे यह कदापि नहीं सिद्ध होता कि इस प्रकार के कुत्तों का वस्तुतः अस्तित्व है । इसी प्रकार यदि हम ईश्वर अस्तित्ववान है इस कथन को विश्लेषणात्मक माने तो इसके प्रति स्थापन्न रूप में यह वाक्य रखा जा सकता है यदि ईश्वर अस्तित्ववान है तो उसका अस्तित्व है । फिर भी निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि ईश्वर विचार से अस्तित्व का विचार ही सिद्ध होता है ईश्वर का वास्तविक अस्तित्व नही ।

आलोचना के दूसरे स्तर पर कान्ट इस मान्यता का कि अस्तित्व का प्रत्यय ईश्वर के प्रत्यय से विश्लेषणात्मक रूप में संयुक्त है अस्वीकार कर देता है । वह कहता है 'अस्तित्व ' कोई गुण नहीं है जो किसी वस्तु में उपस्थित या अनुपस्थित हो । अस्तित्व का विचार किसी वस्तु के विचार में कुछ जोड़ता नहीं जबकि किसी वस्तु मे उसके विभिन्न गुणों के आरोपण द्वारा हम उस वस्तु के प्रत्यय में विस्तार करते है लेकिन जब हम कहते है कि अमुक वस्तु अस्तित्ववान है तो इससे वस्तु के प्रत्यय में विस्तार नहीं होता बल्कि हमारा अर्थ होता है कि विभिन्न गुणों से युक्त जिस वस्तु का विचार हम कर रहे थे उसका वास्तविकता में भी अस्तित्व है । अतः कहा जा सकता है गुण का प्रत्यय वस्तु के प्रत्यय में विस्तार करता है जबकि अस्तित्व का प्रत्यय उस वस्तु के आनुभविक जगत में होने की सूचना देता है । इसीलिए कान्ट अस्तित्व के कथन को विश्लेषणात्मक न मानकर संश्लेषणात्मक, कहता है । क्योंकि विश्लेषण के द्वारा अस्तित्व को निगमित नहीं किया जा सकता । कान्ट के अनुसार पूणतिपूर्ण तत्व की कल्पना करना और पूर्णतिपूर्ण तत्व

का अस्तित्व सिद्ध करना परस्पर पृथक है । पूर्णतिपूर्ण तत्व के प्रत्यय निमार्ण में हम यह कल्पना करते है कि उसमें सर्वज्ञता , सर्वशक्तिमानता आदि पूर्णताएँ है लेकिन जब हम कहते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व है तो इसका तात्पर्य है कि जिन गुणों से युक्त तत्व की हमने परिकल्पना की है वह मात्र कल्पना नहीं है बल्कि उसका वास्तविकता में भी अस्तित्व है ।

वीसंवी शताब्दी में बर्टेन्ड रसेल ने 'अस्तित्व' शब्द का विश्लेषण कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि व्याकरण की दृष्टि से गुण प्रदर्शित करने वाले वाक्यों का और अस्तित्व प्रकट करने वाले वाक्यों का आकार समान होता है, इसीलिए प्रायः अस्तित्व को भी गुण समझ लेने का भ्रम हो जाता है । यद्यपि अस्तित्व शब्द को व्याकरण की दृष्टि से एक विधेय के रूप में प्रयुक्त करते है तथापि तार्किक दृष्टि से इस शब्द का नितान्त भिन्न कार्य है । उदाहरण के लिए -

'सिरियस (लुब्धक तारा) अस्तित्ववान है '

इस वाक्य में अस्तित्ववान शब्द व्याकरण की दृष्टि से विधेय के रूप में प्रयुक्त हुआ है लेकिन तार्किक दृष्टि से इसका कार्य उद्देश्य पर कोई गुण आरोपित करना नहीं है वल्कि यह स्वीाकर करना है कि कोई तत्व ऐसा है जिसे यह कहना कि वह तत्व है जो लुब्धक है सत्य है । इसी प्रकार एकश्रृंग का अस्तित्व नहीं है इस उदाहरण में एकश्रृंग के स्वरूप के बारे में कुछ नहीं कहा जा रहा है । प्रथम उदाहरण में जब हम लुब्धक के प्रत्यय की चर्चा कर रहे हैं तो हम कह रहे है कि लुब्ध के प्रत्यय का विश्व में दृष्टान्त है और दूसरे उदाहरण में जब हम एकश्रृंग के प्रत्यय की चर्चा कर रहें है तो यह कह रहे है कि इन प्रत्ययों का विश्व में उदाहरण नहीं है ' ।(८)

एन्सलम प्रसंभावित रूप में और देकार्त निश्चित रूप से ईश्वर की पारिभाषिक विशेषताओं की तरह अस्तित्व को विधेय रूप में कल्पित करते है । ईश्वर में शुभत्व तथा

सर्वशक्तिमानता की तरह अस्तित्व भी निहित है लेकिन ईश्वर अस्तित्ववान है का अर्थ यह है कि यदि कोई तत्व है और उस तत्व के बारे में यह कहना है कि वह ईश्वर है सत्य है तो इसमें अस्तित्व शब्द ईश्वर के स्वरूप के बारे में कुछ नहीं कह रहा है बल्कि उपरोक्त वाक्य का अर्थ है कि ईश्वर शब्द के अभिप्राय से व्यक्त होने वाली सत्ता का दृष्टान्त आनुभविक जगत में है । अतः अस्तित्व विधेय या गुण नहीं है । इस प्रकार अस्तित्व को गुण मानकर उसके आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने का प्रयास निरर्थक है ।

प्रत्यय सत्ता युक्ति के विषय में कतिपय विचारकों की धारणा है कि इससे केवल तर्क वाक्यों की अनिवार्यता का ज्ञान होता है वस्तुओं का अनिवार्यतः अस्तित्ववान होना नहीं सिद्ध होता है । उदाहरण के लिए त्रिभुज में तीन कोण है अनिवार्य रूप से सत्य है क्योंकि त्रिभुज की यह परिभाषा भाषीय प्रतीक द्वारा अभिव्यक्त त्रिभुज के नियमों को पूरा करती है अतः यह विश्लेषणात्मक व तार्किक रूप से अनिवार्यतः सत्य है । लेकिन वस्तुजगत की वस्तुओं की सत्यता का आकलन इस आधार पर नहीं हो सकता । जैसे लुब्धक ८.९ प्रकाशवर्ष दूरी पर है इसकी सत्यता अनिश्चित है क्योकि लुब्धक की प्रकाशवर्ष की दूरी ८.७ हो भी सकती है और नहीं भी । इसीलिए कहा गया है कि अस्तित्ववाची कथन चाहे वह किसी की सत्यता को स्वीकार कर रहे हो या उनका निषेध कर रहे हो अनिवार्य रूप में सत्य नहीं हो सकते । क्योंकि इनकी सत्यता भाषा के नियमों पर निर्भर नही करती है । अतः यह तर्कवाक्य यदि तार्किक रूप से अनिवार्यतः सत्य भी हो कि ईश्वर अस्तित्ववान है तो भी इससे ईश्वर की वास्तविक सत्यता सिद्ध नहीं होती है । इसी आधार पर कहा गया है कि कोई भी ईश्वरीय कथन जिसमें ईश्वर का प्रत्यय अनिवार्य रूप से समाहित भी हो निरर्थक है क्योंकि यह आत्मव्याघाती है इसमें तार्किक रूप से अनिवार्य सत्ता निहित होने पर भी संभव है कि उसकी वास्तविक सत्ता न हो ।

आधुनिक समय में इस विचारधारा को जे०जे०सी० स्मार्ट तथा जे०एन०फिन्डले ने दि एक्सिस्टेन्स आफ गाड, और कैन गॉडस एक्सिस्टेन्स वी डिस्प्रूण्ड में बल प्रदान

किया । जे०जे०सी० स्मार्ट अपने लेख में यह प्रदर्शित करना चाहता है कि तार्किक रूप से संभव सत्ता का वास्तविक अस्तित्व भी हो यह आवश्यक नहीं हैं क्योंकि बहुत सारी वस्तुओं का वास्तविक अस्तित्व न होने पर भी उनका तार्किक अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है । जैसे-

'प्रथम कारण की तार्किक अनिवार्यता उसी प्रकार निरर्थक है जिस प्रकार चन्द्रमा की तार्किक अनिवार्यता । केवल ज्ञानेन्द्रियों से हम लोगों के लिए चन्द्रमा की प्राप्ति असंभव है (लेकिन यह तर्क किया जा सकता है) यदि मैं कई हजार गुना बढ़ जाऊ तो मैं चन्द्रमा तक पहुंच कर तुम्हें इसे दे दूँ । मै जानता हूँ कि तार्किक रूप से मैं जिस चन्द्रमा को देने की बात कर रहा हूँ वास्तविक जीवन में वह असंभव है । प्रथम कारण की तार्किक अनिवार्यतः उसी प्रकार संभव नहीं है जिस प्रकार चन्द्रमा की प्राप्ति संभव है । प्रथम कारण यह तार्किक रूप से भी असंभव है क्योंकि तार्किक रूप से अनिवार्य सत्ता उसी प्रकार आत्मव्याघाती है जिस प्रकार वृत्त वर्ग ।'

जे०एन०फिण्डले भी इसी प्रकार प्रत्यय सत्ता युक्ति को खंडित करते हुए कहते है - एक तरफ वे स्वीकार करते है कि ईश्वर विषयक प्रत्यय धार्मिक समर्पण की मांग का उपयुक्त विषय है - जिसकी कल्पना असीम सत्ता के रूप में की गई जो अन्य विषयों से श्रेष्ठ है इस प्रत्यय में उसके बिना केवल अन्य प्रत्ययों का अस्तित्व ही अचिन्तनीय नहीं है बल्कि स्वयं उसका अनस्तित्व भी अचिन्तनीय है दूसरी तरफ आधुनिक विचारक कहते है कि केवल तर्कवाक्य ही अनिवार्य होते है वस्तुएँ नहीं । अतः उस सत्ता का प्रत्यय जिसका अनस्तित्व अचिन्तनीय और अकल्पनीय है अर्थात जिसका अस्तित्व अनिवार्य है अबौद्धिक होगा ।

इस प्रकार फिण्डले अन्तिम रूप में यह मानते है कि ईश्वर के उपयुक्त प्रत्यय से जो निगमित होता है वह वास्तविक रूप में चरितार्थ हो यह आवश्यक नहीं है। फिण्डले कहता है - वह वास्तव में एन्सलम के लिए बुरा दिन था जब उसने अपना

प्रसिद्ध तर्क प्रस्तुत किया, उस दिन उसने केवल यथेष्ट धार्मिक विषय का सार ही नही प्रकट किया वल्कि उसने यह भी प्रकट किया कि उस (प्रत्यय) में ईश्वर का अनिवार्य अनस्तित्व भी समाहित है । फिण्डले ने कहा - यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि या तो अस्तित्वाचक कथन बिना वास्तविक सत्ता के निश्चित और अनिवार्य होते है या तार्किक निश्चितता व अनिवार्यता स्वयं अन्य महत्वपूर्ण प्रसंभाव्यता है । (९)

प्रोफेसर नार्मन मैल्कम ने अपनी प्रसिद्ध कृति एन्सलम्स आन्टोलोजिकल आरगुमेन्ट मैं कहा कि वस्तुतः एन्सलम ने बिना जाने हुए दो तर्क प्रस्तुत किये जिसमें एक तर्क अवैध है और दूसरा वैध है । अवैध तर्क की प्राप्ति होती है प्रोलॉजियन के दूसरे अध्याय में और वैध तर्क की प्राप्ति होती है तीसरे अध्याय में जब वह गौनिलो द्वारा उठाई गई आपत्तियों का उत्तर दे रहा है ।

मैल्काम के अनुसार एन्सलम के प्रथम तर्क में पूर्वमान्यता के रूप में यह ग्रहण कर लिया गया है कि अस्तित्व विधेय है । इस मान्यता का खंडन करने के लिए वे कान्ट का समर्थन करते है । उनके अनुसार-

' मेरा भविष्य का घर तब सचमुच बेहतर होगा जब वहअलग होगा उस स्थिति की अपेक्षा जव वह अलग न हो । यह कहना सार्थक भी है और सत्य भी । पर क्या यह कहना सार्थक है कि मेरा भीवष्य का घर तब बेहतर होगा जब वह अस्तित्ववान होगा बजाय उस स्थिति के जब वह अस्तित्ववान नहीं होगा (१०)

दूसरा तर्क जो कि प्रथम से भिन्न एवं महत्वपूर्ण है संक्षेप में इस प्रकार है -

' यह संभव है कि ऐसी सत्ता की कल्पना की जाये जिसका अनस्तित्व असंभव है और यह सत्ता उससे महान होगी जिसका अनस्तित्व संभव है । इसलिए यह कहा जा सकता है कि यदि वह सत्ता जिससे महत्तर की कल्पना नहीं की जा सकती का

अनस्तित्व सोचा जा सकता है तो यह सत्ता वह सत्ता नहीं होगी जिससे महत्तर की कल्पना नहीं की जा सकती किन्तु यह एक प्रकार का विरोधाभास है अतः ऐसी सत्ता की सत्यता के लिए जिससे महत्तर की कल्पना नहीं की जा सकती का अस्तित्व है उसका अनस्तित्व सोचा भी नहीं जा सकता यही सत्ता ईश्वर है '(११)

इन दोनों तर्को में मूलभूत अन्तर यह है कि प्रथम तर्क ''अस्तित्व'' को विधेय रूप में ग्रहण करता है क्योंकि वह सत्ता जो अस्तित्ववान है महान् होगी- उस सत्ता से जो अस्तित्ववान नहीं है । जबकि दूसरा तर्क ''अनिवार्य अस्तित्व'' को विधेय के रूप में ग्रहण करता है क्योंकि वह सत्ता जिसका अनस्तित्व तार्किक रूप से अंसभव हो महान होगी उस सत्ता से जिसका तार्किक रूप से अनस्तित्व सम्भव हो ।

मैल्कम दूसरे तर्क की विशिष्टता का उल्लेख करते हुये कहते है- जो वस्तु पहले से ही अस्तित्ववान हो उसके विधेय रूप में उसके अस्तित्व की बात कहना आश्चर्यजनक हो सकता है किन्तु यह पूर्णतः संभव और अर्थपूर्ण है कि किसी अस्तित्ववान तत्व के बारे में यह पूछना कि उसका अस्तित्व अनिवार्य है या नहीं यदि ऐसा (अनिवार्य अस्तित्व) है तो वह उस सत्ता को अधिक पूर्ण बना देता है ।

इस प्रकार तर्क का दूसरा रूप उन समस्त कठिनाईयों से मुक्त हो जाता है जो अस्तित्व को विधेय रूप में ग्रहण करने पर उत्पन्न हुई थी । मैल्कम एन्सलम के प्रथम तर्क को दोषपूर्ण मानते है क्योंकि अस्तित्व विधेय नहीं है लेकिन दूसरे तर्क को उचित मानते है जिसमें अनिवार्य अस्तित्व विधेय है । मैल्कम मानता है कि अनिवार्य अस्तित्व तर्कसंगत रूप से ईश्वर की परिभाषिक विशेषता के रूप में अनुमानित किया जा सकता है । मैल्कम के शब्दों में -

यदि ईश्वर वह है जिससे महत्तर की कल्पना नहीं की जा सकती या असीम सत्ता है तो उसके प्रत्यय से ही स्पष्ट है कि वह उस प्रकार की सत्ता नहीं है जिसका

अस्तित्व या अनस्तित्व उसका कारण हो क्योंकि वह साधारण सत्ता नहीं है । ऐसी स्थिति में वह अपने से बाह्य किसी अन्य सत्ता पर आश्रित हो जायेगी और आपतिक हो जायेगी । तब वह सीमित सत्ता हो जायगी । इससे यह सिद्ध होता है कि यदि वह अस्तित्ववान नही हो तो उसका अस्तित्व तार्किक रूप से भी अंसभव है । और यदि उसका अस्तित्व है तो उसका अनस्तित्व तार्किक रूप से भी असम्भव है । अब इस प्रकार की सत्ता का या तो अस्तित्व होगा या नहीं होगा, इससे दोहरा निष्कर्ष निगमित होता है । ईश्वर जो असीमित सत्ता है या तो वह अनिवार्यतः अस्तित्ववान है या तो अनिवार्यतः अस्तित्ववान नहीं है , किन्तु यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि ऐसी सत्ता अनिवार्यतः अनस्तित्ववान है तो इस प्रकार की सत्ता का जिससे महत्तर की कल्पना नहीं की सकती प्रत्यय या तो आत्मव्याघाती होगा या तार्किक रूप से निरर्थक सिद्ध होगा । अतः वह जिससे महत्तर की कल्पना नहीं की जा सकती या असीमित सत्ता के अर्थपूर्ण होने के लिए हम नहीं कह सकते कि इस प्रकार की सत्ता का अस्तित्व असंभव है, अतः हम कहते है कि इस प्रकार की सत्ता का अनिवार्य अस्तित्व है ।

मैल्कम वस्तुतः यह प्रदर्शित करना चाहते है कि यदि कोई प्रत्यय तार्किक रूप से सुसंगत हो तो उस प्रत्यय के सत्य होने की संभावना में कोई बाधा नहीं पहुँचती क्योंकि इस प्रकार का प्रत्यय आत्मव्याघात से मुक्त रहता है क्योंकि तार्किक असंगतता किसी प्रत्यय की सत्यता में बाधक है । उदाहरण के लिए वर्गवृत्त का अस्तित्व तार्किक रूप में भी असंभव है ।

मैल्कम के विरूद्ध कान्ट ने ईश्वर के अनिवार्य अस्तित्व को न स्वीकार कर उसे विश्लेषणात्मक द्विरूक्ति कथन के रूप में स्वीकार किया था । कान्ट और उसके समर्थक विचारकों का कहना था कि किसी भी विश्लेषणात्मक कथन का अनुवाद हेतुहेतुमद वाक्य (यदि-तब) के रूप में हो सकता है । इस प्रकार ईश्वर का अनिवार्य अस्तित्व है का हेतुहेतुमद कथन के रूप में अनुवाद होगा - यदि ईश्वर है तब उसका अनिवार्य अस्तित्व है । कान्ट के अनुसार यह कथन स्वीकार करने पर भी उसका अस्तित्व जिसका अनस्तित्व

असंभव है अत्यन्त दूर है क्योंकि ईश्वर के तार्किक अस्तित्व से उसका वास्तविक अस्तित्व नहीं निगमित होता ।

मैल्कम पुनः कान्ट के विरूद्ध कहते है ईश्वर का अनिवार्य अस्तित्व है - कान्ट ने उसे विश्लेषणात्मक कथन माना है अतः वह अनिवार्यतः अस्तित्व को अपने में समाहित करता है (विश्लेषणात्मक कथन के उद्देश्य में निहित विशेषता का ही विधेय में स्पष्टीकरण होता है ।) अतः इस कथन का जब हेतुहेतुमद रूप में अनुवाद किया जाता है तो निम्न व्याघात उत्पन्न होता है, हो सकता है ईश्वर हो किन्तु उसका अस्तित्व न हो और यह स्पष्टतः विरोधी है क्योंकि वह वास्तविक रूप में ईश्वर के अस्तित्व को अनिवार्यतः स्वीकार करता है । उनका कहना है कि ईश्वर का अनिवार्य अस्तित्व है इसका अर्थपूर्ण हेतुहेतुमद तर्कवाक्य मे अनुवाद असंभव है । अतः इससे वह निष्कर्ष निकालता है कि ईश्वर का अनिवार्य अस्तित्व है इस कथन के बारे मे और चाहे जो कुछ कहा जाये किन्तु इसे रूपान्तरित हेतुहेतुमद तर्कवाक्य के समकक्ष नहीं कहा जा सकता

मैल्कम के तर्क के विरोध में यह भी कहा गया है कि मैल्कम की अनिवार्य सत्ता संभवतः एन्सलम की उस वास्तविक सत्ता जिससे महत्तर की कल्पना नहीं की जा सकती में प्रकारगत भेद है । मैलकम का तर्क ऐसी सत्ता को निगमित करता है जिसका अस्तित्व तर्कतः संभव है क्योंकि उसका अनस्तित्व तार्किक रूप में असंभव है जबकि एन्सलम निःसन्देह रूप में ईश्वर की महानता की कल्पना तार्किक रूप से संभावित या असंभावित सत्ता के रूप में नहीं करता बल्कि एकता अर्न्तव्याप्तता पूर्णता तथा सर्वशक्तिमानता के रूप में करता है ।

वास्तव में मैल्कम ने यह नहीं कहा कि ईश्वर का अनिवार्य अस्तित्व है वल्कि उन्होने कहा उसका अनिवार्य अस्तित्व हो सकता है और इन बातों में पर्याप्त अन्तर है । आलोचक मैल्कम के प्रति भाषायी तथ्यों पर अपनी आलोचना प्रस्तुत करते है । जबकि मैल्कम एन्सलम से निम्न विचार ग्रहण करते हैं :-

अधिक महत्वपूर्ण यह है कि एन्सलम ने कैसे अनिवार्य / अस्तित्व के भेद को ग्रहण कर (जैसा कि आधुनिक विचारक भी करते है) ईश्वर की महानता को कल्पित किया । यद्यपि यह भेद विस्तृत रूप से दार्शनिक और भाषायी अनुभव के साथ न्याय करने में असमर्थ है ।

इसके अतिरिक्त कुछ आलोचक तार्किक स्तर पर भी ईश्वर की स्थिति में असंगतताएँ सिद्ध करते है । उदाहरण के रूप में मैल्कम ने निष्कर्ष निकाला था यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो उसका अस्तित्व अनिवार्यतः अंसभव है और यदि उसका अस्तित्व है तो उसका अस्तित्व तार्किक रूप से आवश्यक है । प्रथम के प्रति आपत्ति प्रकट करते हुए कहा गया - मैल्कम भूल करते है तब जब यह कहते है कि यदि ईश्वर का अस्तित्व अभी नहीं है तो ईश्वर का अस्तित्व तर्कतः असंभव है क्योकि ईश्वर का अस्तित्व न तो प्रारम्भ किया जा सकता है और न समाप्त किया जा सकता है इससे यह निगमित होता है कि यह तार्किक रूप से अनिवार्य है कि यदि ईश्वर का अस्तित्व नही है तो वह कभी नहीं रहा होगा और यह बिल्कुल भिन्न विचार है । इसी प्रकार दूसरे के संदर्भ में कहा गया - इस सत्य से कि ईश्वर का अस्तित्व है और नहीं है यह नहीं सिद्ध होता है कि यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो उसका अस्तित्व तार्किक रूप से अनिवार्य है बल्कि तार्किक रूप से अनिवार्य यह है कि यदि उसका अस्तित्व है तो सदा रहेगा । इस प्रकार वैधतः ईश्वर के अस्तित्व में आने का संभावना या असंभावना से कुछ नहीं निगमित होता कि उसका अस्तित्व निश्चित है या आकस्मिक ।

प्रत्यय सत्ता युक्ति का आलोचनात्मक इतिहास अत्यन्त विस्तृत है । इसके समर्थक इस तर्क के ऐसे प्रारूप की खोज में है जो अस्तित्व को विधेय रूप में स्वीकार करने के दोष से इसे मुक्त करा दें । किन्तु प्रत्यय सत्ता युक्ति कम से कम अभी तक प्रत्यय के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में असमर्थ ही सिद्ध हुई ।

सन्दर्भ

१- एन्सलम प्रोलॉजियन-ट्रान्स एम.जे.चार्ल्सवर्थ इन स० एन्सलम प्रोलॉजियन(आक्सफोर्ड क्लारेन्डन १९६५)

२- आर्न फ्री विल अनुवादक जे०एच०एस०सर्ले इन आगस्टाइन्स अर्लियर राइटिंग्स ।

३- एन्सलम प्रोलॉजियन अ० २ एन्सलम बेसिक राइटिंग्स अनु० सिडनी नार्टन डीन, सेकेन्ड एडी० (ला सार्ले, ओपेन कोर्ट १९६२)

४- देकार्त रेने, मेडिटेशन इन डिसकस आफ मैथड एण्ड मैडिटेशन्स अनु० लारेन्स जे०एल०(इन्डियनोप्लिज इन्ड. लाईब्रेरी आफ लिबरल आर्ट १९६०) पृ० १२१

५- गौनिलो इन बीहाफ दि फूल इन सेन्ट एन्सलम्स बेसिक राइटिंग सन्दर्भित गॉड एण्ड रीजन, एडिटेड बाय मिलर पृ० २९

६- सेन्ट एन्सलम्स रिप्लाय टू गौनिलो इन सेन्ट एन्सलम्स बेसिक राइटिंग्स

७- सेन्ट थामस एक्वीनस- सुम्मा कान्ट्रा जेन्टाइल्स १.१० एफ. ट्रास. एन्ट.सी.पेग्स (गार्डन सिटर. एन.वाई.इमेज. बुक्स १९५५ सन्दर्भित गॉड एण्ड रीजन पृ० ३१)

८- रसेल बर्टेन्ड-ए हिस्ट्री आफ वेस्टर्न फिलॉसाफी(न्यूयार्क साइमन एन्ड श्चस्टर १९४५) पृ० ८३

९- फिण्डले जे.एन.कैन गॉड एक्जिस्टेन्स बी डिसप्रूव्ड

१०- नार्मन मैल्कम -एन्सलमस ऑनटोलॉजिकल आरगूमेन्टस फिलासाफिकल रिव्यू जनवरी १९६०)

११- सन्त एन्सलम प्रोलॉजियन कोटेड बाय मिलर आन गॉड एन्ड रीजन पृ० ३७

३.२ विश्वमूलक युक्ति

ईश्वर मीमांसा के इतिहास में ईश्वर को तर्कतः प्रमाणित करने का दूसरा प्रयास विश्वमूलक तर्क (कॉस्मोलॉजिकल आरगूमेन्ट) है । यह तर्क जगत की कुछ सामान्य विशेषताओं से प्रारम्भ होता है और उन्हीं के आधार पर यह तर्क करता है - विशिष्ट विशेषताओं से युक्त यह संसार तब तक अस्तित्ववान नहीं हो सकता जब तक उस निरपेक्ष सत्ता के अस्तित्व को जिसे ईश्वर कहते हैं स्वीकार न कर लिया जाये ।

यह तर्क अत्यन्त प्राचीन है इसे सर्वप्रथम प्लेटो ने अपने ग्रन्थों में प्रयुक्त किया किन्तु स्पष्टतः इस तर्क को प्रतिस्थापित करने का श्रेय अरस्तू को है जिन्होंने ईश्वर को अचालित चालक (अनमूण्ड मूवर) के रूप में सिद्ध किया । मध्य युग में ईश्वर को इस तर्क द्वारा प्रमाणित करने का प्रयास सन्त थामस एक्वीनस (१२२४-१२७४) ने किया था। आधुनिक युग के दार्शनिको में देकार्त , लाइबनीत्ज, बर्कले ,मार्टिन्यू ,केयर्ड , फ्लिन्ट आदि ने इस तर्क का समर्थन किया ।

प्रत्यय सत्ता युक्ति के विरूद्ध जिसमें ईश्वर के अस्तित्व को अनिवार्यतः ईश्वर के प्रत्यय में शामिल मानकर सिद्ध करने का प्रयास किया गया था और जो असफल रहा- यह युक्ति शुद्ध बौद्धिक आधार को न ग्रहण कर कुछ अनुभव का सहारा लेती है यद्यपि वह आनुभविक आधार अत्यन्त अल्प है । इस सामान्य अनुभव से यह युक्ति केवल यह सिद्ध करता है कि यह संसार शून्य नहीं है । संसार में कम से कम एक वस्तु का अस्तित्व है। एक वस्तु का अस्तित्व सहज सुलभ है - क्योंकि मनुष्य संसार की समस्त वस्तुओं के अनस्तित्व की कल्पना कर सकता है किन्तु स्वयं अपने अनस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकता । इस प्रकार यह युक्ति एक व्यक्ति के अस्तित्व के निर्णय से प्रारम्भ होती है और एक व्यक्ति का अस्तित्व प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित है इसलिए यह तर्क प्रत्यय सत्ता युक्ति पर लगे उस आक्षेप से बच जाता है जिसमें कहा गया कि शुद्ध बौद्धिक प्रक्रिया मात्र से किसी वस्तु का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता ।

थामस एक्वीनस ने कारणता युक्ति के स्वरूप को बहुत स्पष्ट रूप से प्रकट किया। उनके द्वारा प्रस्तुत युक्ति इस प्रकार है -

आनुभविक वस्तु जगत में हम देखते है कि निमित्त कारण का एक क्रम है, कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है (न होने के संभावना है) जिसमें वस्तु अपना निमित्त कारण स्वयं हो क्योंकि इसके लिए वस्तु को अपनी उत्पत्ति से पहले अस्तित्ववान होना होगा जो असंभव है, निमित्त कारणों में क्रम का पालन करने पर प्रथम कारण मध्यवर्ती का कारण होगा, मध्यवर्ती अन्तिम का कारण होगा चाहे मध्यवर्ती कारण अनेक हो या एक, अब कारण को नष्ट कर देने का अर्थ है कार्य को नष्ट कर देना, अतः निमित्त कारण मे यदि प्रथम कारण नहीं होगा तो मध्यवर्ती और अन्तिम कारण भी नहीं होगा। लेकिन यदि निमित्त कारणों में अनन्त तक जाना संभव हो तो कोई प्रथम कारण नहीं होगा और न ही कोई अन्तिम या मध्यवर्ती कारण होगा, क्योंकि यह असत्य है अतः एक प्रथम कारण को स्वीकार करना अनिवार्य है जिसे प्रत्येक व्यक्ति सामान्यत ईश्वर नाम देता है।

इस तर्क से एक्वीनस निम्न मान्यताओं को सिद्ध करते हैं।

१. यह संसार अपना कारण स्वयं नही हो सकता।

२. इसकी उत्पत्ति शून्य से नहीं हो सकती।

३. कारण कार्य की श्रृंखला अनन्त नहीं हो सकती।

४. वस्तुओं की श्रेणिबद्धता जैसे कम या अधिक सत्तात्मक, थोड़ा बहुत शुभ, थोड़ा बहुत सत्य और थोड़ी बहुत आदर्शात्मकता इन सबके आधार में एक निरपेक्ष सत्ता को युक्त करती है।

५. ईश्वर जगत के बुद्धिमान शिल्पी के रूप में अस्तित्ववान है।

अतः इस आधार पर वह स्वीकार करते है कि एक प्रथम निमित्त कारण होना चाहिए जो समस्त वस्तुओं का कारण हो लेकिन स्वयं उसका कोई कारण न हो । कारणात्मक तर्क अपने किसी भी रूप में स्थूल रूप से इसी प्रकार का होगा ।

एक्वीनस द्वारा प्रतिस्थापित इन मान्यताओं के परोक्षण में प्रथम वाक्य को सबसे ज्यादा आसानी से स्वीकार किया गया । थॉमस ने कहा- यदि कार्य वस्तुतः कारण पर निर्भर करता है जो की कारण कार्य सम्बन्ध का सार है तब कारण को किन्हीं न किन्ही अर्थो में कार्य से पहले होना चाहिए । किन्तु यदि कोई वस्तु अपना कारण स्वयं हो तो इस के लिए उसे अपने अस्तित्व से पहले अस्तित्ववान होना चाहिए जो असंगत है । यहाँ एक्वीनस अरस्तु के समान व्याघात के नियम (एक वस्तु एक साथ एक ही परिप्रेक्ष्य में सत्य असत्य दोनों नहीं हो सकती) की सत्यता को स्वतः प्रमाणित मान लेते हैं इस प्रकार उनकी यह मान्यता कि यह संसार अपना कारण स्वयं नहीं हो सकता स्वीकर कर ली गई। लेकिन अन्य दो मान्यताओं का परीक्षण शेष रह जाता है, यह परीक्षण आवश्यक भी है क्योकि कारणात्मक तर्क की मुख्य आलोचनाएँ मूल रूप से इन्हीं दोनों आधारवाक्यों के पराक्षण पर आधारित है ।

काल की दृष्टि से प्रथम

प्रथम कारण तर्क के विरूद्ध यह स्पष्ट आक्षेप लगाया जाता है कि साधारणतः प्रथम कारण का होना अनिवार्य नहीं है क्योंकि यह कहा जा सकता है कि वर्तमान संसार अतीत में घटित अनन्त अंतहीन घटनाओं में से एक है ।

इस तथ्य के लिए कि प्रथम कारण का होना अनिवार्य है कारणात्मक तर्क के दो रूप प्रस्तुत किये गये । प्रथम रूप में यह तर्क प्रस्तुत करता है काल की दृष्टि से

प्रथम कारण अर्थात् ऐसी सत्ता को जिसका अस्तित्व सांसारिक घटनाओं की श्रृंखला में प्रथम था । दूसरे रूप में यह तर्क व्याख्या करता है कि ईश्वर काल की दृष्टि से नहीं बल्कि अस्तित्व को दृष्टि से प्रथम सत्ता या कारण है ।

प्रथम रूप के अनुसार ईश्वर सांसारिक घटनाओं की श्रृंखला की प्रथम कड़ी के रूप में आवश्यक रूप से अस्तित्ववान है । प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वाभाविक अनुभव हो सकता है कि जगत काल विशेष में उत्पन्न है किन्तु इस सहज अनुभूति का कोई दार्शनिक आधार नहीं है । अतः प्रत्येक वस्तु का प्रारम्भ था इस अनुभव को दार्शनिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया गया । ईश्वरवादी दार्शनिक सन्त बोनावेन्चर तर्क करता है कि अन्य तर्कों से स्पष्ट होते हुये भी इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि यह संसार हमेशा से अस्तित्ववान था । अतः वह इस धारणा को कि जगत हमेशा से अस्तित्ववान था असंगत व अंसभव प्रदर्शित करता है । उदाहरण के लिए - यदि यह संसार शाश्वत रूप से अस्तित्ववान है, तब दिनों की अनन्त संख्या वैसे ही व्यतीत हो चुकी और प्रत्येक नया दिन उस अनन्त दिनों में जुड़ता जा रहा है , जबकि यह असंभव है कि अनन्तता में कुछ जोड़ा जाये । इसके अलावा बार बार चन्द्रमा के पृथ्वी का परिभ्रमण करने पर एक बार सूर्य परिभ्रमण करता है किन्तु यदि संसार शाश्वत रूप में अस्तित्ववान माना जाये तो वर्तमान समय तक चन्द्रमा अनन्त बार पृथ्वी का परिभ्रमण कर चुका होगा और इसी प्रकार सूर्य भी, परिभ्रमण की दो संख्या जिसमें एक अनन्त बार और दूसरी बारह बार परस्पर असंगत है ।(२) बोनावेन्चर की स्थिति अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने के लिए तर्क को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया- ' यदि विश्व शाश्वत रूप से अस्तित्ववान है तो वर्तमान क्षण के पहले अनन्त वर्ष बीत चुके किन्तु अनन्त की श्रृंखला कभी पूर्णता तक नहीं पहुँचती (क्योंकि पूर्णता पर पहुँचने पर उसका अन्त हो जायेगा) और तब वह अनन्त श्रृंखला नहीं कहलायेगी) अतः यह कहना कि जगत शाश्वत रूप से अस्तित्ववान है आत्म विरोधी होगा । यदि जगत शाश्वत रूप से अस्तित्ववान माना जाये तो हमें वर्तमान समय तक पहुँचने के लिए अतीत के अनन्त क्षणों से होकर वर्तमान तक

पहुँचना होगा किन्तु अतीत के अनन्त क्षणों को बिताकर वर्तमान क्षण तक आना संभव नहीं है क्योंकि एक दो क्षणों को बिताना संभव है किन्तु संख्या के अनन्त क्षणों को व्यतीत नहीं किया जा सकता ।(यदि वे व्यतीत हो जाये तो अनन्त नहीं रह जायेगें) इस स्थिति में हम अन्ततः कभी अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच पायेगें। अतः इस असंगत निष्कर्ष के निराकरण हेतु हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि निश्चित साल, घन्टें , दिन व्यतीत हो चुके हैं क्योंकि अनन्त समय तो बीत नहीं सकता यदि वह व्यतीत हो जाये तो वे सान्त हो जायेगें । अतः व्यतीत हुआ समय अनन्त न होकर सान्त है अर्थात इस जगत का प्रारम्भ भी है क्योंकि अन्त उसी का है जिसका प्रारम्भ है । कोई भी वस्तु शून्य से नहीं उत्पन्न हो सकती या कोई भी वस्तु अपना कारण स्वयं नहीं हो सकती अतः हमें यह मानना पड़ेगा कि एक अतीन्द्रिय सत्ता है अर्थात ईश्वर है जो समस्त दैशिक कालिक वस्तु जगत की कारण कार्य श्रृंखला का प्रथम कारण है ।(३)

यह तर्क प्रथम दृष्टि में सत्याभासी प्रतीत होता है किन्तु अनन्त का प्रत्यय अत्यन्त भ्रमात्मक है । अतः बोनावेन्चर को अनन्त सम्बन्धी व्याख्या को जीनो के समान ही भ्रमात्मक माना गया ।

जीनों ने अनन्त शब्द की व्याख्या करते समय यह सिद्ध किया कि किसी भी प्रकार की गति संभव नहीं है ।(क्योंकि गति का प्रारम्भ ही नहीं हो सकता, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के पहले इस दूरी को आधी दूरी तक जाना पड़ेगा और उस आधी दूरी के पहले उसकी भी आधी दूरी तय करनी पड़ेगी और इस प्रकार आधी दूरी की संभावना सदैव बनी रहने के कारण गति का प्रारम्भ नहीं हो सकता) सान्त समय में यह अनन्त दूरी तय नहीं की जा सकती । जबकि व्यवहार में हम जानते है कि गति संभव है । जीनो के समान बोनावेन्चर का सिद्धान्त भी अनन्तता की उचित व्याख्या नहीं प्रस्तुत करता । अनन्तता को हम प्राकल्पित कर सकते हैं किन्तु वास्तव में उसका अनुभव नहीं कर सकते, बीते हुए अनन्त वर्षो की कल्पना की जा सकती है किन्तु उन्हें गिनकर यह

वताना कि वर्तमान तक इतने वर्ष बीत चुके असंभव है । इसलिए हम सृष्टि में बीते हुए अनन्त वर्षों का समय प्राकल्पित कर सकते हैं जबकि गिनकर उनका बिताया जाना नहीं कल्पित कर सकते । इस प्रकार यदि हम सृष्टि की अनन्तता को समझ सकते है तो यह कहना कि सृष्टि अनन्त नहीं हो सकती उचित नहीं है ।

इस संदर्भ से दो बात स्पष्ट है :-

१. जब बोनावेन्चर कहते है कि समय की अनन्त अवधि बीत चुकी है तो उनका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि अनन्त की अनन्त विभक्तियाँ संभव है क्योंकि समय का कोई भी सीमित खण्ड अनन्त खण्डों में उसी प्रकार विभक्त हो सकता है जिस प्रकार रेखा का कोई खण्ड अनन्त बिन्दुओं में विभक्त होता है । किन्तु स्मरणीय है कि हम ज्यामितीय रेखा के समान काल्पनिक बिन्दुओं के विषय में नहीं बल्कि वास्तविक और निश्चित इकाइयों जैसे साल और मिनट को अनन्तता के विषय में कथन कर रहे हैं ।

२. यह आवश्यक रूप से सिद्ध करना होगा - हमारे पास निषेधात्मक संख्याओं को अनन्त श्रृंखला है (-१,-२,-३,-४-५, अनन्त तक) अतः अनन्त काल के बीते हुये वर्षों की कल्पना करना कठिन नहीं है किन्तु प्राकल्पित अनन्तता और वास्तविक अनन्तता में महत्वपूर्ण अन्तर है जैसे अनन्त संख्याओं की कल्पना करना असंभव नहीं है जबकि अनन्त घटनाओं की गणना असंभव है चाहे गणना करने वाले को सदैव अस्तित्ववान भी मान लिया जाये । उसी प्रकार अतीत काल की अवधि में अनन्त वर्षों के व्यतीत हो चुकने को कल्पना संभव है किन्तु उन्हें वस्तुतः व्यतीत करना असंभव है ।

यह आलोचना बोनावेन्चर के संदर्भ में भी हुई कि व्यतीत किये हुए अनन्त समय को गिनना असंभव होते हुये भी हम उसकी कल्पना कर सकते है अतः यह स्वीकार करने का कोई आधार नहीं है कि समय की अनन्तता व्याघाती है ।

काल विशेष में जगत का प्रारम्भ स्वीकार करने वाली यह सारी युक्तियाँ विशुद्ध तार्किक और दार्शनिक नहीं है बल्कि वे अपने तर्क के समर्थन व साक्ष्य में वैज्ञानिक सिद्धान्तों को भी प्रस्तुत करते हैं । इस संदर्भ में उत्क्रम - माप- नियम (ला आफ इन्ट्रोफी) प्रमुख है । इस सिद्धान्त के अनुसार ऊर्जा प्रगतिशील है और समान रूप से बराबर वितरित हो रही है, जगत का कुछ भाग अधिक उष्मा (गर्मी) से युक्त है और कुछ कम। ऊर्जा अबाध रूप से जा रही है उष्मा से ठन्डे की ओर इस प्रक्रिया का अन्त उष्मा संतुलन की स्थिति में होगा । उष्मा का पूर्णतः निरूद्देश्य विभाजन भौतिक प्रक्रियाओं की गतिहीनता या निष्क्रियता है इन सब अनुभवों से यह स्पष्ट होता है विश्व का प्रारम्भ है क्योंकि यदि जगत को शाश्वत रूप से अस्तित्ववान माना जाये तब उष्मा का संतुलन की स्थिति अर्थात उष्मा का समान विभाजन अब तक हो जाना चाहिए स्पष्टतः जो नहीं हुआ है । इसी मत का समर्थन प्रसिद्ध भौतिक शास्त्री नक्षत्रवेत्ता सर आर्थर- एडिंगटन व बर्टेन्ड रसेल ने भी किया । एडिंगटन के अनुसार जब से यह संसार चक्र चल रहा है इसे निश्चिततः एक बार समाप्त हो जाना चाहिए ।(४) बर्टेन्ड रसेल भी कहते है - ' यह उत्तम है और मैं सोचता हूँ कि हमें निश्चित अस्थाई रूप से यह प्राक्कल्पना स्वीकर करना चाहिए कि जगत का प्रारम्भ किसी निश्चित समय में हुआ है यद्यपि वह दिनांक ज्ञात नहीं है ।(५)

इस प्रकार यह सभी विचारक यह स्वीकार करते है कि जगत शाश्वत न होकर सान्त है,जिसका प्रारम्भ काल विशेष में हुआ है जगत के प्रारम्भ के संदर्भ में बिग बैंग थ्योरी भी प्रस्तुत की जाती है । जिसके अनुसार - जगत के समस्त पदार्थ अत्यन्त विशाल सघन और सर्वश्रेष्ठ अणु में अन्तर्विष्ट है । निश्चिततः दस पन्द्रह हजार साल पहले प्रथम बार अणु में विस्फोट हुआ और उस विस्फोट से समस्त पदार्थ अन्तरिक्ष में फैल गये । हमारे विशाल जगत जिसमें नक्षत्र द्रुत गति से अपने स्थान से दूर होते जा रहे है यह विशाल आणविक विस्फोटन की प्रतिक्रिया का प्रभाव है । सृष्टि का अंश यह निर्देशित करता हुआ स्वीकार किया जाता है कि इस जगत की सृष्टि बोधगम्य है ।

इस प्रकार ईश्वरवादी दार्शनिक अपने मत के समर्थन में इन साक्ष्यों को प्रस्तुत करते हुये और श्रुतियों का आधार ग्रहण करते हुये कहते है कि वस्तुतः यह जगत एक सर्वशक्तिमान सत्ता द्वारा अतीत में शून्य से एक निश्चित समय में रचा गया है ।

अस्तित्व की दृष्टि से प्रथम-

प्रथम कारण से सामान्यतः काल विशेष में जगत के प्रारम्भ का अर्थ ग्रहण किया जाता है लेकिन इसका एक अन्य अर्थ काल की दृष्टि से प्रथम नहीं बल्कि अस्तित्व की दृष्टि से प्रथम है ।जिसे अधिक उपयुक्त माना गया । संत थामस एक्वीनस कहते है यदि कोई वस्तु हमेशा से अस्तित्ववान है तो भी यह पूछना अधिक अर्थयुक्त है कि वहाँ क्या कुछ अस्तित्ववान है वहाँ शून्य क्यों नही है अर्थात जगत को शाश्वत मानने पर भी जगत का कारण जानना युक्तिसंगत है । वे अपने तर्क में काल विशेष मे घटित होने वाली श्रृंखलाओं का प्रथम कारण नहीं प्रमाणित करते बल्कि ऐसी सत्ता को प्रमाणित करते है जो अस्तित्व की दृष्टि से प्रथम है ' ईश्वर अनन्त जगत का उसी प्रकार का एक कारण है जैसे एक पैर अपने पदचिन्ह का , चाहे व पैर रेत पर अनन्त समय से पदचिन्ह का निर्माण कर रहे हों ।(६)

इसी प्रकार अरस्तू भी अपने अचालित चालक को समय के आधार पर प्रथम कारण नहीं मानता ।वह मानता है कि विश्व सदैव से अस्तित्ववान था किन्तु जगत में व्याप्त गति और परिवर्तन जगत के परे किसी गति से निगमित होते हैं जो पुनः अपनी गति को ग्रहण करते हैं अचालित चालक ईश्वर से । (७)

इस प्रकार की युक्ति जिस तरह के प्रथम कारण की ओर हमें ले जाती है वह चरम या मूल सत्ता ईश्वर है । कोई व्यक्ति काल विशेष में घटित कारण और कार्य

की श्रृंखला को क्षितिज पर सीधी रेखा (समतल) के रूप में प्रस्तुत कर सकता है और सत्तात्मक प्रत्ययात्मक (अस्तित्व को कारण और कार्य को श्रृंखला को उर्ध्व रेखा के द्वारा । यदि सरल रेखा की श्रृंखला को दोनों तरफ से असीमित रूप से बढ़ाया जाये तो यह आपतिक या संभाव्य वस्तुओं के असीमित संगठन को प्रस्तुत करेगी) क्योंकि आपतिक वस्तुओं की असीमित संख्या कभी भी अपना कारण स्वयं नहीं हो सकती । ठीक वैसे ही जैसे एक संभाव्य वस्तु अपना कारण स्वयं नहीं हो सकती अतः अनन्त की श्रृंखला स्वयं पूर्णतः संभाव्य है । काल विशेष की श्रृंखला यद्यपि अनन्त है फिर भी वह कारण कार्य के एक ऊँचे और भिन्न क्रम पर निर्भर है और उससे सीमित होती है । किन्तु यदि सत्तात्मक श्रृंखला में कोई चरमतत्व या मूल कारण न हो तो समस्त विश्व के अस्तित्व के लिए कोई आधार शर्त या कारण नहीं होगा । अतः इस जगत के किसी भी क्षण में एक अनिवार्य सत्ता को स्वीकार करना होगा जिस पर यह आपातिक या संभाव्य जगत निर्भर है। युक्ति के इस रूप में विश्व की कोई भी वस्तु तब तक अस्तित्ववान नहीं हो सकती जब तक इस बात के लिए पर्याप्त हेतु या कारण न हो । युक्ति के समर्थक विश्व या उसके किसी भी भाग का जो विशेष रूप या गुण है उसकी व्याख्या के लिए एक यथेष्ट आधार की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं क्योंकि व्याख्या के द्वारा (वे सत्तायें जिनके अनस्तित्व की कल्पना बिना आत्मविरोध के संभव है) क्यों और कैसे है बोध गम्य बनती है । हर आपातिक वस्तु के अस्तित्व के लिए इस प्रकार की व्याख्या आवश्यक है । विज्ञान में दी गई वस्तुओं के कारण की खोज भी अधूरी होती है क्योकि वह कारण स्वयं आपातिक होते है अतः उनके पर्याप्त आधार के खोज की भी उतनी ही आवश्यकता होती है जितनी उस वस्तु की जिसका कारण उसे स्वीकार किया गया यही बात संसार की हर आपातिक वस्तु के विषय में सत्य है अतः विश्व को बोधगम्य बनाने के लिए एक ऐसे आधार को मानने की आवश्यकता है जो समस्त संसार की अन्तिम व्याख्या प्रस्तुत कर सके लेकिन जो स्वयं अनिवार्य हो और अपने अस्तित्व का आधार स्वयं हो यही अनिवार्य सत्ता ईश्वर है ।

सन्त थामस एक्वीनस ने संभावना और अनिवार्यता मे सम्बन्धित तर्क को इस प्रकार प्रस्तुत किया -

'हम प्राकृतिक वस्तुओं को देखते है वह संभावित हो भी सकती है और नहीं भी क्योंकि वह उत्पन्न और नष्ट होती है इसलिए संभव है कि वे हों या न हों लेकिन सभी वस्तुओं के लिए जो अस्तित्ववान है उपर्युक्त प्रकार का होना (एक साथ हो और न हो) असंभव है क्योंकि जो किसी भी समय नहीं है वह नहीं है इसलिए अगर प्रत्येक वस्तु नहीं है तो एक समय शून्यता का अस्तित्व होता अर्थात कुछ न होता । यदि यह सत्य है तो अब भी शून्यता का अस्तित्व होना चाहिए । क्योंकि जिसकी सत्ता नहीं है वह सत्तावान तभी हो सकता है जब कोई दूसरी वस्तु पहले से सत्तावान हो । इसलिए अगर किसी समय शून्यता की सत्ता थी तो किसी भी वस्तु के लिए अस्तित्ववान होना असंभव हो जाता और तब वर्तमान काल में भी किसी का अस्तित्व न होता । इसलिए यदि कोई समय ऐसा है जब कुछ भी अस्तित्ववान नहीं है तो किसी भी वस्तु का अस्तित्व में आना असंभव होगा और इस समय शून्य की स्थिति होना चाहिए, लेकिन यह मानना अंसगत है । इसलिए समस्त वस्तुओं की सत्ता मात्र संभावित नहीं है बल्कि कोई सत्ता ऐसी है जिसका अस्तित्व अनिवार्य है । अब प्रत्येक अनिवार्य वस्तु की या अनिवार्यता का कोई दूसरी वस्तु कारण होगी या नहीं होगी । यह असंभव है कि इस अनिवार्य रूप से अस्तित्ववान वस्तुओं की अनिवार्यता की कारणात्मक श्रृंखला अनन्त तक जा सके क्योंकि इसमें निमित्त कारण की खोज में उत्पन्न अनवस्था दोष के समान ही अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा । अतः हम यह स्वीकार करते है कि एक ऐसी सत्ता अवश्य है जिसकी सत्ता स्वतः सिद्ध है और अपनी अनिवार्यता के लिए उसे किसी अन्य कारण की आवश्यता नहीं है बल्कि वह अन्य वस्तुओं की अनिवार्यता का कारण है । इसी सत्ता को मनुष्य ने ईश्वर कहा ।(८)'

स्पष्ट है कि एक्वीनस काल की दृष्टि से स्वतः सिद्ध अनिवार्य सत्ता को प्रथम कारण के रूप में नहीं स्वीकार करते बल्कि वे तो यह मानकर चलते है कि जगत सदैव से अस्तित्ववान है। इसी तर्क को अन्य प्रकार से भी प्रस्तुत किया गया - ' यदि प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व मात्र संभावित है अर्थात वस्तुएँ इस प्रकार की है कि उनकी उत्पत्ति और नाश होता है और यदि जगत हमेशा से अस्तित्ववान है तो अब तक कुछ भी अस्तित्व में नहीं होगा क्योकि अनन्त अतीत के किसी क्षण में सभी वस्तुएँ एक साथ अनस्तित्ववान होगी अर्थात शून्यता की स्थिति होगी ।नियमानुसार शून्य से शून्य की ही उत्पत्ति हो सकती है किन्तु हम अस्तित्ववान है इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु मात्र संभावित अस्तित्व वाली नहीं है, कुछ सत्ता ऐसी है किन्तु वहीं अन्त नहीं है ।''

अनिवार्य सत्ता से एक्वीनस का तात्पर्य उस सत्ता से नहीं है जिसका अस्तित्व शाश्वत् व अनन्त नहीं हो सकता । उसके अनुसार जगत में अनिवार्यतः ऐसी सत्तायें है जो शायद अस्तित्व न रखती लेकिन उनका निमार्ण क्योंकि एक बार कर दिया गया है अतः वे अस्तित्ववान हुये बिना नहीं रह सकती । उदाहरण के लिए मनुष्य की आत्माएं और देवदूत । लेकिन इस प्रकार की अनिवार्य वस्तुओं की श्रृंखला अनन्त तक नहीं जा सकती अतः एक मूल और स्वयं सिद्ध अनिवार्य सत्ता का ,अस्त्तिव अवश्य है जिसके ऊपर अन्य सभी वस्तुएँ (संभावित और अनिवार्य अस्तित्व वाली) अपने अस्तित्व के लिए निर्भर है । वही सत्ता ईश्वर है । एक्वीनस ने कहा ईश्वर के अस्तित्व का उसके सार से तादात्म्य है जिसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वर अस्तित्ववान है इसका बिना आत्म व्याघात के खंडन नहीं हो सकता । अतः अनेक व्याख्याकार उसके तर्को में तार्किक अनिवार्यता नहीं बल्कि एक प्रकार की वास्तविक अनिवार्यता देखते है जो उसके स्वतः सिद्ध स्वरूप के कारण है और ईश्वर के इस स्वतः सिद्ध स्वरूप तक हम वस्तुओं की प्रकृति के माध्यम से पहुँचते हैं ।

यद्यपि एक्वीनस का यह मत आलोचना का विषय रहा और आलोचको ने कहा कि केवल तर्कवाक्य ही अनिवार्य हो सकते है वस्तुएँ नहीं अर्थात ' ईश्वर अनिवार्यतः अस्तित्ववान है, यह तर्कवाक्य अनिवार्य हो सकता है किन्तु इससे ईश्वर की तथ्यात्मक अनिवार्यता नहीं सिद्ध होती ।

थामस एक्वीनस अपने तीनों तर्को से इसे स्पष्ट करता है प्रथम तर्क में वह कहता है कि अगर कोई प्रारम्भिक अचालित चालक नहीं है तो कोई गति संभव नहीं है । दूसरे तर्क में सिद्ध करता है कि प्रारम्भिक निमित्त कारण न हो तो कारण कार्य सम्बन्ध नहीं है । तीसरे तर्क में स्पष्ट करता है कि यदि कोई प्रारम्भिक अनिवार्य सत्ता नहीं है तो किसी भी अन्य वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता । क्योकि जगत में गति है , कारण कार्य सम्बन्ध है और वस्तुओं का अस्तित्व है अतः ईश्वर का भी अनिवार्य अस्तित्व है ।

यह तर्क ईश्वर को कारण रूप में तभी खोज पाता है जब वह मानकर चलता है कि यह विश्व ज्ञेय है लेकिन उन लोगों के लिए जो इस विषय पर बौद्धिक परीक्षण के पक्षपाती नहीं है या जिनके अनुसार विश्व अकारण है (ज्याँ पाल सार्त्र) या विश्व बस खेल है । कुछ नहीं सिद्ध कर पाता ।

आलोचना

कारणात्मक तर्क के विरूद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह की जाती है कि यदि प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण है तो ईश्वर का भी कोई न कोई कारण होना चाहिए। लेकिन विश्वमूलक तर्क प्रस्तुत करने वाले विचारकों के पास इस प्रश्न का कि ईश्वर का क्या कारण है ? कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं है ।

जब ईश्वरवादी ईश्वर को इस जगत का तथा अन्य सभी वस्तुओं का कारण कहते है तो वे स्वाकार करते है कि समस्त वस्तुएँ किसी एक सत्ता पर निर्भर है और वह सत्ता आवश्यक रूप से उत्पत्ति और विनाश, देश एवं काल से परे हैं । अतः यह प्रश्न कि ईश्वर की उत्पत्ति का क्या कारण है निरर्थक सिद्ध हो जाता है । क्योंकि ईश्वर को वे शाश्वत एवं स्वयंभू सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं ।

ईश्वरवादियों का यह तर्क कि ईश्वर का कोई कारण नहीं है वह स्वयंभू तथा शाश्वत है उनकी अपनी ही मान्यता के विरूद्ध है । उन्होने अपना तर्क इस मान्यता से प्रारम्भ किया था कि कोई वस्तु अकारण नहीं हो सकती । यदि उनकी यह मान्यता सत्य है तो ईश्वर को अकारण नहीं माना जा सकता । स्पष्ट है कि ईश्वर को अकारण मानकर वे स्वयं ही अपने कारणात्मक प्रमाण का खंडन करते हैं ।

कारणात्मक तर्क के विरूद्ध गम्भीर प्रकृति का अरोप यह है कि यह संहति दोष से युक्त है जिसके अनुसार जो कुछ अंगों या अवयवों के लिए सत्य है उसे पूर्ण के लिए भी सत्य मानना चाहिए । जैसे किसी मशीन के अलग-अलग पुर्जे यदि हल्के है तो पूरी मशीन भी हल्की होगी । बर्टेन्ड रसेल ने कहा - यह कोई आवश्यक नहीं है कि यदि विश्व में प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई कारण है तो विश्व का भी कोई कारण होना चाहिए यह लगभग उसी तरह की स्थिति है जैसे हम कहे कि प्रत्येक मनुष्य को एक माता है अतः पूरी मनुष्य जाति की भी एक ही माता होना चाहिए । इस युक्ति के समान कारणात्मक युक्ति भी संहति दोष से युक्त है । इस तर्क को प्रस्तुत करने वाले विचारकों ने यह मान लिया कि अन्य वस्तुओं के समान यह विश्व भी एक वस्तु है जिसके अस्तित्व का भी कोई न कोई कारण होना आवश्यक है । लेकिन विश्व एक समूहवाचक संज्ञा है जिसमें देश काल सहित समस्त भौतिक वस्तुएँ, पेड़, पौधे, तथा प्राणी सम्मिलित है । ऐसी स्थिति में विश्व में सम्मिलित विभिन्न वस्तुओं के भिन्न-भिन्न कारण की खोज तो हो सकती

है । लेकिन विश्व को वस्तु मानकर उसके किसी एक कारण की खोज असंगत है । क्योंकि किसी समूह में यदि दस वस्तुएँ है और सभी के कारण ज्ञात हैं तो यह पूछना निरर्थक है कि उस समूह का क्या कारण है । क्योंकि समूह उस दस वस्तुओं के संघात के अतिरिक्त कुछ नहीं है ।

ईश्वरवादी अपने तर्क की सुरक्षा में कहते है संहति दोष वस्तुगत है आकारगत नहीं अर्थात यह दोष वाक्य में प्रस्तुत विचारों या सामग्री के स्वरूप पर आधारित होता है । इस तथ्य से कि ' कालीन का प्रत्येक धागा हरा है ' यह निष्कर्ष निश्चित रूप से निकाला जा सकता है कि कालीन हरी है लेकिन इस तथ्य से कि पुस्तकालय की प्रत्येक पुस्तक पाँच सौ पृष्ठों की है यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि पुस्तकालय में पाँच सौ पृष्ठ हैं । यद्यपि दोनों अनुमान का आकरिक दृष्टि से एक रूप है - अर्थात् दोनों में कहा गया - अगर अ के प्रत्येक सदस्यों के बारे में ब सत्य है तो अ के बारे में भी व सत्य होगा । अतः विभिन्न उदाहरणों के आधार पर यह कहा जाना कि समूह के सदस्यों के अतिरिक्त समूह के कारण हो खोज जैसे व्यर्थ है उसी प्रकार विश्व के विभिन्न पदार्थो के कारणों की खोज से परे विश्व के कारण की खोज भी व्यर्थ है उचित नहीं है ।

ह्यूम द्वारा कारणात्मक तर्क की आलोचना

यदि ए और बी में कारणात्मक सम्बन्ध है तो वस्तुतः जो हम हमेशा देखते है वह है बी का ए के बाद आना या ए का बी से पहले आना । कारणात्मक सम्बन्ध में सातत्य और पूर्वापरता, यह दो तथ्य ही हमारे अनुभव में आते है । लेकिन यह भी संभव है कि ए व बी में सातत्य हो और बी ए से पहले आये किन्तु फिर भी इससे स्पष्टतः यह नहीं निगमित होता कि ए बी का कारण है । ह्यूम ने कहा - एक वास्तविक कारणात्मक सम्बन्ध में सातत्य और पूर्वापर इन दो के अलावा भी कुछ होना चाहिए -

'क्या हमें कारणता के पूर्ण प्रत्यय के रूप में सातत्य और पूर्वापरता के सम्बन्धों से ही सन्तुष्ट हो जाना चाहिए ? नहीं । हो सकता है एक वस्तु व दूसरी में सातत्य भी हो और उससे पहले भी आये, बिना उसका कारण हुए ' अनिवार्य सम्बन्ध को भी ध्यान में रखना चाहिए और वह सम्बन्ध पहले बताये गये सम्बन्धों से अधिक महत्वपूर्ण है ।'(९)

अनिवार्य सम्बन्ध के कारण ही ह्यूम ने कारणता सम्बन्धी पारम्परिक विचारों का मार्ग त्यागा । पारम्परिक रूप में कारणता का नियन एक ऐसा तत्वमीमांसीय सिद्धान्त है जो वास्तविकता के मूल नियमों में से एक है और बाह्य जगत में वस्तुओं को सार्वभौम और अनिवार्य सम्बन्ध में बाँधनें वाली शक्ति है । ह्यूम जो कि अनुभववादी विचारक था उसने इस प्रकार की कारणात्मक अनिवार्यता को कभी भी स्वीकार नही किया । उसके लिए कारणता एक वस्तु का दूसरी वस्तु से निरन्तर संयोजन मात्र है इससे अधिक और कुछ नहीं । हमारे अनुभवों में सार्वभौमिकता अनिवार्यता और निश्चितता उतनी ही हो सकती है जितनी आनुभविक वाक्यों में । हम एक वस्तु का दूसरी वस्तु से अनिवार्य सम्बन्ध नहीं जान सकते है जो जान सकते है वह सिर्फ इतना ही कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु के क्रम में निरन्तर सातत्य है ।

ह्यूम कारणात्मक अनिवार्यता को अस्वीकार नही करता उसकी अस्वीकृति मात्र यह है कि कारणता जानी नहीं जा सकती ।

' मैने कभी भी यह निरर्थक कथन नहीं किया कि कोई वस्तु अकारण या बिना कारण उत्पन्न हो सकती है , मैने केवल यह कहा है कि उक्त तर्कवाक्य की सत्यता की अनिवार्यता अन्तःप्रज्ञा या प्रत्यक्ष से नहीं जानी जा सकती है ।' इसको जानने का अन्य साधन क्या है? इस संदर्भ में ह्यूम कहता है - बौद्धिक रूप से अप्रामाणिक विश्वास, परम्पराओं को स्वीकार करने की आदत, भावनायें या मानवीय स्वभाव ही वह

ह्यूम के इस स्वाभाविक विश्वास के सिद्धान्त में मन में दो वस्तुओं के अनुभवों को अनिवार्य कारणात्मक सम्बन्ध में जोड़ने वाली शक्ति एक अनुभव से दूसरे अनुभव तक जाने वाली आदत में सन्निहित है । इस प्रकार कारणात्मक अनिवार्यता एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त सिद्ध होता है न कि तत्वमीमांसीय । यद्यपि मनोवैज्ञानिक रूप से भी इस जगत के विषय हमारे चिन्तन के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण है (१०)।

वे शक्तियाँ और बल जिसके द्वारा प्रकृति का प्रवाह संचलित होता है हमारे लिये पूर्णतः अज्ञेय है तथापि हमारे विचार और प्रत्यय प्रकृति के अनेक कार्यो के साथ चलते हैं । परम्परा वह सिद्धान्त है जिसके द्वारा विचारों व प्राकृतिक ,बलों व शक्तियों के मध्य संवाद (अनुरूपता)स्थापित किया जाता है । इसलिए परम्परा हमारी प्रजाति को सुरक्षित रहने और हमारे कर्मो को सुव्यवस्थित रखने के लिए मानव जीवन की प्रत्येक स्थिति और परिस्थिति में अनिवार्य है । ''(११)

ह्यूम ने स्वतः पारम्परिक तत्वमीमांसीय अनिवार्यता को चुनौती देते हुये कहा कि सारे अनिवार्य सत्य वस्तुतः विचारों या प्रत्ययों के तार्किक अनिवार्य सम्बन्ध है । यहाँ तक को कारण कार्य सम्बन्ध भी तत्वमीमांसीय अनिवार्यता या वास्तविक अनिवार्यता न होकर केवल दो प्रत्ययों के मध्य तार्किक अनिवार्य सम्बन्ध है ।

अतः यदि प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए हम इस विषय में निश्चित नहीं है तो विश्व का भी कोई कारण होना चाहिए यह विषय भी अनिश्चित मानना पड़ेगा ।

यह प्रश्न कि क्या विश्व कार्य है ? इस उत्तर की खोज हमें कान्ट के बिचारों की ओर अग्रसर करती है ।

कांट द्वारा कारणात्मक तर्क की आलोचना

हम सभी लोग-
सारे कुत्ते भौंकते हैं या

सभी विस्तारवान द्रव्य स्थान घेरते है - इन तर्क वाक्यों की सत्यता के प्रति निश्चित है क्योंकि यह विश्लेषणात्मक तर्कवाक्य या पुर्नरूक्ति है ।(विश्लेषणात्मक तर्कवाक्य वह तर्कवाक्य है जिसक उद्‌देय विधेय का ही पुनरूक्ति है) अर्थात विधेय पूर्वोक्त उद्‌देश्य का इस प्रकार पुर्नकथन होता है जिसका निषेध बिना आत्मव्याघात के संभव नहीं है । उनकी सत्यता विश्लेषणात्मक एवं प्रागनुभविक है लेकिन कांट कुछ संश्लेषणात्मक वाक्यों (जिनमें विधेय पूर्वाक्त उद्‌देश्य में कुछ नया जोड़ते है) को भी सार्वभौम और अनिवार्य मानता है अर्थात् यह ह्‌यूम और उसके समकालीन समस्त दार्शनिकों के विरूद्ध यह विश्वास करता है कि प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक सत्य संभव है (ऐसे सत्य जो प्रागनुभविक हो इस कारण अनिवार्य हो, वास्तविक हो, इस कारण नवीन जानकारी प्रदान करने वाले हो । वह विश्वास करता है कि ' प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए इसी प्रकार का प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य है । ह्‌यूम के कारणता सिद्धान्त का खंडन करते हुए कांट कहता है :-

कारणता का मात्र प्रत्यय इतने सुस्पष्ट रूप से किसी कार्य के साथ इसके सम्बन्ध की अनिवार्यता और इस नियम की अपरिहार्य सार्वभौमता को अपने में समाहित किये रहता है कि यदि हम ह्‌यूम की भाँति कारणता के प्रत्यय को किसी एक घटना और उसकी पूर्ववर्ती घटना के पुनः साहचर्य और प्रत्ययों को सम्बन्धित करने की परम्परा -(ऐसी परम्परा जो पुनः पुनः साहचर्य को उत्पन्न और निर्मित करें अतः मात्र विषयिनिष्ठ आवश्यकता बना दें) से निगमित करने का प्रयास करें तो यह पूरी तरह नष्ट हो जायेगी ।(१२)

यहाँ प्रश्न उठता है कि कांट कारणता को एक अनिवार्य व सार्वभौम सिद्धान्त के रूप में कैसे स्वीकार करता है ?

कांट के अनुसार- प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होना चाहिए ' इसके लिए तर्क यह है कि हमारे मन में ही कारणता का प्रत्यय इस प्रकार निर्मित है कि वह मन की सत्यता को प्रकट करने का एक तरीका बन गया है । कारणता बुद्धि के प्रागनुभविक विकल्पों में से एक है जिनके माध्यम से देश और काल जो स्वयं प्रज्ञा द्वारा प्रदत्त है - बोधगम्य अनुभवों के रूप में व्यवस्थित किये जाते है , यह अनुभव की संरचना करता है और उसका आवश्यक उपकरण है अर्थात जिस भी किसी चीज का हम अनुभव करते है उसका एक अंश है (१३)

इस प्रकार कांट कारणता के प्रत्यय को दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में ह्यूम के सन्देहवाद से बचा ले जाता है और साथ ही साथ यह स्पष्ट करता है सामान्य प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य किस प्रकार संभव है कारणता और द्रव्य के प्रागनुभविक प्रत्यय आनुभविक जगत के परे कोई प्रभाव नहीं रखते और इसी आधार पर कारणता युक्ति का खंडन हो जाता है ।

कांट कहता है कि यदि कारणता अनुभव के एक पहलू का निमार्ण करने वाला देशिक कालिक सम्बन्ध है और यदि ईश्वर देश काल से परे है तो ईश्वर पर कारणता का प्रत्यय कैसे लागू किया जा सकता है । यदि ईश्वर उत्पन्न और नष्ट होने वाली सत्ता नहीं है तो वह किसी भी अन्य सत्ता का कार्य नहीं हो सकती । कांट के अनुसार इसीलिए ईश्वर किसी का कारण नहीं हो सकता ।

इस प्रकार कारणता युक्ति उचित नहीं है क्योंकि यह कारणता के प्रत्यय को जो केवल व्यावहारिक या अनुभाविक जगत पर लागू किया जा सकता है - व्यावहारिक

जगत से परे लागू करता है जहाँ इसे लागू करना पूरी तरह अंसभव है , इस प्रकार ईश्वर और प्राकृतिक कारणों की श्रृंखला के मध्य बौद्धिक रूप से न पटने वाली खाई है।''(१४)

कांट कारणता के प्रत्यय को आनुभविक सीमाओं के परे जाकर लागू करने के कारण उत्पन्न हुई समस्याओं के विरोधों की एक श्रृंखला के रूप में अभिव्यक्त करता है । विरोध तब होता है जब एक ही युक्ति से दो विरोधी निष्कर्ष निगमित किए जा सके और चूँकि दोनो का ही निगमन वैध है अतः दोनो ही सत्य सिद्ध हो सके । इसका अर्थ है वह युक्ति दोषपूर्ण है कांट इसी स्थिति को कारणता युक्ति में व्यक्त करता है -

कारणता युक्ति में प्रथम विरोध वह तर्क की इस मान्यता में व्यक्त करता है कि इस विश्व का एक विशेष समय में प्रारम्भ हुआ है ।

कांट के अनुसार- विश्व काल विशेष में उत्पन्न हुआ है इसे एक वैध युक्ति से स्पष्ट किया जा सकता है - अगर जगत काल विशेष में उत्पन्न नहीं हुआ होता तो अनन्त वर्ष बीत चुके होते लेकिन अनन्त वर्षो का बीत चुकना या समाप्त हो जाना स्वतः व्याघात है अतः विश्व एक विशेष समय में आरम्भ हुआ है यह वैध रूप से निगमित होता है । लेकिन इस निष्कर्ष का विरोधी अर्थात् काल विशेष में उत्पन्न नहीं हुआ यह भी निगमित किया जा सकता है यदि विश्व का प्रारम्भ काल विशेष में हुआ तो प्रारम्भ से पूर्व के खाली समय में कुछ भी नहीं था अर्थात शून्य था और शून्यता अस्तित्व को उत्पन्न नहीं कर सकती अतः जगत सदैव से अस्तित्ववान था उसका आरम्भ काल विशेष में नहीं हुआ है ।

ह्यूम और कांट दोनों ही कारणता प्रत्यय को आनुभविक वस्तुओं को सम्बन्धित करने के एक प्रकार के रूप में देखते है । ह्यूम के लिए कारणता प्रत्यय मात्र मनोवैज्ञानिक है - एक आदत परम्परा या कल्पना । और कांट के लिए यह एक बुद्धि

विकल्प के रूप में प्रत्यय है । कांट के अनुसार कारणात्मक युक्ति बोधगम्य जगत में एक के बाद एक आने वाले कारणों की अनन्त श्रृंखला को असंभव मानने वाले विचार पर आधारित है । जबकि कारण कार्य की श्रृंखला को अनन्त कहना अयुक्ति संगत नहीं कहा जा सकता । उदाहरण के लिए हम आगे तथा पीछे की और अंनत समय की कल्पना कर सकते हैं । इसी प्रकार हम यह भी कल्पना कर सकते है कि संख्या की छोटी से छोटी तथा बड़ी ईकाई का कोई अन्त नहीं है । अतः कारणता की अनन्तता तर्कबुद्धि के विरूद्ध नहीं है इस प्रकार कारणपरक तर्क का मूल आधार ही समाप्त हो जाता है ।

कांट द्वारा दिये गये कारणता युक्ति के विश्लेषण से अधिक से अधिक एक सर्वाधिक वास्तविक सत्ता का विचार या प्रत्यय मात्र ही सिद्ध होता है इस विचार या प्रत्यय की वास्तविक सत्ता सिद्ध करने के लिए हमें प्रत्यय सत्ता युक्ति की सहायता लेनी पड़ती है। कांट के अनुसार- ' कारणात्मक युक्ति अन्ततः आधारित है प्रत्यय सत्ता युक्ति पर और चूँकि प्रत्यय-सत्ता युक्ति दोषयुक्त है अतः कारणात्मक युक्ति को भी दोषपूर्ण मानना पड़ेगा। (१५)

इस प्रकार स्पष्ट है कि ह्यूम या अनुभववादी हमें ऐसे कारणता का प्रत्यय प्रदान करता है जो वास्तविक जगत को स्पष्ट तो करता है किन्तु अनिवार्य और सार्वभौम नहीं है, दूसरी और कांट कारणता का ऐसा प्रत्यय प्रदान करता है जो अनिवार्य निश्चित और सार्वभौम तो है किन्तु उसका सम्बन्ध केवल व्यवहारिक जगत (बुद्धि प्रत्ययों से निर्मित जगत) से है पारमार्थिक जगत से नहीं दोनों ही स्थितियों में ईश्वर को जगत के कारण रूप में स्थापित नहीं किया जा सकता ।

इन आपत्तियों की उपेक्षा कर यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाए कि ईश्वर ही इस विश्व का प्रथम कारण है तो भी इससे उस ईश्वर का अस्तित्व नहीं प्रमाणित

होता जिसे ईश्वरवादी सर्वज्ञ , सर्वशक्तिमान, शाश्वत कहते है । अतः कारणात्मक तर्क भी ईश्वर के अस्तित्व को तर्क संगत रूप में प्रमाणित करने में असमर्थ हैं ।

सन्दर्भ

१. सेन्ट थामस एक्वीनस सुम्मा थियॉलॉजिका पार्ट वन,क्वा ११ आर्ट. ३ इन बेसिक राइटिंग्स आफ सेन्ट थॉमस एक्वोनस एडीटेड एन्टन सी पेगीज (न्यूयार्क रेन्डम हाउस,) संदर्भित गॉड एन्ड रीजन) पृ० ४४

२. सेन्ट बोनावेन्चर ऑन दि इटरनिटी ऑफ दी वर्ल्ड, अनुवादक सिरिल वॉलर्ट, मार्कवेट यूनिवर्सिटी प्रेस. १९६४ ।
संदर्भित गॉड एन्ड रीजन पृ० ४८,एडिटेड बॉय मिलर ।

३. गॉड एन्ड रीजन, एडिटेड, बॉय मिलर १९७२ मैक्मिलन पब्लिशिंग क० पृ० ४८

४. ए०एस० एडिंगटन, दि नेचर ऑफ दि फिजिकल वर्ल्ड(न्यूयार्क मैक्मिलन १९२८) पृ० ८३

५. रसेल बी०, दि सांइटिफिक आउटलुक (लंदन जार्ज एलन एन्ड अनविन १९३१) पृ० १२२

६. सेन्ट थामस एक्वीनस- सुम्मा कॉन्ट्र जेन्टाइल्स १.४३ अनुवादक एल्टन सी पेगी.(गार्डन सिटी. एन. वाई. इमेज बुक्स १९५५) कोटेड बाय मिलर इन गॉड एन्ड रीजन पृ०.५

७. अरस्तु - मेटाफिजिक्स ६ कोटेड बॉय मिलर पृ० ५१

८. एक्वीनस थामस . सुम्मा थियॉलॉजिका
कोटेड बॉय मिलर इन गॉड एण्ड रीजन पृ० ५३

९. ह्यूम डेविड- ए ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर एडिटेड एल०ए० सेल्वी बिगे (ऑक्सफोड इग्लैंड क्लेन्रडन प्रेस १८९६) पृ० ७७

१०.	ह्यूम डेविड . लेटर टू जॉन स्टीवर्ट, इन नार्मन कैम्प स्मिथ दि फिलॉसॉफी ऑफ डेविड ह्यूम (लंदन मैक्मिलन १९४१) पृ० ४१३

११.	डेविड ह्यूम. एन. इन्क्वायरो कन्सर्निगं ह्यूमन अन्डरस्टैन्डिग एडिटेड एल. उ. सेल्वी बोर्गे) पृ० ५४

१२.	इमैनुअल कांट . क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन अनु० नार्मन कैम्प स्मिथ लंदन मैक्मिलन, १९२९) पृ० ४४.

१३.	इमैनुअल कांट. प्रोलेगोमेना टू एनी फयूचर मेटाफिजिक्स अनु. लेविस डब्ल्यू बेक (न्यूयार्क लाइब्रेरी ऑफ लिबरल आर्ट १९५१) पृ० ४२

१४.	इमैनुअल कांट. शुद्ध बुद्धि को मीमांसा पृ० ५११
अनुवादक नार्मन केम्प स्मिथ ।

१५.	वही पृ० ५०९

३.३ प्रयोजनमूलक युक्ति

जगत की बौद्धिकता, व्यवस्था और प्रयोजनमूलकता के कारण के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने वाली यह युक्ति प्रयोजनमूलक युक्ति कहलाती है । इसको संरचनामूलक युक्ति भी कहते है क्योंकि यह जगत की स्पष्ट संरचना के आधार पर एक संरचनाकार का अस्तित्व सिद्ध करती है । ईश्वर के अस्तित्व हेतु प्रतिपादित समस्त युक्तियों में यह युक्ति सर्वाधिक लोकप्रिय है । इस युक्ति के प्रतिपादक विश्व की व्यवस्था से प्रभावित थे उनका मानना था कि यह विशाल क्रमबद्ध और प्रयोजनमूलक क्रिया कलाप मात्र संयोग या अणु परमाणुओं का आकस्मिक गठन नहीं है वल्कि वौद्धिक है और यह वौद्धिकता किसी मस्तिष्क की उत्पत्ति है । यह विश्व मानवीय मस्तिष्क की उत्पत्ति नहीं है अतः विश्व की यह व्यवस्था संकेत करती है बुद्धिमान निमार्णकर्ता (शिल्पी) की ओर ईश्वरवादी जिसे ईश्वर कहते है । इस प्रकार यह युक्ति विश्व को विशेष लक्षणों मे युक्त मानकर यह सिद्ध करती है कि इस विश्व का निमार्ण ईश्वर ने किया है । विश्व के विशेष लक्षण ईश्वर के अस्तित्व का स्पष्ट निर्देश करते हैं ।

इस युक्ति का मूल दार्शनिक साहित्य में प्लेटों और अरस्तू की कृतियों में है , जिसमें क्रम और प्रयोजन ईश्वरीय सत्ता को सिद्ध करने के लिए मुख्य तथ्य माने गये हैं। ''फिडो'' के एक अनुच्छेद में प्लेटों विश्व की यांत्रिक व्याख्याओं से उत्पन्न प्रारम्भिक निराशा को, एनेक्जेगोरस के सिद्धान्त में मन (चैतन्य) सब पर शासन करने वाला शासक है जिसमें प्रकृति के अप्रकट रहस्यों के पर्याप्त कारण है - कि खोज से उत्पन्न हुई परवर्ती प्रसन्नता को अभिव्यक्त करता है । अरस्तू के वाद सन्त टामस एक्वीनस ने इस युक्ति को सुस्पष्ट रूप में प्रयुक्त किया । इस प्रकार यह युक्ति प्लेटों अरस्तू के वाद स्टोइक दार्शनिक की कृतियों में , मध्य युग में सन्त थामस एक्वीनस तथा आधुनिक युग में विलियम पेलें द्वारा प्रतिपादित की गई । इसके अतिरिक्त जेम्स मार्टिनो एफ०आर० टेनेन्ट और रिचर्ड टेलर ने भी इस युक्ति को स्वीकार किया । युक्ति की वैधता को अन्तिम रूप में न स्वीकार करने वाले ह्यूम और कांट भी इस युक्ति के प्रति उदार भाव रखते-हैं।

सन्त थामस एक्वीनस ने ईश्वर अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए पाँच प्रमुख तर्क प्रस्तुत किये । अपने पाँचवें तर्क में एक्वीनस उद्देश्यमूलक युक्ति को इस प्रकार व्यक्त करते हैं :-

हम देखते कि वस्तुयें जो ज्ञानहीन है जैसे प्राकृतिक पदार्थ किसी उद्देश्य के लिये कार्य करते है और यह उनके सदैव या लगभग सदैव एक ही प्रकार से कार्य करने से जिससे कि वे सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त कर सकें सिद्ध होता है । अतः यह स्पष्ट है कि वे अपना उद्देश्य संयोग से नहीं प्राप्त करते बल्कि निश्चित क्रम में प्राप्त करते हैं । अब जिसमें ज्ञान न हो वह एक निश्चित लक्ष्य की ओर नहीं बढ़ सकता जब तक कि वह किसी ज्ञान युक्त और बुद्धिमान सत्ता द्वारा परिचालित न हो- जैसे एक तीर एक तीरन्दाज द्वारा ही परिचालित होता है । अतः एक बुद्धिमान सत्ता का अस्तित्व है जिसके द्वारा सभी प्राकृतिक वस्तुये अपने लक्ष्य की ओर संचालित है - और इस सत्ता को हम ईश्वर कहते है । (१)

इस उद्धरण में एक्वीनस युक्ति को दो तथ्यों पर आधारित करते हैं :- (१) वस्तुओं का लक्ष्यों की ओर अग्रसर होना (२) इस आधार पर निर्देशित (लक्ष्यों का) करने वाली सत्ता का अनुमान ।

ह्यूम ने (१७११-१७७६) अपनी रचना ' डायलॉग कन्र्सनिगं नेचुरल रिलिजन में उद्देश्यमूलक युक्ति को इस प्रकार व्यक्त किया -

' ब्रह्मांड के चारों ओर दृष्टिपात करों, इसके प्रत्येक भाग और सम्पूर्णत्व पर ध्यान दो, तुम इसे एक विशाल यंत्र पाओगे जिसे असंख्य लघुतर उपयंत्रों में बाँटा जा सकता है और प्रत्येक लघु यन्त्र में भी असंख्य लघुतर उपयंत्र पाये जाते हैं जिनका लेखा लेना मानव बुद्धि से बाहर है । जो इन सब यंत्रों और उनके सूक्ष्म भागों की समायोजना अथवा समन्वय पर ध्यान देता है वह आश्चर्यचकित हो जाता है । मानव निर्मित यंत्रों और उनकी प्राकल्पना, विचार, प्रज्ञा और बुद्धि की अपेक्षाकृत उनसे कहीं अधिक विश्व में साधन - उद्देश्य की समायेजना देखने में आती है (२)

ह्यूम कहते हैं कि साध्य और साधन के बीच पाई जाने वाली अनुकूलनशीलता की मनुष्य के अविष्कारों से समानता है किन्तु यह अनुकूलनशीलता उससे अधिक श्रेष्ठ है। सादृश्यता के नियमानुसार, परिणाम एक दूसरे के समान है अतः उसके परिणाम कारण में साम्य होगा । इसी आधार पर स्वीकार किया गया कि ईश्वर की शक्तियाँ मानव से समानता रखते हुये भी उससे श्रेष्ठ व अनुपात में बहुत अधिक है ।

कांट आयोजन युक्ति का प्रस्तुतिकरण इस प्रकार करता है - (यद्यपि वह आगे चलकर इसकी आलोचना से सिद्ध करता है कि यह युक्ति मात्र एक आयोजक की सत्ता सिद्ध करती है किन्तु वह आयोजक ईश्वर ही हो ऐसा नहीं सिद्ध होता ।)

''यह संसार हमारे सामने प्रस्तुत करता है , विविधता, व्यवस्था और सोद्देश्यता का ऐसा अपरिमेय मंच जिसमें प्रदर्शित है इस संसार का सीमाहीन विस्तार और इसके अंशो की असीमित विभाज्यता, हमारी कमजोर वुद्धि द्वारा अर्जित ज्ञान के रहते हुये भी हम ऐसे अनेक अपार और महान चमत्कारों का साक्षात्कार करते हैं कि उनके आगे हमारी वाणी की शक्ति छिन जाती है , सभी संख्यायें अपनी माप की शक्ति खो वैठती है और हमारे विचार स्वयं सारी निश्चयात्मकता से हाथ धो वैठते है । ऐसी दशा में पूरे विश्व के बारे में हमारा निर्णय एक मौन विस्मय वन कर रह जाता है लेकिन इसी कारण वह अधिक अर्थ पूर्ण भी । हर जगह हम कारण और कार्य, साध्य और साधन का सिलसिला देखते हैं और देखते हैं उत्पादन और विघटन में नियमितता । यह सारा संसार शून्य के गर्त में समा जायेगा यदि इसका कोई उपयुक्त अवलम्ब या आश्रय न हो । यह अवलम्ब हम ऐसी सत्ता के रूप में अंकित करते है जो एक तत्व में समस्त पूर्णतायें सम्मिलित किये हुए हैं। '(३)

इस प्रकार यह युक्ति विश्व की विशेषताओं को अपना आधार वनाकर सिद्ध करती है कि विश्व में अमुक-अमुक विशेषतायें है इसलिए एक दैवी आयोजक का अस्तित्व है । जिस प्रकार भूविज्ञानीय साक्ष्य के आधार पर पिछले लाखों वर्षों में पृथ्वी की सतह में होने वाले परिर्वतन का और उसके स्वरूप का अनुमान कर सकते है उसी प्रकार विश्व

की विशेषताओं के आधार पर उसके आयोजक के अस्तित्व और स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है । यह युक्ति स्वीकार करती है कि विश्व व्यवस्था से युक्त है और यह व्यवस्था आयोजन का परिणाम है । आकाश में जो लाखों तारे हैं वे एक व्यवस्थित तरीके से व्यवहार करते हैं वे कुछ भौतिक नियमों का अनुसरण करते है जो समान रूप से सभी पर लागू होते हैं , और पृथ्वी पर जो लाखों प्रकार के जीव हैं वे भी इसी तरह नियमों का अनुसरण करते है यह सब चीजें किसी आयोजन के विना अस्तित्व में कैसे आ सकती है ? मिट्टी के टुकड़े अपने आप संयुक्त होकर ईटें नहीं वनाते या ईटें स्वतः मिलकर मकान का निमार्ण नहीं कर देती । इसके लिए मानव की आयोजनशीलता जरूरी है । इसी प्रकार भौतिक द्रव्य के कण स्वतः मिलकर जीवित कोशिकाओं का निर्माण नही कर सकते अथवा कोशिकाएँ पृथ्वी पर निवास करने वाले जटिल जीवित शरीरों का निमार्ण नहीं कर सकती । ऐसी व्यवस्था किसी आयोजक के आयोजन का ही परिणाम हो सकती है। जो उपादान को उपयुक्त आकृति देकर उन्हें वनाता है । और क्योंकि जीवित देहो के निमार्ण के पीछे मानवीय बुद्धि नहीं है इसलिए उसे दैवी वुद्धि (ईश्वर) द्वारा निर्मित होना चाहिए ।' (४)

प्रयोजनमूलक युक्ति की सर्वाधिक प्रसिद्ध अभिव्यक्ति विलियम पेले द्वारा (१७४३-१८०५) में हुई । जिसने १८०२ में अपनी पुस्तक नेचुरल थियोलोजी और एविडेन्स ऑफ द एक्जीस्टेन्स एण्ड एट्रीव्यूटस ऑफ द डीटी कलेक्टेड फार्म द ऐपीयरेन्स आफ नेचर में घड़ी के दृष्टान्त द्वारा प्रयोजनमूलक तर्क को स्पष्ट करने का प्रयास किया । उसने कहा - यदि हम कल्पना करें कि यहाँ वहाँ घूमते हुये हमें एक चमकदार वस्तु जमीन पर गिरी हुई प्राप्त हो जाती है । पास से देखने पर उसमें अत्यन्त सूक्ष्म यांत्रिक व्यवस्था दिखाई देती है जिसमें पहिये स्प्रिंग्स और लीवर इस प्रकार सुव्यवस्थित रूप से जुड़े है कि टिक् टिक् करते हुये दिन का समय वता रहे हैं । हमसे यदि यह कहा जाये कि यह घड़ी मात्र संयोग की उत्पत्ति है तो हम आसानी से ऐसे किसी भी कथन को अस्वीकार कर देगें ।क्योंकि घड़ी बर्फ गिरने, पत्तियाँ झड़ने, रेत उड़ने या खनिज की पपड़ी वनने के समान मात्र संयोग नहीं वल्कि किसी बुद्धिमान शिल्पी की उत्पत्ति (कृति) है । विलियम पेले का कथन है :-

बिना कृतिकार के कृति संभव नहीं है , बिना आविष्कारक के आविष्कार , बिना विकल्प के क्रम , बिना व्यवस्थापक के व्यवस्था, बिना प्रयोजन की ओर प्रेरित करने वाले के प्रयोजन की अधीनता या उससे सम्वन्ध संभव नहीं है , व्यवस्था अंगों का सुस्थापित सम्बन्ध, साधनों का साध्यों की ओर उन्मुखता का आयोजन , उपकरणों का उनकी उपयोगिता से सम्बन्ध एक बुद्धिमत्तापूर्ण मन की सत्ता को प्रतिपादित करते हैं (५)

समस्त विश्व प्रत्येक विन्दु पर एक घड़ी से कहीं अधिक महान क्रम उद्देश्य और प्रयोजन व व्यवस्था युक्त सिद्ध होता है । घड़ी में प्रयोजन की जितनी अधिक अभिव्यक्ति है उससे कहीं अधिक अभिव्यक्ति प्राकृतिक कार्यो में है । पेले का कहना है कि वास्तव में मनुष्य की शारीरिक संरचना ही सुनियोजन का सर्वाधिक स्पष्ट उदाहरण है । पेले मानवीय नेत्र की संरचनात्मक जटिलता का वहुत लम्वा विवरण प्रस्तुत करता है और उसके सुनियोजन की प्रशन्सा करता है और कहता है चाहे विश्व में या समस्त अनुभवों में सुनियोजन का कोई और उदाहरण मिले न मिले एकमात्र मानवीय नेत्र ही पर्याप्त उदाहरण है जो परम (सर्वोच्च) सुनियोजनकार या आयोजक के अस्तित्व को सिद्ध करता है । वस्तुस्थिति यह है कि विश्व की प्रत्येक वस्तु और स्वयं विश्व भी विशेष सुनियोजन को अभिव्यक्त करता है और क्योंकि कारण को कार्य के समरूप होना चाहिए यह समस्त जगत क्रम और व्यवस्था का सर्वोच्च उदाहरण है इससे यह निश्चित निष्कर्ष निकलता है कि कोई सृजनात्मक बुद्धि अवश्य है । पेले कहता है कि इस प्रकार का कारण प्राकृतिक ईश्वर विज्ञान से सिद्ध होता है जिसके अनुसार विश्व में जो कुछ हमें दिखाई देता है उससे परे भी कुछ अवश्य होना चाहिए । प्रकृति की अदृश्य वस्तुओं में इसकी उत्पत्ति व्यवस्था व क्रम के आधार से सम्बन्धित कोई वुद्धिमान मस्तिष्क भी अवश्य होना चाहिए ।

पेले तर्क करते है कि यह प्राकृतिक जगत यंत्र के समान जटिल है और घड़ी के समान ही सूक्ष्म व्यवस्था से युक्त है । नक्षत्रों का सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण करना, पृथ्वी पर ऋतुओं का नियमित क्रम में आना, जीवित प्राणियों की जटिल शारीरिक संरचना तथा उसके विभिन्न अवयवों की अनुकूलनशीलता इस विश्व की व्यवस्था को सिद्ध करता

है ।(नक्षत्रों का सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण करना पृथ्वी पर ऋतुओं का नियमित क्रम में आना , जीवित प्राणियों की जटिल शारीरिक संरचना तथा उसके विभिन्न अवयवों की अनुकूलनशीलता इस आयोजित व्यवस्था को सिद्ध करती है।) मानव मस्तिष्क में हजारों लाखो कोशिकाएँ समन्वित व्यवस्था में साथ -साथ कार्य करती है , इसी प्रकार नेत्र जो उत्कृष्ट चालित कैमरे के समान, स्वतः व्यवस्थित लेन्स , उच्च कोटि की यथार्थ वर्णग्राहिता, एक ही समय में कई घन्टों तक कार्य करने की क्षमता आदि जटिल और पर्याप्त व्यवस्था, पत्थर की ,चट्टान के समान प्राकृतिक स्त्रोंतों से स्वतः निर्मित नहीं मानी जा सकती अतः इसे दैवीय शक्ति द्वारा आयोजित मानना पड़ता है ।

पेले घड़ी और विश्व की सादृश्यता के प्रति पूर्णतः आश्वस्त थे और किसी भी रूप में घड़ी से घड़ीसाज के अनुमान सदृश विश्व की व्यवस्था से विश्व के व्यवस्थाकार के अनुमान को अनुचित नही स्वीकार करते । वे इस संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण टिप्पणी करते हैं :-

प्रथम , हम लोगों के द्वारा पहले यह न देखे जाने पर भी कि घड़ी मानव बुद्धि की उपज है (जैसे हम लोग इस विश्व के अतिरिक्त दूसरा विश्व नहीं देखते) घड़ी की व्यवस्था ही जैसे घड़ीसाज का अनुमान कराती है हमारे अनुमान को घड़ी के समान ही विश्व भी घड़ी से श्रेष्ठ बुद्धि वाले की कृति है कमजोर नही बनाता ।

द्वितीय ,घड़ी की यंत्रवत्ता सुचारू रूप से हमेशा कार्यान्वित न होने पर भी घड़ी से घड़ीसाज के अनुमान को अवैध नहीं बनाती ।

हमारे द्वारा यंत्र के सभी अंशों के कार्यो को (जैसे की प्रकृति के बहुत अंशों को हम नहीं जानते) जानने में सक्षम न होने पर भी हमारा अनुमान कमजोर नहीं होता ।-

इस प्रकार पेले प्राकृतिक व्यवस्था के आधार पर विश्व के व्यवस्थाकार का अनुमान करता है ।

पेले के ही तर्क को जेम्स मार्टिन्यू (१८०५-१९००) अधिक सूक्ष्म और स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं और कहते है चयन संचयन तथा अनुक्रम मे युक्त व्यवस्था ही वुद्धि व संकल्प द्वारा आयोजित होती है और यह तीनों ही तथ्य विश्व के संदर्भ में प्रमाणित होते हैं :-

जीव विभिन्न परिस्थितियों (जल, स्थल और आकाश) में रहते हैं और वातावरण के अनुरूप ही उनके अंगों की रचना भी पाई जाती है । साँस के अंगों की वनावट जलचर, स्थलचर और नभचर में ठीक उनकी परिस्थिति के अनुरूप है । यही वात हाथ, डैने और मीनपक्ष के सम्बन्ध में कही जा सकती है । अतः ऐसा मालूम होता है कि परिस्थिति के अनुरूप ही अंगों का चयन किया गया है ।(६)

जीवों के अंगों के समायोजन के साथ ही जावों की जातियों का अन्योन्याश्रयी सम्वन्ध भी विश्व में व्यवस्था को प्रमाणित करता है । मार्टिन्यू कहते हैं :-

यदि हम किसी हिंसक जाति के जीव को लें तो हम पायेगें कि उसके पंजे शिकार पकड़ने तथा चीरफाड़ करने में उपयुक्त है , उसके दाँत भी इसी प्रकार के हैं , उसकी आँते भी माँस पचाने के अनुकूल है । इस प्रकार का अनुकूलन तथा अन्योन्याश्रय विभिन्न जातियों के जीवों के आपसी सम्वन्ध में भी देखा जाता है । स्तनधारी जन्तुओं के माँ-वच्चे के वीच, पौधे और कीड़ों के वीच अन्योन्याश्रयी सहसमायोजन पाया जाता है । यदि तितलियं न हो तो अनेक प्रकार के पौधे संभव नही होगें । इसी प्रकार यदि पौधे न हो तो अनेक प्रकार के कीड़े भी नहीं होगें । अतः विश्व में जातियों के वीच संचयन की व्यवस्थ को देखकर हम कह सकते है कि इस विश्व का निर्माता असीम वुद्धि से युक्त है ।(७)

मार्टिन्यू को कहना है कि सामान्य रूप से निम्न स्तर के जीवों से ही उच्च स्तर के जीवों का अस्तित्व कायम रहता है । कीड़े -मकोड़े खाकर छोटी चिड़ियाँ तथा छोटी चिड़ियों और रेंगने वाले जन्तुओं को खाकर हिंसक जन्तु पलते है और इन हिंसक जन्तुओं का आखेट करने पर मानव को कला, विज्ञान तथा सामाजिकता का पाठ प्राप्त होता है । इस प्रकार इस युक्ति को स्वीकार करने वाले दार्शनिक प्रकृति की व्यवस्था को सहज और स्वयं ही रचित नहीं मानते बल्कि इसे ईश्वर की अद्भुद और सोद्देश्य रचना प्रमाणित करते हैं ।

आलोचना (ह्यूम के द्वारा)

प्रयोजनमूलक युक्ति के सर्वाधिक प्रसिद्ध आलोचक डेविड ह्यूम ने इस युक्ति की आलोचना कई दृष्टिकोणों से की है ये समस्त आलोचनायें ह्यूम के इस सिद्धान्त पर वल देती है कि विश्वास को साक्ष्यों या उदाहरणों के समरूप होना चाहिये ।

सर्वप्रथम ह्यूम तर्क करता है कि अगर हम यह मान लें कि द्रव्य और गति सदैव से अस्तित्ववान है और यदि पर्याप्त समय दिया जाये तो प्रत्येक संभावित स्थिति वास्तविक स्थिति हो सकती है अनिर्देशित द्रव्यों के सदैव से चले आ रहे चक्रों के कारण द्रव्यों की प्रत्येक संभावित व्यवस्था व रचना - यहाँ तक की घड़ियाँ भी कभी न कभी अवश्य अस्तित्व रखेंगी । पुनः एक वार यदि विश्व इस वास्तविकता को प्राप्त कर लें तो विश्व की संरचना और आयोजन (डिजाइन) की अभिव्यक्ति बहुत आश्चर्यजनक नहीं होगी । क्योंकि क्या कोई भी अंश अन्य प्रत्येक अशों के साथ अनिवार्य रूप से सम्बन्धित नहीं होता, क्या विश्व दूसरे विषयों से अनिवार्य रूप से सम्वन्धित नहीं है , क्या किसी वस्तु का आकार उसकी क्रिया - प्रतिक्रियाओं से सम्वन्धित नहीं होता, क्या सभी व्यवहार (फिनोमिना) किसी न किसी व्यवस्था की प्रतीतियाँ और प्राकृतिक नियमों और नियमित प्रक्रियाओं की अभिव्यक्ति नहीं होता । अतः हमारा यह निरीक्षण जगत एक विशेष आयोजन है खोखला प्रतीत होता है । (९)

ह्यूम के इस विचार के संदर्भ में मिलर का कहना है कि वास्तव में इस बिन्दु पर ह्यूम से आगे भी बढ़ा जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि एक पूर्णतः अव्यवस्थित विश्व का प्रत्यय भी असंभव है यदि तारों के समूह किसी और व्यवस्था के अनुरूप निश्चित किये जाते या ग्रह अपने वर्तमान कक्ष से पृथक किसी अन्य कक्ष में स्थित होते, या जानवर किसी और तरह का व्यवहार करें तो क्या यह अव्यवस्था होगी ? नही यह अव्यवस्था नहीं बल्कि मात्र बदली हुई व्यवस्था या क्रम होगा ।

यहाँ पर ह्यूम ने प्रकृति की विशेषताओं की व्याख्या किसी दैवीय शक्ति की आयोजना के आधार पर न प्रस्तुत कर अन्य प्रकार से देने का प्रयास किया है । अपनी व्याख्या को ये एपिक्यूरस के इस सिद्धान्त पर आधारित कर प्रस्तुत करते हैं कि - विश्व में सीमित संख्या में परमाणु है जो बिना किसी उद्देश्य के निरन्तर गतिशील है । असीमित समय में इन परमाणुओं में हर प्रकार का संगठन संभव है इनमें से ही एक ऐसा संगठन संयोग से निर्मित हो जाता है जिसमें एक प्रकार की व्यवस्था स्थिर होती है और जो आयोजना की प्रतीति देती है । यद्यपि यह आयोजना किसी आयोजक द्वारा नहीं प्रदत्त है। इसी प्रकार संभव है कि हमारा वर्तमान संसार भी ऐसे ही संयोग से निर्मित यवस्था हो जिसके पीछे किसी आयोजक का हस्तक्षेप न हो । यह विचार निम्न उदाहरण से और भी स्पष्ट रूप में व्यक्त होते हैं :-

मान लीजिये एक बन्दर टाइपराईटर पर वैठा हुआ लगातार निरूद्देश्य टाईप कर रहा है । इस बात की न्यूनतम संभावना है कि वह बुद्धि हीन वन्दर कभी टाईप करते - करते एक बोधगम्य पुस्तक तैयार कर लें । लेकिन कल्पना कीजिये कि वह वन्दर कई कई अरब सालों तक जीवित रहता है और टाइप करता है ऐसी दशा में यह सम्भव है कि कभी संयोग से उसके द्वारा एक बोधगम्य पुस्तक टाइप हो जाय क्योंकि अक्षरों की संख्या सीमित है और उन अक्षरों के संभव संगठन की संख्या अत्यन्त बड़ी होने पर भी असीमित नहीं है इसीलिये इस बात की संभावना है कि अत्यधिक समय देने पर संयोग से किसी

समय में वह संगठन टाइप हो जाये जो पुस्तक का रूप हो । यही वात इस विश्व की उत्पत्ति पर भी लागू होती है विश्व के मूल पदार्थो की संख्या सीमित है और उनके संभव संगठन भी बहुत बड़ी संख्या में होने पर भी सीमित है। अतः अनंत समय में संयोग से ऐसा संगठन पैदा हो सकता है जिसमें आयोजन व व्यवस्था प्रदर्शित हो । ऐसी स्थिति में विश्व को प्रयोजन युक्त होते हुये भी उस आयोजन हेतु किसी अयोजक की अपेक्षा नही होगी ।

द्वितीय आलोचना में ह्यूम कहते है - प्रयोजनमूलक युक्ति कम से कम पेले द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रारूप में एक साम्यानुमान पर आश्रित है :- जिसके अनुसार घड़ी की व्यवस्था को देखकर जैसे यह माना जाता है कि घड़ी के लिये घड़ी साज की आवश्यकता है उसी आधार पर यह मान लिया जाता है कि विश्व के लिये भी निर्माणकर्ता के रूप में ईश्वर की आवश्यकता है । यह एक सन्देहास्पद साम्यानुमान है क्योंकि इस युक्ति में यह मानकर चलते है कि सम्पूर्ण जगत किसी न किसी रूप में किसी कारण का कार्य है ठीक वैसे ही जैसे एक घर या घड़ी किसी राजगीर या घड़ीसाज का कार्य है । किसी मकान के कारण रूप में राजगीर या घड़ी के कारण रूप में घड़ीसाज को स्वीकार करने का एकमात्र यही तर्क है कि हम घड़ीसाज और घड़ी की आयोजना और मकान की व्यवस्था तथा राजगीर के मध्य निरन्तर संयोजन देखते है अर्थात् भूतकालीन और वार-वार होने वाले अनुभवों के आधार पर हम यह विश्वास कर लेते है कि यह मकान किसी न किसी राजगीर द्वारा और यह घड़ी किसी न किसी घड़ीसाज द्वारा वनाई गई है । ''जव वस्तुओं में दो प्रजातियों को एक साथ संयुक्त किया जाता है तो मैं जव भी एक वस्तु के अस्तित्व का अनुभव करता हूं तो परम्परानुसार दूसरी वस्तु के अस्तित्व का अनुमान लगा लेता हूँ और इसे मैं अनुभव से प्राप्त युक्ति कहता हूं (१०) ह्यूम कहता है :- जगत अपने समूचे रूप में अनोखा और अद्वितीय है और इसका सृजन निश्चित रूप में वार-वार अनुभव में आने वाली वस्तु नहीं है अतः हमारे अनुभव में कोई भी ऐसा समानान्तर तत्व नहीं है जो जगत के सृजन की तुलना मे प्रस्तुत किया जा सके न ही हमारे अनुभव में एक सृजनकर्ता

की तुलना में प्रस्तुत किये जाने योग्य कोई वस्तु है । विश्व को उत्पन्न करने के लिये अनिवार्य महान् शक्तियों और क्षमता वाली बुद्धिमान सत्ता ... समस्त तुलनाओं यहाँ तक की हमारी बुद्धि या परिज्ञान के भी परे है '' (११)

इस प्रकार ह्यूम अपनी द्वितीय आलोचना में यह स्पष्ट करने का प्रयास करते है कि व्यवस्था सदैव आयोजन का परिणाम हो यह आवश्यक नहीं है । हम उन्हीं वस्तुओं में व्यवस्था को आयोजन का परिणाम मानते है जिसे स्वयं मनुष्य ने निर्मित किया अर्थात् जिसे आयोजन से उत्पन्न होने का हमने अनुभव किया है, किन्तु ईश्वर द्वारा सृष्टि का आयोजन क्योंकि हमारे द्वारा अनुभूत नहीं है अतः हम उसको आयोजन का परिणाम नही मान सकते । इस संदर्भ में ह्यूम का निम्न कथन उल्लेखनीय है :-'' व्यवस्था आयोजन का प्रमाण केवल वहीं तक है जहाँ तक आयोजन के फलस्वरूप व्यवस्था का आना देखा गया है । पेड़ पौधों तथा पशुओं के अन्दर जो व्यवस्था हम पाते है उसका आयोजन के फलस्वरूप पैदा होना नहीं देखा गया है । हमने कभी कोई ऐसी सत्ता नहीं देखी है जो पेड़ पौधें या पशुओं की रचना या तारों तक का निर्माण आयोजनपूर्वक करती हो और इसलिए हमें यह निष्कर्ष निकालने का अधिकार नहीं है कि ये वस्तुएँ आयोजन के फलस्वरूप अस्तित्व रखती है । (१२)

अपनी आलोचना के तृतीय चरण में ह्यूम का कहना है कि अगर विश्व अपनी सम्पूर्णता में हमारे अनुभव की किसी वस्तु के समतुल्य है भी तो उसकी समतुल्यता मानवीय संरचना या यंत्र के लिये बहुत सुस्पष्ट रूप से ज्ञेय नहीं है । उदाहरण के लिये विश्व एक जैविक संस्थान या संघटन से अधिक मिलता जुलता है अपेक्षाकृत कलाकृति या आयोजना के यह एक जानवर या सब्जी के समान अधिक मिलता जुलता है अपेक्षाकृत घड़ी या करघा के । क्योंकि समान कार्यो का समान कारण होना चाहिए यह अधिक उचित प्रतीत होता है कि हम विश्व का स्त्रोत या कारण वनस्पति या अन्य उत्पादन या प्रजनन के समान किसी चीज में खोजें । सर्वाधिक संभावित साम्यानुमान के आधार पर यही कहा जा सकता है कि विश्व की उत्पत्ति किसी बीज या अन्डे के समान किसी चीज से हुई है न कि घड़ी साज

के समान किसी सत्ता से । यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि उत्पत्ति का ढंग या तरीका यह सूचित करता है कि उसके परिपेक्ष्य में कोई न कोई सृजनात्मक वुद्धि अवश्य है । किन्तु ह्यूम जो कि केवल अनुभव और निरीक्षण को मार्ग दर्शक के रूप में स्वीकार करता है विश्व की व्यवस्था के परिपेक्ष्य में प्रजनन या उत्पादन की अपेक्षा सृजनात्मक वुद्धि की उपस्थिति के प्रत्युत्तर में कहता है - क्योंकि असंख्य उदाहरणों में कारण को उत्पत्ति के सिद्धान्त से उद्‌गमित होते देखा गया है किसी और सिद्धान्त से उद्‌गमित होतें कभी नहीं देखा गया । (१३)

अन्त में ह्यूम यह तर्क करता हैं कि इस प्रकार प्रयोजनमूलक तर्क दैवीयता के एक निराशात्मक व असन्तोषजनक प्रत्यय की ओर ले जाता है । इसके द्वारा दैवीय सत्ता का अस्तित्व सिद्ध करना असंभव है । यदि प्रयोजनमूलक युक्ति का कार्य, प्रकृति एक बुद्धिमान सत्ता का कार्य है, यह सिद्ध करना है तो प्रकृति में वहुत कम ऐसा है जो ईश्वर की पूर्णता एकता व अनन्तता को प्रतिबिम्बित कर सके । और यदि ऐसा है तो साम्यानुमान के लिये कार्य के अनुरूप ही कारण की सिद्धि होती है । ईश्वर या जगत का कोई भी वुद्धिमान शिल्पी एक की अपेक्षा अनेक, पूर्ण की अपेक्षा अपूर्ण, सर्वशक्तिमान की अपेक्षा सीमित शक्तिवाला भी हो सकता है और ऐसा होने पर भी यह विश्व का पर्याप्त या यथेष्ट कारण हो सकता है क्योंकि विश्व में कही भी एकत्व पूर्णता या अनन्तता नही मिलती है । अतः यदि कार्य के अनुरूप कारण होना चाहिये तव तो अनेक अपूर्ण व सीमित शक्ति वाली सत्ता ही जगत का कारण सिद्ध होगी । हो सकता है शायद मन्दबुद्धि वाले अनेक ईश्वर की पूरी एक समिति हो जिसका कोई सभापित न हो और जो अपने मनोरंजन के लिये जगत का निमार्ण सम्वन्धी प्रयोग कर रही हो, कौन जाने इस जगत के निमार्ण से पहले कितने जगत के वे निमार्ण कर चुके हो । क्या इस वैकल्पिक साम्यानुमान से मेल न खाने वाला हमारा कोई अनुभव है ।

उपरोक्त आलोचना में ह्यूम कहते है कि विश्व की विशेषतायें ईश्वरीय प्रत्यय को जैसा कि उसे धार्मिक जनों ने व्याख्यायित किया है सिद्ध करने में असमर्थ है । अतः

यह स्वीकार करना होगा कि प्रयोजनमूलक युक्ति साम्यानुमान के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने मे असफल सिद्ध होती है ।

कांट के द्वारा युक्ति की आलोचना

यद्यपि कांट आलोचना के पहले इस विश्व की व्यवस्था की प्रशन्सा करते है किन्तु मूलतः वे भी इस युक्ति से ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने में दो प्रमुख कठिनाईयाँ प्रस्तुत करते हैं ।

(१) सैद्धान्तिक विचार और विकल्प जिनके द्वारा बुद्धि विश्व को समझती है एक सर्वोच्च शक्ति की सत्ता सिद्ध करने के लिये अपर्याप्त है । कान्ट यह मानकार चलता है कि कारण - कार्य सम्बन्ध का विचार बुद्धि का एक प्रागनुभाविक विकल्प है । यह वह माध्यम है जिसके अनुसार वास्तविकता को अनुभूत किया जाता है इस लिये यह कारण - कार्य सम्वन्ध का विचार संभावित अनुभवों के परे कोई महत्व नहीं रखता और न ही इसका कोई प्रयोग है । ईश्वर स्पष्टतः संभावित अनुभवों का विषय नहीं है क्योंकि वह दैशिक व कालिक सत्ता नहीं है और इसीलिये ईश्वर का इस प्रकार का स्वरूप कारण-कार्य सम्वन्धों के अर्न्तगत नहीं आ सकता । अर्थात यदि ईश्वर दैशिक कालिक सत्ता नहीं है तो उस पर कारण - कार्य विकल्प लागू नही हो सकता और ऐसी स्थिति मे ईश्वर को जगत का कारण नहीं माना जा सकता चूंकि प्रयोजनमूलक युक्ति भी विश्व मूलक युक्ति की भाँति एक कारणात्मक युक्ति है और यह विश्व के क्रम और व्यवस्था के कारण की खोज के आधार पर विकसित हुई है इसलिये (कम से कम कांट के अनुसार) आयोजन युक्ति को उपयुक्त बनाने के लिये बुद्धि विकल्पों के निर्धारित स्वरूप और स्थिति क्षमता के परे जाना होगा । इससे कान्ट के परिप्रेक्ष्य में स्वप्रतिज्ञा हानि होगी ।(१४)

आयोजन युक्ति में दूसरी कठिनाई यह युक्ति स्वयं में ही एक सर्वोच्च शक्ति या सत्ता की वास्तविकता को प्रमाणित नहीं कर पाती । अधिक से अधिक यह सृष्टि के ऐसे शिल्पी के अस्तित्व को सिद्ध करती है जो पहले से अस्तित्ववान उपादानों में व्यवस्था आरोपित करता है । लेकिन यह एक आत्म पर्याप्त प्रथम सत्ता के स्वरूप से बहुत पृथक स्वरूप है जिसे यह युक्ति सिद्ध करने में मफल होती है । तार्किक रूप से तो यही कहा जा सकता है कि यदि यह विश्व अपने क्रम के लिए अपने से अधिक शक्तिवान और उच्च सत्ता पर निर्भर है तो वह उच्च सत्ता भी अपने अस्तित्व के लिये और भी अधिक उच्च शक्तिवान सत्ता पर आश्रित होगी । जैसा कि ह्यूम ने पहले ही कहा है कि- '' एक ऐसी सत्ता जो विश्व का निमार्ण करने की क्षमता रखती हो (अर्थात् पहले से अस्तित्ववान उपादानों से सृष्टि करने वाली सत्ता) और ऐसी जो सर्वशक्तिमान (उपादानों का स्वयं निर्माण करने वाली सत्ता) सत्ता हो दोनों में स्पष्ट अन्तर है। आयोजन युक्ति को अपनी प्रामाणिकता के लिये सृष्टिमूलक युक्ति का आश्रय लेना पड़ता है । लेकिन कांट के अनुसार सृष्टिमूलक युक्ति को अपनी सिद्धि के लिये प्रत्ययमू`लक युक्ति की सत्यता को पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार करना होगा जबकि प्रत्ययमूलक युक्ति पहले ही असिद्ध हो चुकी है ।(१५)

यह स्पष्ट है कि डेविड ह्यूम और इमैनुअल कांट ने दार्शनिक ईश्वर विज्ञान के इतिहास में मुख्य भूमिका निभाई है और यह भी स्पष्ट है कि उनकी भूमिका आलोचनात्मक और असहानुभूतिपूर्ण है । ह्यूम ने अपनी पुस्तक (डायलॉग कर्न्सनिगं नेचुरल रिलिजन) में पारम्परिक ईश्वरवादी युक्तियों पर अपनी आलोचनाओं द्वारा निर्मम प्रहार किया है । अपने प्रसिद्ध निबन्ध (आन् मिरेकल्स जो इन्क्वायरी कन्सार्निग ह्यूमन अन्डरस्टैन्डिग में संग्रहीत है) में ह्यूम ने चमत्कारों में विश्वास की इतनी कटु आलोचना की है कि चमत्कारों के आधार पर ईश्वरीय सत्ता को सिद्ध करने की युक्ति आज तक उससे मुक्त नहीं हो पाई । ह्यूम की सबसे कटु आलोचना उसकी मृत्योपरान्त प्रकाशित पुस्तक नेचुरल हिस्ट्री आफ रिलिजन में है जिससे वह अन्य अनेक वातों के अतिरिक्त इस विचारधारा को

कि उच्च धर्म यथा- यहूदी ईसाई और इस्लाम धर्म आदि समाज के लिये महानतम् उपयोगी है, अत्याधिक तीव्र आलोचना का विषय वनाता है । ह्यूम कहता है कि इन धर्मो की संकीर्णता , रक्तपिपासुता असहिष्णुता अन्नतः इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि धर्म एक '' मानसिक रूप से बीमार व्यक्ति का स्वप्न है (१६) ह्यूम की यह आलोचना बर्टेन्ड रसेल रसल की इस टिप्पणी की याद दिलाती है मेरे विचार से धर्म डर के कारण उत्पन्न एक बीमारी है और मानव जाति के अकथनीय दुःखों का स्त्रोत है । फिर भी मैं इससे इन्कार नहीं करता कि धर्म ने मानवीय सभ्यता को कुछ योगदान दिया है - प्रारम्भिक समय में इसने कैलेन्डर निश्चित करने में मदद की और मिस्त्र के पुजारियों को ग्रहणों की गणना करने की ऐसी प्रेरणा दी कि वे उनकी पूर्वघोषणा करने में समर्थ हुये । मै धर्म के इन दो योगदानों को स्वीकर करने को तैयार हूँ किन्तु इनके अतिरिक्त मैं किसी योगदान को नहीं जानता '' । (१७)

इस प्रकार ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के प्रयास हेतु प्रतिपादित युक्तियों के सर्वाधिक कटु आलोचक ह्यूम ही है क्योंकि कांट की स्थिति इस संदर्भ में ह्यूम से भिन्न है। कांट चूँकि पुजारी माता-पिता की संतान है इसलिये जीवन पर्यन्त उनका दृष्टिकोण धर्म के प्रति सहानुभूति परक रहा । यद्यपि उसने पालन-पोषण के समय में प्राप्त वाईविल के विश्वासों का बौद्धिक तार्किक व दार्शनिक रूप से सम्माननीय विचारों में अनुवाद करने का प्रयत्न किया अर्थात् इन विश्वासों को दार्शनिक , वौद्धिक व तार्किक आधार देना चाहा । कांट ने स्वयं ही कहा- ईश्वर ने जिस प्रकार वुद्धि का विभाजन किया उस विभाजन ने ईश्वर के प्रति धार्मिक रूप से अधिक पर्याप्त दृष्टिकोण को संभव वनाया मैनें विश्वास को स्थान देने के लिये ज्ञान को खंडित करना आवश्यक समझा ।

इस प्रकार दोनों की आलोचनाओं से यह स्पष्ट है कि समान रूप से आलोचक रूप में विख्यात ह्यूम और कांट के ईश्वर के संदर्भ में समान मत नहीं थे । ह्यूम का ईश्वर के प्रति निषेधात्मक विचार था जबकि कान्ट का सकारात्मक । कान्ट का

ईश्वर विज्ञान के प्रति यह सकारात्मक पक्ष उसकी पुस्तक '' रिलिजन विदिन दि बाउंड्स आफ रिजन एलोन'' और ''क्रिटीक आफ प्रैक्टिकल रिजन'' में अभिव्यक्त होता है इस पुस्तक में कांट ने ईश्वर की सत्ता के प्रतिपादन हेतु स्वयं एक नया तर्क दिया जो उन सभी युक्तियों का जिसका उसने खण्डन किया है स्थान ग्रहण कर लेता है । इसमें कांट ईश्वर के बौद्धिक और सैद्धान्तिक ज्ञान के स्थान पर व्यावहारिक ज्ञान को महत्व देता है ।

युक्ति की वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पुर्नस्थापना

हमने देखा कि पारम्परिक आयोजन युक्ति विश्व के सौन्दर्य और प्रकृति की सामंजस्यता, अनुकूलनशीलता और सृष्टि के विशेष आयोजन के साथ प्रारम्भ होती है । यह युक्ति तभी तक प्रमाणिकता रखती है जब तक यह विश्वास किया जाये कि सृष्टि का प्रारम्भिक समायोजन या संयोजन वही था जो वर्तमान में है ।

किन्तु १८५९ में चार्ल्स डार्विन की ''दि ओरिजन आफ स्पिशीज'' के प्रकाशन के साथ ही विश्व के संयोजन के विषय में यह सहज और सरल विश्वास अवरोधित हुआ । अब यह संभव हो गया कि सृष्टि की व्यवस्थित संरचना को विशुद्ध प्राकृतिक रूप में क्रमिक विकास के आधार पर समझा जा सके । डार्विन ने विश्व की व्याख्या एक सर्वशक्तिमान घड़ी बनाने वाले के द्वारा विशेष सृष्टि के स्थान पर अपने प्राकृतिक चयन व योग्यता अवशिष्ट के सिद्धान्तों की सहायता से यांत्रिक और निकटस्थ या प्रत्यक्ष कारणों की लम्बी श्रृंखला से प्रस्तुत की । जिससे पहले जो ईश्वर के कृतित्व का सुस्पष्ट उदाहरण समझा जा रहा था वह अब मात्र प्रकृति का उत्पादन माना जाने लगा । जिससे ऐसा प्रतीत हुआ कि आयोजनमूलक युक्ति का सर्वाधिक सशक्त साक्ष्य समाप्त हो गया ।

परन्तु इस विचारधारा के विपरीत कुछ लोगों की यह मान्यता थी कि प्रकृति का यांत्रिक विकास ईश्वर में विश्वास के साथ कोई विरोध नहीं रखता । स्वयं डार्विन ने भी

'' ओरिजन आफ स्पिशीज' का समापन इस दैव प्रशस्ति से किया - '' इस जीवन की भव्यता मूल रूप से आयोजक के कारण है । और यद्यपि यह विश्व विकसित होता है और अनेक सौन्दर्यपूर्ण वस्तुएं विकसित हो रही है फिर भी इसका आरम्भ वही ईश्वर है जिसके बनाये गये नियमों पर यह सृष्टि घूम रही है ।(१८)

ईश्वरवादी विकासवाद के अनेक व्याख्याकारों में सबसे प्रभावशाली व्याख्याकार एफ०आर०टेनेन्ट(१८६६- १९५७) थे जो एक प्रशिक्षित कैमिस्ट प्राणी वैज्ञानिक एवं भौतिक शास्त्री थे । यद्यपि टेनेन्ट, ह्यूम कांट और अन्य आलोचकों द्वारा ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए प्रतिपादित तर्कों के खंडन के विषय में पूर्णतः जागरूक थे और वे यह जानते थे कि तर्कों द्वारा ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता फिर भी वे यह मानते थे कि तथ्यों और सामान्यीकारण को समवेत रूप मे एकत्रित करने के लिये आगमनात्मक प्रक्रिया अपनाई जाए तो संभवतः ईश्वर में तर्क संगत विश्वास के लिये आधार प्रदान किया जा सकता है । टेनेन्ट के लिए ईश्वर एक प्रकार की वैज्ञानिक प्राकल्पना है जो कि अनुभविक तथ्यों के सम्पूर्ण तंत्र के लिये सर्वाधिक बौद्धिक व्याख्या है । टैनेन्ट के यह विचार जान स्टुअर्ट मिल के विचारो की याद दिलाता है जिसके अनुसार प्रयोजनमूलक युक्ति वास्तविक रूप में एक वैज्ञानिक स्वरूप की युक्ति है जो वैज्ञानिक परीक्षणों से संकुचित नहीं होती बल्कि आगमन के स्थापित नियमों या सिद्धान्तों द्वारा सिद्ध होती है (१९)

अपने तर्क को और अधिक स्पष्ट करने के लिये टैनेन्ट आयोजन का एक विस्तृत अर्थ बताते है - महत्तर स्तर पर आयोजन का अर्थ केवल संरचनात्मक विकास को प्रेरित करने वाला नियम है । संरचनात्मक विकास की खोज ने इस युक्ति के समर्थकों को वाध्य किया है कि वे वस्तुओं की विशेष संरचना के स्थान पर उन वस्तुओं की संरचना की प्रक्रिया की दिशा निर्देशात्मकता और वस्तुओं के मूल विन्यास में योजना को माने ।(२०) यद्यपि ऐसा संभव हो सकता है कि सृष्टि का विकासवादी सिद्धान्त पुराने अर्थों में

आयोजन को खंडित करता है किन्तु यदि आयोजन का यहाँ नया विस्तृत और अधिक परिपूर्ण अर्थ ग्रहण किया जाये तो सृष्टि का प्रगतिशील और उद्देश्यमूलक विकास सृष्टि की संरचना का सर्वाधिक साक्ष्य है । टैनेन्ट की यह अधिक व्यापक प्रयोजनात्मकता आयोजन के विशेष उदाहरणों के स्थान पर पूर्ण प्रकृति की सुस्पष्ट अर्थवत्ता और वोधगम्यता पर ध्यान केन्द्रित करती है । जैसा कि टैनेन्ट कहते है - प्रकृति के इस संकेत कि वह एक वौद्धिक या कुशल आयोजन का प्रतिफल या परिणाम है - की प्रामाणिकता विशेष उदाहरणों की अनुकूलनशीलता में या उन विशेष उदाहरणों की अधिकता में नहीं .... वल्कि उन असंख्य कारणों (नियम योजन कारणों) के समूह में निहित है जो अपने संगठित और परस्पर क्रियाओं द्वारा प्रकृति के सामान्य क्रम को वनाये रखने के लिये उसको निर्मित करती है ।(२१)

यह सामान्य योजना अपने को तथ्यों के छः मुख्य क्षेत्र में अभिव्यक्त करती है। टैनेन्ट अपने शब्दों में इन क्षेत्रों को इस प्रकार व्यक्त करते है (१) विश्व की वोधगम्यता (विचारों का वस्तुओं से अनुकूलन) (२) जैविक सत्ताओं की आन्तरिक अनुकूलनशीलता (३) अजैविक सत्ताओं के जीवन को नियंत्रित करने की योग्यता (४) प्रकृति के सौन्दर्यात्मक मूल्य (५) नैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति में विश्व की यंत्रवत्ता या साधनवत्ता (६) विकासवादी प्रक्रिया की प्रगतिशीलता जो कि अपने बौद्धिक और नैतिक स्तर से युक्त मानव की उत्पत्ति तक विकसित होती है ।(२२)

उदाहरण के लिये प्रकृति के सौन्दर्यात्मक मूल्य को लिया जाये । प्रकृति का सौन्दर्य और उसकी उदात्तता अपने आप में जगत के उद्देश्यपरक होने का पूर्ण निश्चित साक्ष्य नहीं है, बल्कि वास्तव में यही कहना चाहिये कि प्रकृति का सौन्दर्य किसी कलात्मक उत्पादन की देन नहीं है । क्योंकि वहुत सी ऐसी वस्तुयें है जो सौन्दर्यात्मक भावनाओं को उत्पन्न करते हुये भी किसी सचेत आयोजना का परिणाम नहीं होती , लेकिन फिर भी प्रकृति अपनी प्रत्येक करवट में जो सौन्दर्यात्मक अनुभूति जगाती है उसे टैनेन्ट के

शब्दों में प्रकृति के सौन्दर्य के पीछे किसी वुद्धि के होने की तर्क से परे सभांव्यता कहा जा सकता है । (तर्क से परे संभाव्यता का प्रत्यय टैनेन्ट की कृतियों में वार-वार प्रयुक्त होता है और बहुत महत्व भी रखता है । यह पद उस स्थिति का सूचक है जव हमारा मस्तिष्क बहुत सारे ऐसे साक्ष्यों से प्रभावित रहता है किन्तु जिनकी गणितीय या सांख्यकीय सम्बन्धी अथवा तार्किक संभावना सम्वन्धी पदों में गणना नहीं की जा सकती । टैनेन्ट के अनुसार- बहुत से मौलिक सिद्धान्त जिन पर हम विचार करते है और जिसके अनुसार हम कार्य करते है यहाँ तक कि स्वयं वैज्ञानिक आगमन के सिद्धान्त भी इसी प्रकार तर्क के परे संभाव्यता के ढंग से समझे और स्वीकार किये जाते है । अतः प्रकृति का निश्चित या स्वीकृत सौन्दर्यात्मक पक्ष विस्तृत आयोजन द्वारा प्रस्तुत साक्ष्यों की श्रृंखला की कम से कम एक कड़ी तो बन ही जाता है ।(२३)

किन्तु विश्व सौन्दर्य से भी अधिक कुछ है । यह नैतिक जीवन के लिये रंगमंच भी है । प्रकृति की पूरी प्रक्रिया अन्ततः मनुष्य में फलित होती है । मनुष्य में जो कि एक नैतिक सत्ता है - समय की पूर्णता में प्रकृति अपनी अभिव्यक्ति पाती है वुद्धिमान और नैतिक स्तर से युक्त पुत्र अर्थात् मनुष्य में ।..... विश्व प्रक्रिया है चाहे वह जानवूझकर अयोजित किया गया हो अथवा नहीं और प्रक्रिया के ज्ञात इतिहास के वर्तमान क्षण तक मनुष्य एक निरन्तर उन्नतिशील प्रक्रिया का चरमोत्कर्ष है ।'

टेनेन्ट कहते है कि प्रकृति का कोई पहलू यदि उसे वैज्ञानिक रूप से भेदरहित और दार्शनिक रूप से सार्थक होना है मनुष्य जो कि प्रकृति का चरम व श्रेष्ठ उत्पादन है के नैतिक चरित्र और आध्यात्मिकता के प्रकाश में ही समझा जाना चाहिए ।

इस प्रकार प्रकृति के सौन्दर्यात्मक और नैतिक यह दो पहलू हैं - प्रकृति के और अनेक पहलू भी है जो मिलकर संगठन और वोधगम्यता की उत्पत्ति की योजना वनाते है। यद्यपि उसमें से न तो कोई एक ही न ही वे सारे एक साथ दैवीय मस्तिष्क के लिये सुनिश्चित साक्ष्य प्रस्तुत करते है फिर भी प्रकृति के सारे पहलू एक साथ दैविक मस्तिष्क में तर्कसंगत विश्वास का समर्थन करते है ।

इस प्रकार विकासवादी प्राकल्पना पुराने प्रकार की योजना को अस्वीकार कर एक नये प्रकार की योजना हेतु नींव प्रदान करती है । विश्व की यह नये प्रकार की अधिक विस्तृत उद्देश्यमूलक व्याख्या हमारा ध्यान उत्पादन से उत्पादन की प्रक्रिया की ओर ले जाती है । यह हमे प्रकृति के आयोजन के साक्ष्य के लिये इधर - उधर देखने के वजाय उसके असंख्य और पृथक फिर भी समीपवर्ती सूत्रों के सुसंगत प्रभाव की ओर देखने को प्रेरित करती है । जैसा कि टैनेन्ट कहते है :- ईश्वरवाद अव अपने ईश्वर को प्राकृतिक विज्ञानों की व्याख्यात्मक उपलब्धियों के मध्य नहीं रखता ..... जव यह विभिन्न तथ्य के क्षेत्रों का एक के बाद एक अध्ययन करने के बजाय पूर्ण के भाग के रूप में या अंशों के अंश के रूप में या एक निरन्तर श्रृंखला के एक हिस्से के रूप में देखा जाता है और उनकी परस्पर अर्न्तसम्बद्धता और समीपता के लिये एक ऐसा पर्याप्त आधार ढूंढा जाता है जिसे यांत्रिक और प्रत्यक्ष कारण नहीं स्पष्ट करता तब दैवीय आयोजना की ओर वलपूर्वक संकेत किया जाता है ।

इस प्रकार टैनेन्ट यह विश्वास करता है कि अन्ततः हम मजवूर होकर प्रकृति की या तो बुद्धिमता के अर्थो या आयोजित संयोग के रूप में व्याख्या करते है । यदि हम अनायोजित संयोग के रूप में उसे स्वीकार करते है तो भी हम प्रकृति की अत्यधिक जटिलता, अद्भुत सुसंगति को अनुभव करते है और एक प्रकार से हम प्रकृति को अनियोजित संयोग मानकर उसकी व्याख्या नहीं प्रस्तुत करते वल्कि एक ऐसा तर्कवाक्य प्रस्तुत करते है जिसकी व्याख्या अभी की जानी है ।

टैनेन्ट उद्देश्यमूलक युक्ति की व्याख्या के बाद अपनी स्थिति को उन लोगों से पृथक करने के लिये अग्रसर होते है । जो प्रकृति की प्रत्यक्ष रहस्यमयता की व्याख्या अचेतन इच्छा या प्रयोजन के अर्थो में करने का दावा करते हैं । उदाहरण के लिये हेनरी बर्गसाँ ने अपनी पुस्तक "क्रिएटिव इवेल्यूशन" में बताया कि समस्त प्रकृति प्राण शक्ति (एलन बाइटल) से गतिमान होती है। जो प्रकृति को संगठन के उच्चतर स्थितियों तक ले जाता है टैनेन्ट इस विचार के विरोध में कहता है कि अचेतन प्रयोजन, एक व्याघात है साथ ही प्रकृति के स्वसुधारात्मक स्वभाव से विरोधी है ।

समस्त उद्देश्यमूलक तर्क प्रस्तुत करने वाले दार्शनिक चाहे वह थामस एक्वीनस हों या पेले सभी के साथ मूल समस्या है जगत की व्यवस्था की आत्मनिष्ठ या विषयिनिष्ठ व्याख्या प्रस्तुत करना । ह्यूम और कांट (यद्यपि भिन्न- भिन्न तरीको से) ने व्यवस्था या प्रयोजन के उद्देश्यमूलक विचार की व्याख्या बुद्धि के उत्पादन के रूप में की है । कांट और ह्यूम को यदि छोड़ दे तो बहुत आसानी से यह लगता है कि एक बुद्धिमान सत्ता अधिकतर व्यवस्था आरोपित करती है । यह दो प्रकार से होता है :- (१) कभी-कभी एक अव्यवस्थित स्थिति कम से कम हमारे मस्तिष्क में एक व्यवस्थित आकृति ले लेती है जो हमारी वर्तमान इच्छाओं या आवश्यकताओं के अनुरूप होती है ।(२) दूसरी स्थिति में हम बिना आलोचना किये हुये मान लेते हैं कि प्रकृति की कुछ विशेषतायें किन्हीं निश्चित प्रयोजनों को पूरा करने के लिये होती है । मिलर कहते है कि यहाँ उद्देश्यमूलक तर्क को माननेवाले विचारक यह भूल जाते हैं कि यह उद्देश्य प्रकृति की विशिष्ट विशेषताओं से ही निकलते है । (उदाहरण के लिये कोई यह कह सकता है कि ईश्वर ने नाक और कान इस रूप में इसलिये वनाये है कि उन पर चश्मा लगाया जा सके) इसी को प्रकृति की विशेषताओं में पहले से व्याप्त उद्देश्य को स्वीकार करना कहा गया । जबकि वास्तविकता यह है कि चश्में का निमार्ण (आँख नाक) इनकी संरचना के अनुरूप बाद में आया अर्थात् आँख नाक कान की व्यवस्था पहले से थी उद्देश्य बाद में आया इसलिये उद्देश्यमूलक तर्क को स्वीकार करने वाले दार्शनिक सामान्य अर्थो में गलत निर्णय देने के दोषी है ।यदि क्रम का अर्थ है डिजाइन आयोजना या व्यवस्था अर्थात एक विशेष ढंग से वस्तुओं की स्थिति उनके पारस्परिक सम्वन्ध उनके पूर्वापर सम्वन्ध और इसी प्रकार की अन्य चीजें तो सभी प्राकृतिक विषयों को क्रमवद्ध एवं व्यवस्थित कहा जाना चाहिए ।

इस प्रकार मनुष्य प्राकृतिक आयोजना में ईश्वर विश्वास के आधार को ग्रहण करता रहा है । इसी क्रम में हम पूर्वोक्त दार्शनिकों के अतिरिक्त कुछ और नाम जोड़ सकते है जैसे न्यूटन ने अपनी पुस्तक' प्रिन्सिपल ऑफ नेचर' में दैवीय इच्छा को स्वीकार किया और प्रकृति की व्याख्या अन्धी अनिवार्यता के रूप में न कर ईश्वरीय इच्छा के द्वारा

स्वीकार किया । अंग्रेजी भौतिक विद् सर जेम्स ने 'मिस्टीरियस यूनिवर्स' (१९३०) में यह बताया कि नये वैज्ञानिक ज्ञान से यह पता चलता है कि यह जगत किसी गणितज्ञ द्वारा निर्मित है । लेकोम्ते दू न्वोय ने अपनी वहुविख्यात् पुस्तक ह्यूमन डेस्टीनि (१९४७) में अणुओं की व्यवस्था के वैज्ञानिक आधार पर एक बुद्धिमान कर्ता को स्वीकार किया । और एक प्रोटोन मौलिक्यूल के अणुओं की संयोग से हुई व्यवस्था को अस्वीकार किया । कैथलिक ईश्वरवादी और जीव वैज्ञानिक 'टील हार्ड डी कार्डिन' ने अपनी पुस्तक 'दि फिनोमिनन आफ मैन' (१९५५) में प्रकृति की रहस्यमयता की व्याख्या के लिये और उसके उद्देश्य की सिद्धि के लिये एक दैवीय आवश्यकता पर बल दिया है ।

जहाँ एक तरफ इस मत के समर्थकों की लम्बी श्रृंखला प्रदर्शित की गई वही इसके विपरीत मत रखने की भी अन्तहीन सूची तैयार की जा सकती है । ह्यूम और कान्ट के अतिरिक्त एच०जे० पैटन ने अपनी पुस्तक "दि मार्डन प्रेडिक्टमैन्ट में कहा '' यदि हम बौद्धिक रूप से ईमानदार रहे तो हमें स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करना चाहिए कि जगत के अचानक हुये विस्फोटों और लम्वी दूरियों में कोई अर्थ या उद्देश्य हम नहीं ढूँढ सकते - और निश्चित रूप से ऐसा कोई उद्देश्य जो मनुष्य की शुभेच्छा पर आधारित है (नहीं ढूँढ सकते)' ।

प्रश्न उठता है कि यदि जगत सुस्पष्ट रूप से व्यवस्था या क्रम को प्रकट करता है तो क्यों हममे से कुछ लोग उस व्यवस्था को देख और समझ नहीं पाते । इसका उत्तर यही है कि प्रत्येक वह व्यक्ति जो जगत में व्यवस्था या क्रम देखता है वह ईश्वर के ही परिप्रेक्ष्य में । इसके अतिरिक्त जगत में कोई सचेतन व्यवस्था स्वीकार नहीं की जा सकती इस अव्यवस्था का स्पष्ट उदाहरण जगत में सर्वत्र व्याप्त दुःख व्याधि पाप इत्यादि है । जिसका अध्ययन व समाधान ईश्वरवादियों ने दार्शनिक जगत में अशुभ की समस्या के अन्तर्गत करने का असफल प्रयास किया ।

अन्ततः हम देखते है कि प्रत्यय सत्ता युक्ति , विश्वकारण युक्ति के समान ही प्रयोजनमूलक युक्ति भी ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में असफल ही सिद्ध होती है । क्योंकि दुःख दर्द और मृत्यु सदैव उपस्थित है । इस प्रकृति में अस्तित्व के लिये अनवरत संघर्ष होता है । जिससे कितने ही जीवों की प्रजातियाँ नष्ट हो जाती है और हर जीव विशेष अनिवार्यतः मृत्यु को प्राप्त करता है और वह भी प्रायः भूख ठंड बीमारी आदि की असह्य पीड़ा से । इसी प्रकृति में एक प्रकार के जीव अन्य के द्वारा जीवित खा लिये जाते हैं , असंख्य प्राणी पूरा जीवन जीने के पहले ही समाप्त हो जाते हैं और आधा जीवन भी उनका वेदनामय ही होता है । क्या ऐसी प्रकृति का रचयिता सर्वशक्तिमान और कल्याणकारी जिसकी कल्पना ईश्वरवादियों ने की है हो सकता है । अतः प्रकृति में व्याप्त अशुभ को देखते हुये ईश्वर के अनस्तित्व को स्वीकार करना ही अधिक विवेक पूर्ण लगता है ।

सन्दर्भ

१. एक्वीनस सेन्ट थामस-सम्मा थियोलाजिका क्वेशचन ।। आर्टिकल ३६ इन वेसिक राइटिंग्स आर्फ सेन्ट थामस एक्वीनस, एडीटेड एन्टन सी पेगीज (न्यूयार्क, रेन्डम हाउस १९४५) बाल्यूम १. संदर्भित गॉड एन्ड रीजन में पृ० ६६

२. डेविड ह्यूम . डायलॉग कन्सर्निगं नेचुरल रीलिजन पृ० ११५

३. इमैनुअल कान्ट क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन अनु० नार्मन केम्प स्मिथ (लंदन मैक्मिलन १९२९ पृ० ५१९)

४. जॉन हास्पर्स, दार्शनिक विश्लेषण परिचय अनुवादक गोवर्धन भट्ट. प्रथम संस्करण १९७४ प्रकाशन विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी सम्मेलन भवन पटना पृ० ६७८

५. पेले विलियम- नेचुरल थियोलॉजी, एडिटेड फ्रेडरिक फेरे लाइब्रेरी ऑफ लिवरल आर्टस १९६३ पृ० ६७

६. मर्टिन्यू . जे. ए स्टडी ऑफ रिलिजन वोल्यूम.१ क्लारेन्डन प्रेस १९००. पृ० २४७

७. वही पृ० २५९

८. वहीं पृ० २५९

९. ह्यूम डेविड, डायलॉग कन्सर्निंगं नेचुरल रिलिजन, एडिटेड हेनरी डी० एकेन न्यूयार्क १९४८ पृ० ५२

१०. वहीं, पृ० ६९

११. वहीं, पृ० ६९

१२. जॉन हास्पर्स, दार्शनिक विश्लेषण परिचय अनु० गोवर्धन भट्ट विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी सम्मेलन भवन पटना. पृ० ६७९

१३. गॉड एन्ड रीजन, एडिटेड बॉय मिलर पृ० ७०

१४. इमैनुअल कान्ट क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन ट्रा० नार्मन केम्प स्मिथ पृ० ५१८

१५. वही पृ० ५२०

१६. डेविड ह्यूम दि नेचुरल हिस्ट्री ऑफ रिलिजन एडि० एच० ई० रूट (स्टैन्फोर्ड कालिफ : स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस १९५६) पृ० ७५

१७. वाय आई एम नाट ए क्रिश्चियन एण्ड अदर ऐसेज एडि. पॉल एडवर्डस (न्यूयार्क साइमन एण्ड श्चस्टर १९५७) पृ० २४

१८. चार्ल्स डार्विन दि ओरिजन ऑफ स्पिशील सिक्स्थ एडी. न्यूयार्क १९२३. सन्दर्भ गॉड एन्ड रीजन से पृ० ७४

१९. जॉन स्टुअर्ट मिल . थीज्म, इन थ्री ऐसेज ऑन रिलीजन भी. एडी. न्यूयार्क लांगमन्स. ग्रीन एण्ड क० रिप्रिन्ट १९२३) पृ० १६७

२०. एफ. आर. टेनेन्ट फिलॉस्फिकल थियोंलांजी कैम्ब्रिज इग्लैंड यूनिवर्सिटी प्रेस १९२८.३०) पृ० ८५

२१. वहीं पृ० ७५

२२. वहीं पृ० ७५

२३. वही पृ० ७६

३.४ नैतिकता मूलक युक्ति

पारम्परिक तार्किक युक्तियों की असफलता के उपरान्त मनुष्य ने ईश्वर की सत्ता हेतु नैतिक, सौन्दर्यात्मक, मूल्यात्मक अनुभूतियों को आधार बनाया । उसी क्रम में जब दार्शनिकों ने तथ्यात्मक विषयों से हटकर नैतिकता परक विषयों को ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिये आधार माना तो नैतिकता मूलक तर्क प्रकाश में आया । नैतिक अनुभूति पर आधारित युक्ति को आधुनिक युग के महत्वपूर्ण दार्शनिक 'इमैनुअल कान्ट' ने उसके बाद 'जॉन् हेनरी न्यूमैन' ने 'ए ग्रामर आफ एसेन्ट' में 'डब्ल्यू आर सोर्ले' ने 'मारल वैल्यूस एण्ड द आइडिया आफ गाड' में 'जेम्स मर्टिनो' ने 'टाइप्स आफ एथिकल थ्योरी' और 'द स्टडी आफ रीलिजन' में और 'हेस्टिंग्स रैशडल' ने 'दी थ्योरी आफ गुड एण्ड इविल' में प्रधानता दी । समसामयिक युग में 'जॉन् बेली' ने 'दी इन्टरप्रीटेशन आफ रीलिजन', 'एच०जे०पेटन' ने 'दी मार्डन प्रेडिक्मेन्ट' में इसे पुनः प्रस्तुत किया । किन्तु इस युक्ति में भी प्रधानता संवेग, नैतिक आदेशों एवं श्रद्धा भावों को मिली । अतः इसे भी पूर्ण संज्ञानात्मक नहीं माना गया ।

यद्यपि कांट ने पूर्वोक्त तीनों युक्ति का खण्डन किया लेकिन उसके खंडन का उद्देश्य ईश्वर का निषेध नहीं था, बल्कि मात्र यह था कि हम ईश्वर के ज्ञान के लिये उन्हीं स्त्रोतों एवं विधियों का प्रयोग नहीं कर सकते जिसका जगत का वस्तुओं की ज्ञान प्राप्ति के लिए करते हैं क्योंकि पारमार्थिक विषय ज्ञान के विषय नहीं बल्कि श्रद्धा और विश्वास के विषय है । अतः उसने ईश्वर के अस्तित्व के लिये एक नवीन लेकिन भिन्न नैतिकता मूलक युक्ति का प्रतिपादन किया ।

यह युक्ति नैतिक अर्थपूर्णता के एक मौलिक अनुभव से प्रारम्भ होती है , यदि कोई यह मानता है कि विश्व में और मानवीय अनुभव में कोई नैतिकता नहीं है तो उसके लिये यह युक्ति प्रारम्भ में ही समाप्त हो जाती है । लेकिन कांट का विश्वास था कि हममें से अधिकांश लोग नैतिकता का उसी प्रकार अनुभव करते है जैसे जगत और जगत

के विषयों का । कांट कहते है - '' दो वस्तुयें नित्य नये और बढ़ते हुये आदर के साथ हमारे मस्तिष्क में आती है और हम भी उन पर प्रतिक्रिया करते हैं, लगभग हमेशा ही अधिक दृढ़ता से प्रतिक्रिया करते है - मेंरे ऊपर सितारों भरा आकाश रूपी स्वर्ग और मेंरे अन्तर्गत एक नैतिक नियम । ''(१)

कांट की यह महत्वपूर्ण उक्ति यह सिद्ध करती है कि कांट के लिये नैतिक अनुभूति उतनी ही वास्तविक है जितनी इन्द्रियानुभूति । जिस प्रकार हम अपने आपको एक आनुभविक विश्व में पाते है जो मुझसे स्वतंत्र वस्तुओं से नियंत्रित है और हम इस विश्व के प्रति केवल विधेयात्मक प्रतिक्रिया करते है ठीक उसी प्रकार हम अपने आपको एक ऐसे नैतिक जगत में भी पाते है जो हमारे मत व रूचियों से स्वतंत्र एक वस्तुनिष्ठ नैतिक नियम द्वारा संचालित है । जैसे तारों भरे स्वर्ग के प्रति संदेह व्यक्त करने वाले मनुष्यों को हम नेत्रहीन, अबौद्धिक या दोषपूर्ण शारीरिक संरचना वाला मानते हैं उसी प्रकार नैतिक कर्तव्य और उत्तरदायित्व को अस्वीकार करने वाले मनुष्यों को भी हम उपरोक्त दोषों से युक्त मानेगें ।

अतः कान्ट का मानना है कि नैतिक नियम विश्व में है और पहले से है । उल्लेखनीय है कि कांट चेतना और नैतिक चेतना में अन्तर मानते है । नैतिक नियमों का जिक्र करते समय उनका तात्पर्य किसी विशेष नैतिक नियम से नहीं है ।
सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है कि विश्व की सभी सभ्यताओं व समाजों में लगभग एक सी नैतिक नियमावली थी । जैसे सभी धर्म कहते हैं:- निःस्वार्थी होना चाहिए अतः निःस्वार्थी होना एक सार्वभौम नैतिक नियम है ।

यहाँ कांट का स्पष्ट मत है कि क्या उचित है इस सार्वभौमिक नैतिक अनुभूति का दावा नहीं किया जा सकता है लेकिन ' कुछ उचित है ' यह एक सार्वभौमिक नैतिक अनुभूति अवश्य है । कर्तव्य भिन्न-भिन्न हो सकते है लेकिन कर्तव्य है इसमें कोई

शंका नहीं हो सकती है । नैतिक निर्णयों में व्यक्ति एक प्रकार की बाध्यता भी महसूस करता है जिसके अन्तर्गत कर्तव्य पालन की धारणा दृढ़ होती है । कर्तव्य पालन न कर पाने पर वह ग्लानि और क्षोभ से भी युक्त होता है । नैतिक अनुभूति परिणाम और प्रयोजन से हटकर स्वतंत्र होती है । यह निरपेक्ष अनुभूति कर्तव्य के लिए कर्तव्य की मान्यता से सम्बन्धित है । नैतिक बाध्यता से यह भी प्रदर्शित होता है कि व्यक्ति नैतिकता का पालन कर सकता है क्योंकि असंभव के प्रति बाध्यता की भावना नहीं उपजती है ''करना चाहिए' नैतिक नियंत्रण, कर्तव्य करने की अनुभूति एक वस्तुनिष्ठ नैतिक व्यवस्था और नैतिक नियम की ओर संकेत करती है, यदि नैतिक अनुभव का कोई वस्तुनिष्ठ आधार नहीं होगा तो सभी नैतिक अनुभव अंसभव होगें ।

कांट कहता है कि नैतिक नियमों के आधार और नैतिक चेतना का स्त्रोत मात्र सर्वोच्च सत्ता या सर्वोच्च बुद्धि ही हो सकती है, उसका तर्क इस प्रकार है :-

नैतिक नियम या कर्तव्य की पूर्ति के लिये सर्वोच्च शुभ या सर्वोच्च सुख है की आवश्यकता है अर्थात् नैतिक नियमानुसार कार्य करने पर पूर्ति के रूप में शुभ या सुख की ही प्राप्ति होनी चाहिए और इस सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति तभी संभव है जब नैतिक कर्तव्य का विचार पूर्णतः शून्य न हो । अर्थात् हमारे नैतिक कर्तव्य के अनुसार कार्य करने और सर्वोच्च शुभ के मध्य कोई अनुपात होना ही चाहिए । वह सर्वोच्च सत्ता ईश्वर है जो यह गारण्टी देती है कि नैतिक कार्य करने वाला अपने कार्य का उचित परिणाम प्राप्त करेगा ।

इस प्रकार कांट ईश्वर के अस्तित्व के लिये अपने तर्क को उसी आधार पर स्थापित करता है जो सामान्यतः ईश्वर के अस्तित्व को खंडित करने के लिये प्रयुक्त की जाती है । अर्थात नैतिकता और सुख के अनुपात में अनुकूलता । अगर यह मान लिया-जाये कि विश्व में वस्तुतः नैतिकता है तो ईश्वर का अस्तित्व एक ऐसी सत्ता के रूप में

अनिवार्य है जो नैतिकता और इसके फलों की प्राप्ति के मध्य एक न्याय पूर्ण सम्वन्ध स्थापित कर सके ।

कांट के अनुसार हम सैद्धान्तिक तर्क से ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते जबकि व्यावहारिक तर्क द्वारा ईश्वर का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है सैद्धान्तिक तर्क इन्द्रियानुभव से प्रारम्भ होकर इन्द्रियानुभव पर ही समाप्त होता है । जवकि व्यावहारिक तर्क अर्न्तनिहित नैतिक नियम से आरम्भ होता है । कांट का नैतिकता मूलक तर्क वास्तव में उस तरह का तर्क नहीं है जिस तरह के पारम्परिक तर्क है क्यों कि इसमें ईश्वर की सत्ता किसी आधार वाक्य या आनुभविक साक्ष्य से नहीं निगमित की जाती वल्कि ईश्वर का अस्तित्व व्यावहारिक रूप से नैतिकता के वस्तुनिष्ठ वैधता के लिए एक अनिवार्य शर्त या पूर्व मान्यता है जिसे इसी रूप में पहले से अस्तित्ववान होना चाहिए ।

कांट के वाद सर्वाधिक प्रभावशाली रूप में नैतिक सत्ता को प्रत्ययवादी दार्शनिक तथा अंग्रेजी धर्मशास्त्री हेस्टिंग्स रैशडल ने प्रस्तुत किया उसके अनुसारः-

यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो इस वात से यह अनिवार्य रूप से नहीं निगमित होता है कि कोई भी नैतिकता नहीं है । उदाहरणार्थ कोई भी वस्तुवादी स्वाभाविक रूप से अपने लिये एक विशुद्ध प्राकृतिक और सापेक्षिक नैतिकता को स्वीकार कर सकता है जिसके द्वारा वह अपने व्यावहारिक जीवन को व्यवस्थित कर सके। लेकिन यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं रहता है तो इससे यह अनिवार्य रूप से निगमित होता है कि कोई वस्तुनिष्ठ नैतिकता नहीं है । यदि कोई यह मानता है कि नैतिक आदर्श है तो उससे यह निश्चित रूप से पूछा जा सकता है कि वे कहाँ अस्तित्ववान है ? स्पष्ट रूप से नैतिक आदर्श किसी कुर्सी मेज या ऐसी ही किसी वस्तु में नहीं रह सकते । आदर्शों की प्रकृति ही ऐसी है कि वे किसी मन में रह सकते है ? प्रश्न उठता है किसके ? निश्चित रूप से किसी मनुष्य के मन में नहीं क्योकि मनुष्य मन सीमित और निरन्तर

परिवर्तनशील है अतः हमें अनिवार्य रूप से सार्वभौम और सर्वकालिक आदर्शों के यथेष्ट आधार के लिये एक सार्वभौम और अपरिवर्तनशील मन की सत्ता स्वीकार ही करनी पड़ेगी । रैशडल के शब्दों में :

''यद्यपि ईश्वर में विश्वास नैतिकता जैसी वस्तु के अस्तित्व की मूलभूत शर्त नहीं है बल्कि वह वस्तुनिष्ठ और निरपेक्ष नैतिकता की तार्किक पूर्वमान्यता है । नैतिक आदर्श कभी भी और कहीं अस्तित्ववान नही हो सकते सिवा मन के । निरपेक्ष नैतिक आदर्श केवल उसी मस्तिष्क में अस्तित्ववान होगें जहाँ से सम्पूर्ण वास्तविकता निगमित होती है । हमारे नैतिक आदर्शो को वस्तुनिष्ठ वैधता एवं बौद्धिक स्वीकृति तभी प्राप्त हो सकती है जबकि दैवी प्रकाशना के रूप में प्राप्त सार्वभौम नैतिक आदर्शो के ईश्वरीय मस्तिष्क में अस्तित्ववान माना जाये ।(२)

इस प्रकार कांट एवं रैशडल के नैतिकता मूलक तर्क में निहित है वस्तुनिष्ठ नैतिकता में विश्वास । नैतिक मूलक तर्क के सभी समर्थक यह विश्वास करते है कि आदर्श और कर्तव्य अबोधगम्य है जव तक कि वे दैवीय उत्पत्ति के प्रकाश में न देखे जाये या दैवीय अर्थो में न समझे जाये । अन्य शब्दों में उनका ज्ञान तभी हो सकता है जबकि उनकी दैवीय उत्पत्ति हो और क्योंकि उनका ज्ञान हमें है ।अतः वे किसी दैवीय शक्ति से उत्पन्न है और वही दैवीय शक्ति ईश्वर कहलाती है ।

उद्देश्यमूलक तर्क व नैतिकता मूलक तर्क में यह साम्यता हो सकती है कि दोनों ही जगत की व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में प्रश्न करते है लेकिन अन्तर यह है कि जहाँ उद्देश्यमूलक युक्ति के प्रश्नों का आधार इन्द्रियानुभविक जगत की व्यवस्था है वही नैतिकता मूलक तर्क में प्रश्न उठता है नैतिक अनुभूति से युक्त जगत की व्यवस्था का ।

डी०एम० बेले ने कहा - या तो हमारे नैतिक मूल्य हमें प्राकृतिक वास्तविकता के स्वभाव और उद्देश्य के बारे में कुछ बताते है अर्थात् वस्तुनिष्ठ है । जगत के विषय में कुछ कहते है या वे व्यक्तिनिष्ठ या विषयिनिष्ठ है और निरर्थक है । हम लोगों में से शायद ही कोई नैतिक आदर्शो को निरर्थक मानने को तैयार होगा । (३)

प्रायः दार्शनिक नैतिक चेतना के विचार का और वस्तुनिष्ठ नैतिक व्यवस्था में विश्वास का खंडन करते है, क्योकि नैतिकता मूलक तर्क अनिवार्यतः इन्हीं पर आधारित है अतः नैतिक मूल्यों की वस्तुनिष्ठता के प्रश्न की जाँच अनिवार्य हो जाती है ।

सर्वप्रथम आपत्ति नैतिक मूल्यों की वस्तुनिष्ठता के विश्वास के विरूद्ध यह है कि हम नैतिक चेतना सीखने की प्रक्रिया से प्राप्त करते हैं अतः यह नैतिक सार्वभौम और वस्तुनिष्ठ होने के बजाय विशुद्ध विषयिनिष्ठ और सापेक्ष होती है ।

नैतिकता मूलक तर्क के समर्थकों ने इसका दो तरह से प्रत्युत्तर दिया । प्रथम किसी भी वस्तु का सीखा जाना किसी भी वस्तुनिष्ठ सत्यता या वैधता के विरूद्ध प्रमाण नहीं हो सकता । क्योंकि हम सीख कर ही जानते है दो और दो चार होता है । या युद्ध खराब है और फिर भी हम इनकी सत्यता में विश्वास करते है । क्योंकि कुछ भी ऐसा नहीं है जिसको जानने का हम दावा करते हो और उसे एक या अन्य तरीके से सीखते न हो । इसी प्रकार विभिन्न व्यक्ति शुभ की व्याख्या को अस्वीकार करते है लेकिन इससे यह नहीं सिद्ध होता कि वस्तुनिष्ठ शुभ नहीं है । दूसरी आपत्ति इस परिप्रेक्ष्य में यह उठाई जाती है कि वह विशिष्ट नैतिक कर्तव्यों या नियमों से सम्बन्धित है । कोई भी नैतिक नियम जैसे किसी को व्यभिचार नहीं करना चाहिये इत्यादि कर्तव्य सामान्यतः परिस्थिति सापेक्ष रूप में सीखे या प्राप्त किये जाते है और यह किसी संस्कृति विशेष से सम्बन्धित होते हैं इन तथ्यों से सभी सहमत होगें ।

लेकिन यह आपत्ति भी स्वीकार्य नहीं है क्योंकि कांट इत्यादि नैतिकता मूलक तर्क के समर्थकों का कहना है कि वे किसी विशेष नैतिक नियम की वात नहीं कर रहे हैं उनका तात्पर्य केवल कुछ नैतिक है कि अनुभूति से ही है । वह नैतिकता क्या है यह प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं है । मुझे क्या करना चाहिए इसका ज्ञान अवश्य ही संस्कृति और परिस्थिति द्वारा हो सकता है लेकिन 'चाहिये की नैतिक भावना मानवता द्वारा हीं प्रदत्त है । अतः कान्ट ने माना कि यदि कोई नैतिकता की मूलभूत मान्यता से ही इन्कार करता है तो वह या तो मनुष्य नहीं है या फिर मानव के किसी महत्वपूर्ण संकाय का उसमें अभाव है । इस युक्ति के विरूद्ध उठाई गई आपत्ति के दार्शनिक प्रत्युत्तर या समाधान भी दिये गये जिनमें प्रमुख है :-

(१) प्रकृतिवादी
(२) निरीश्वरवादी अस्तित्ववादी

प्रकृतिवाद वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार प्रकृति ही परम सत्ता है । लेकिन ''प्रकृति '' की अलग -अलग व्याख्यायें दी जाने के कारण प्रकृतिवाद के भी अनेकों प्रकार हो गये । अतः जब यह कहा जाता है कि प्रकृतिवादी यह विश्वास करते है कि अन्य वस्तुओं की भाँति ''शुभ'' की कसौटी भी प्रकृति है तो यह वहुत महत्वपूर्ण है कि वह ''प्रकृति' से क्या आशय ग्रहण कर रहे है ।

ग्रीक दार्शनिक एपिक्यूरस ने एक विशेष प्रकार के प्रकृतिवाद को स्वीकार किया । वह कहता था कि चूँकि मनुष्य अपने सभी कार्यो के द्वारा सुख को ही प्राप्त करना चाहता है अतः सुख ही सर्वोच्च शुभ है । इसी प्रकार मिल अपने उपयोगितावादी सिद्धान्त के लिये मनुष्य को अधिकतम व्यक्ति के अधिकतम सुख के लिये प्रयत्न करना चाहिये - का प्रकृतिक औचित्य देता है वह कहता है कि ध्वनि श्रव्य है के लिये एकमात्र प्रमाण है कि लोग उसे सुनते है ठीक उसी प्रकार कोई वस्तु इच्छित करने योग्य है अर्थात ऐच्छय

है का एकमात्र प्रमाण है कि लोग उसकी इच्छा करते है ? इससे मिल के अनुसार यह निष्कर्ष निकलता है कि सुख एच्छय है के लिये एकमात्र प्रमाण है कि लोग वास्तव में इसकी इच्छा करते है ।

प्रकृतिवाद का एक अतिवादी अर्थ तव उभरता है जव प्रकृति का अर्थ भौतिका व रसायन शास्त्र के अर्थ में और मूल्यात्मक कथनों को आनुभविक जगत और मनोजगत सम्बन्धी तर्कवाक्यों के अर्थ में ग्रहण किया जाता है । इस अपरिपक्व विचारानुसार मूल्यात्मक कथनों की प्रतिबद्धता का आधार है व्यक्ति की वस्तुओं के प्रति अपनी इच्छाये या भावनायें । यह निर्णय कि चोरी करना बुरा है उतना ही विषयिनिष्ठ है जितना यह कहना कि चोरी करना अच्छा है ।'

नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में इसी प्रकार का विचार बर्टेन्डरसेल का भी है । रसेल के अनुसार - नैतिक प्रश्नों के संदर्भ में हमारे निर्णय ठीक उसी प्रकार है जैसे हमारे रंगों के विभिन्न प्रत्यक्ष, जिनकी बिना किसी संदेह के भौतिक शास्त्रियों द्वारा व्याख्या की जाती है । अतः किसी के अनैतिक कार्यों की आलोचना की कसौटी वस्तुनिष्ठ न होकर ठीक वैसे ही है जैसे किसी की रगंदृष्टिहीनता की कसौटी । अन्य शब्दों में नैतिकता और कुछ नहीं सिवाय अधिकतम लोगों की विषयिनिष्ठ अनुभूति के अर्थात् अधिकांश लोग जिसे स्वीकार करे वह नैतिक है अन्यथा अनैतिक । अतः नैतिकता विषयिनिष्ठ आनुभविक या मनोवैज्ञानिक स्थिति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।(४)

इसके अतिरिक्त एक निरीश्वरवादी अस्तित्ववादी विचारधारा ऐसी भी है जिसमे ज्याँ पाल सार्त्र नैतिक आदर्शो व चयन हेतु कोई आधार नही देना चाहते । सार्त्र यह मानकर चलता है कि सर्वकालिक नियम निर्माता व नैतिकता के व्याख्याता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व नहीं है । ईश्वर अविश्वसनीय एवं मृत है । इसी मान्यता के साथ नैतिक नियमों का वस्तुनिष्ठ आधार या विचार भी समाप्त हो जाता है । सार्त्र के लिये-

नैतिक निर्णयों और चुनाव के संबन्ध में मनुष्य स्वतंत्र है । यह स्वतंत्रता इच्छित कार्य करने और स्वेच्छा से अपना निमार्ण करने की स्वतंत्रता है । उसके अनुसार सब कुछ नैतिक रूप से वैध हो सकता है । किन्तु किन्हीं भी अर्थो में सार्त्र पूर्णतः निषेधवादा नहीं जो समस्त मूल्यों या नैतिकता का खंडन करता हो । यदि नैतिकता का आधार ईश्वर नहीं तो मनुष्य अवश्य है । मनुष्य पहले अस्तित्ववान है फिर अपने निर्णयों या चुनावों से वह अपना निमार्ण करता है या अपने को परिभाषित करता है । इसमें चुनावों का अपना ही महत्व है हम जो कुछ अपने लिये चुनते है वह सम्पूर्ण मानव समाज के लिये चुनते है । हम जो कुछ भी करते है उसमें न केवल स्वयं को वल्कि समस्त मानव जाति को सम्मिलित करते है ।(५)

इस प्रकार सार्त्र नैतिकता मूलक तर्क के समर्थकों की मान्यता का यदि हम नैतिकता को स्वीकार करते है तो ईश्वर का अस्तित्व अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा -का खंडन करते है और सिद्ध करते है कि नैतिकता को स्वीकार करते हुए भी ईश्वर का अस्तित्व नैतिकता को व्याख्या के लिये आवश्यक नहीं है ।

नैतिकता मूलक तर्क के समर्थकों ने कहा कि नैतिकता विषयिनिष्ठ नहीं वस्तुनिष्ठ है । जिसको अन्तः प्रज्ञात्मक अनुभव द्वारा जाना जा सकता है । अपने मत के समर्थन में वे उपरोक्त दोनों आपत्तियों के निराकरण का प्रयास करते है । उदाहरण के लिये यह तर्क दिया जा सकता है कि कोई भी नैतिक निर्णय जैसे ''एक्स'' उचित है या 'एक्स' अनुचित है तब तक अबोधगम्य है जब तक यह न माना जाये कि कहीं कुछ न कुछ ऐसा अवश्य है जिसके आधार पर या जिसके अर्थो में 'एक्स ' को उचित या अनुचित कहा जा सकता है । यद्यपि यह सत्य है कि हम नैतिक मूल्यों के विषयनिष्ठता के स्वरूप को लेकर बहुत निश्चित नहीं है और समय-समय पर क्या उचित है क्या अनुचित है के सम्बन्ध में मत परिवर्तन करते है । पर प्रत्येक समय जब भी हम ऐसा कोई भी निर्णय देते है या अपने कार्यो व चयन में उन्हें प्रकट करते है तो

हम निश्चित रूप से नैतिक मूल्यों की एक बर्हिनिष्ठ कसौटी में अपने विश्वास को व्यक्त करते है । यदि हम नैतिक मूल्यों व आदर्शो के एक वस्तुनिष्ठ और अपरिवर्तशील आधार को न मानते होते तो हम कभी भी गंभीर रूप से इस प्रकार के नैतिक निर्णय देने में सक्षम न होते । जबकि वास्तविकता यह है कि हम सदैव अपने ही नहीं वल्कि दूसरों के बारे में भी इस प्रकार के निर्णय देते है । इसका अर्थ यह है कि हम उन्हें वस्तुनिष्ठ रूप में सार्थक मानते हैं । इस प्रकार यह कहा जा सकता है नैतिक निर्णय देना और साथ ही उनके किसी वस्तुनिष्ठ आधार को अस्वीकार करना स्वतोव्याघात है । मार्सल जो कि स्वयं एक अस्तित्ववादी था, सार्त्र के स्वंतन्त्रता के प्रत्यय की इसी प्रकार आलोचना करता है सार्त्र के अनुसार मूल्यों का आधार मानवीय स्वंतन्त्रता - (जो स्वयं आधारहीन है) हैं । मार्सल प्रश्न करता है कि यदि मानव का कोई वस्तुनिष्ट सार नहीं है - कुछ ऐसा जो व्यक्ति के परे हो जिसमें उसकी सार्थकता हो - तो मनुष्य के किसी भी संप्रत्यय की कोई भी व्याख्या नहीं हो सकती उस रूप की भी नहीं जो मनुष्य - सार्त्र के अनुसार अपने स्वतंत्र चयन द्वारा निर्मित करता है ।

इसी संदर्भ में यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि जव सार्त्र यह कहता है कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है अतः मूल्यों का कोई वस्तुनिष्ठ आधार नहीं है समस्त मूल्य व्यक्तिनिष्ठ या विषयिनिष्ठ है - अन्य ढंग से वह यह कहता प्रतीत होता है कि यदि कोई वस्तुनिष्ठ नैतिक व्यवस्था है तो ईश्वर को उनके आधार के रूप में अवश्य अस्तित्ववान होना चाहिए । अतः सार्त्र यह स्वीकार करता है कि यदि हम मूल्यों की वस्तुनिष्ठता को मानकर चलें तो ईश्वर अनिवार्य है और सार्त्र मूल्यों की वस्तुनिष्ठता ही अस्वीकार करता है इसीलिये उसे ईश्वर की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद के विचारों के खण्डनोपरान्त मूल्यों के प्रकृतिवादी आक्षेप शेष रह जाते है । जिसकी सबसे सशक्त व्याख्या प्रस्तुत की जी०ई०मूर ने । प्रकृतिवादियों के नैतिकता को प्रकृति की अवस्थाओं या विशेषताओं से व्याख्यायित करने के सारे प्रयत्न

तर्क दोषों से युक्त है । यह तर्कदोष तव उत्पन्न होता है जव हम है से (तथ्य से) चाहिये (आदर्शो) को निगमित करने का प्रयास करते है । जैसे कि इपिक्यूरस या मिल ने किया । इन विचारकों ने माना था कि चूँकि मनुष्य किसी चीज की इच्छा करता है अतः उसे उसकी इच्छा करनी चाहिए ।

सर्वप्रथम कांट ने इस दोष की ओर इंगित किया और स्वयं नैतिक विचारों के एक प्रागनुभविक स्त्रोत के ऊपर बल दिया ।

ईश्वर को मूल्यों के स्त्रोत के रूप में ग्रहण करने पर एक प्रश्न यह भी उठता है कि क्या 'एक्स' शुभ है क्योंकि ईश्वर उसकी इच्छा करता है या ईश्वर 'एक्स' की इच्छा करता है क्योंकि वह शुभ है ।

यह दोनों ही विकल्प अधूरे है यदि शुभ और अशुभ अच्छा और वुरा ईश्वर की इच्छा के परिणाम है तो इसका तात्पर्य है कि सारे मूल्य अन्ततः अविहित व निरंकुश हैं । और यदि दूसरा विकल्प स्वीकार करें कि ईश्वर किसी चीज की इच्छा तभी करता है क्योंकि यह स्वयं में शुभ है तो मूल्य ईश्वर से वाहर स्थित है ऐसी स्थिति में ऐसा कुछ अवश्य हो जायेगा जो ईश्वर के बाहर उससे स्वतंत्र हो जायेगा और ईश्वर उसके अधीन हो जायेगा या उससे शासित होगा और तव ईश्वर मूल्यों का स्त्रोत नहीं होगा ।(६) प्लेटों ने इस समस्या को कुछ इस प्रकार रखा था -

ईश्वर धर्मनिष्ठता को क्या इसी लिए चाहता है कि वह पुण्यात्मा है या धर्मनिष्ठता पुण्यात्मा है क्योंकि ईश्वर उसे चाहता है ।

सन्त यमस एक्वीनस इस समस्या का यह समाधान देगें - यह निश्चित है कि नैतिक नियम ईश्वर की इच्छा से संचालित होते है, ईश्वरीय इच्छा समस्त शुभ का कारण

है लेकिन इससे नैतिक नियम निरंकुश नहीं हो जाते क्योंकि ईश्वर जो कि सर्वश्रेष्ठ और पूर्ण है अनिवार्य रूप से वही इच्छा करेगा जो शुभतम है । अगर ईश्वर के अस्तित्व (कि वह है) और उसके सार (कि वह क्या है) में कोई भेद नहीं तो ईश्वर की अच्छाई अर्थात् उसका सार उसके अस्तित्व के समान असीमित और अनन्त होगा । इसी प्रकार वह क्या है और वह क्या इच्छा करता है इसमें कोई अन्तर नहीं हो सकता । वह सर्वोत्तम शुभ के अतिरिक्त और कुछ इच्छा ही नहीं कर सकता क्योंकि वह स्वयं सर्वोत्तम शुभ है इसलिये नैतिक नियम कहीं भी अनिश्चित या अस्थिर न होकर वस्तुओं की प्रकृति सर्वोच्च प्रकृति पर आश्रित है ।

इस समस्या से सम्बन्धित मिल की भी आपत्ति है कि ऐसा कर्तव्य जो किसी कानून निर्माता की आज्ञा है सबके लिये नैतिक कर्तव्य नहीं हो सकता । वास्तव में नैतिक कर्तव्य वह होते है जिन्हें अन्तःचेतना उनकी अपनी ही प्रकृति के कारण स्वीकार करें और जिन्हें ईश्वर अपने आदेशों के माध्यम से घोषित करता हो लेकिन निर्माता न हो ।(७) मिल के इस विचार के विपरीत दो विरोधी विचार प्रस्तुत किए जा सकते है ।

यह सत्य है कि किसी भी कानून निर्माता द्वारा वताया गया कोई नैतिक नियम मेरे लिये अनिवार्य रूप से स्वीकार्य हो यह आवश्यक नहीं है । किसी नियम को स्वीकार करने की स्थिति मेरा नैतिक कर्तव्य वन सकती है । यदि मुझे यह विश्वास दिला दिया जाये कि यह नियम किसी ऐसी सत्ता की इच्छा से उत्पन्न हुआ है जो केवल शुभ की ही इच्छा कर सकती है ।

दूसरा मिल ने अतः चेतना के स्वीकरण की वात कही है परन्तु अन्तःचेतना पर बल देना निरर्थक हैं क्योंकि नैतिक मूल्यों के संदर्भ मे जब भी विचार किया जाता है वह किसी विशेष शुभ और अशुभ के संदर्भ में न होकर सामान्य नैतिक चेतना के आधार पर

होता है । अर्थात सामान्य रूप से क्या शुभ है क्या अशुभ है इसके वारे में होता है अतः विशेष अन्तःचेतना को सामान्य नैतिक मूल्यों का आधार नहीं वनाया जा सकता । अतः नैतिक मूल्यों का आधार इससे बाहर कहीं है ।

मूल्यों की वस्तुनिष्ठता को सिद्ध करने के पक्ष में यह भी कहा जाता है कि यह वड़ा विचित्र प्रतीत होगा यदि हम किसी से मूल्यों की वस्तुनिष्ठ व्यवस्था में विश्वास समाप्त करने के लिये केवल इसलिये कहें क्योकि वह उनके उत्पत्ति के निश्चित स्वरूप को ठीक से नहीं बता सकता । यह उतना ही हास्यास्पद होगा जितना यह कहना कि हम क्योंकि तारों के अस्तित्व में आने की प्रक्रिया को ठीक से नहीं जान पाते अतः हमें तारों के अस्तित्व पर भी विश्वास नहीं करना चाहिये ।

समस्त पारम्परिक तर्कों के अध्ययनोपरान्त विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित किया जा सकता है ?

इसका उत्तर इस वात पर निर्भर करता है कि हम प्रमाण का क्या अर्थ करते है ? एक अर्थ में प्रमाण का अर्थ केवल औपचारिक वैधता से है । इस अर्थ में यदि हमारा तर्क तार्किक अनुमान के नियमों केअनुरूप है तो वह वैध है और पूर्ण प्रमाण है । अन्य शब्दों में यदि निष्कर्ष आधार वाक्यों से तार्किक रूप से निगमित होता है तो वह आकारिक रूपसे वैध प्रमाण हैं चाहे उसकी विषय सामग्री कुछ भी हो । किन्तु वैधता और सत्यता में अन्तर होता है । किसी भी वैध तर्क के तर्कवाक्य असत्य हो सकते है । यहाँ स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करना होगा कि हमारा सम्वन्ध ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये आकारिक प्रमाण से नहीं है । क्योंकि यह प्रमाण वैध हो सकता है किन्तु अपने निष्कर्ष (ईश्वर का अस्तित्व है) की सत्यता की गारन्टी नहीं ले सकता । संभवतः जब कहा जाता है कि ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित किया जा सकता है तो हम प्रमाण का अर्थ ऐसे साक्ष्य के रूप में लेते है जो कि ईश्वर के अस्तित्व में

विश्वास को उत्पन्न करें । लेकिन इस अर्थ में प्रमाण देना तव तक असंभव है जव तक कि प्रसंगानुरूप विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं को न स्वीकार कर लें । उदाहरण के लिये नैतिकता मूलक तर्क के आधार पर ईश्वर को कोई तव तक नहीं स्वीकार कर सकता जव तक कि वह इस तर्क के प्रारम्भिक विन्दु के रूप में नैतिक व्यवस्था की वस्तुनिष्ठता को नहीं स्वीकार करता । विश्वमूलक तर्क पर ईश्वर की सत्यता को स्वीकार करने के लिये आवश्यक है पूर्ण रूप में पर्याप्तकारण के विचार को स्वीकार किया जाये । इस प्रकार समस्त पारम्परिक आस्तिक तर्को की सत्यता का आधार पहले से स्वीकृत कोई न कोई सिद्धान्त है । लेकिन इन तर्को का कुछ मूल प्राकल्पनाओं पर आधारित होना इनके अस्वीकरण का कारण नहीं हो सकता । क्योंकि इन प्राकल्पनाओं को न स्वीकार करने पर तर्क अनवस्था दोष से ग्रस्त हो जायेगा । अतः अरस्तू ने भी कहा - यह न जानना कि कुछ चीजें नहीं समझायी या प्रदर्शित की जा सकती एक अनपढ़ व्यक्ति की निशानी है ।

इस प्रकार नैतिकता परक युक्ति भी ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में उस रूप में सफल नहीं हो पाई जिस रूप में ईश्वरवादियों ने तर्कों के माध्यम से ईश्वर को प्रमाणित करने का दावा किया था ।

-: सन्दर्भ :-

१- कान्ट इमैनुअल क्रिटीक आफ प्रैक्टिकल रीजन ट्रा० लेविस वाइटवेक इन्डियानोपोलिस, लाइब्रेरी आफ लिवरल आर्ट) पृ० १६६

२- रैशडल हेस्टिंग्स, दि थ्योरी आफ गुड एन्ड इविल(आक्सफोर्ड इग्लैंड क्लारेन्टन प्रेस १९०७) पृ० २१२

३- बेले. डॉ.एम.फेथ. इन गॉड एन्ड इट्स क्रिश्चियन कन्म्यूमेशन एडिनवर्ग.टी.एन्ड.टी. क्लार्क १९२७) पृ०-२१२

४- रसेल-बर्टेन्ड-(विथ फ्रेडरिक कापिस्टन '' दि एक्सिस्टेन्स आफ गॉडः ए डिवेट रिप्रिन्टेड इन फिलॉसाफिकल एन्ड रिलीजियस इश्यू एडिटेड ए. मिलर) १९७१

५- सार्त्रे जे.पी. एस्जिस्टेन्शियलिस्म ट्रा० वर्नाड इन फ्रेचमन इन एक्सिस्टेन्शियलिज्म एन्ड ह्यूमन इमोशन न्यूयार्क (फिलॉस्फिकल लाइब्रेरी १९५७)

६- इमैनुअल कान्ट -फाउन्डेशन आफ दि मेटाफिजिक्स आफ मारल्स ट्रा० लेविस वाइट इन्डियानोपॉलिस लाइब्रेरी आफ लिवरल आर्ट १९५९) पृ० ५

७- जॉन स्टुअर्ट मिल थीज्म इन थ्री ऐसेज औन रिलिजिन थर्ड एडि०(लंदन लॉगमन्स ग्रीन एन्ड क० १८७५) पृ० १६४

चतुर्थ अध्याय

अस्तित्ववाद में ईश्वर संप्रत्यय

अस्तित्ववाद में ईश्वर संप्रत्यय

अस्तित्ववाद में ईश्वर सम्वन्धी दो प्रकार की विचारधाराएँ प्राप्त होती है :
ईश्वरवादी
अनीश्वरवादी

अस्तित्ववादी विचारकों का एक वर्ग जिसका प्रतिनिधित्व किर्केगार्ड यास्पर्स और मार्सेल करते है, मानव अस्तित्व सम्बन्धी व्याख्या में ईश्वर की आवश्यकता को स्वीकार करता है यद्यपि उनकी ईश्वर विषयक अवधारणा व पारम्परिक ईश्वर विषयक अवधारणा में पर्याप्त वैषम्य है । अस्तित्ववादी ईश्वरवादी विचारकों के अनुसार मनुष्य आत्म स्वतंत्रता का अनुभव करते हुये अपने अर्न्तमन में ईश्वर की सत्ता की अनुभूति करता है और जब भी वह इस स्वतंत्रता से पृथक हो वाह्य रूप में ईश्वर की खोज करता है वह ईश्वर से दूर होता जाता है । मनुष्य स्वयं को एक परिस्थिति में पाता है और परिस्थिति का विश्लेषण करने पर उसे ज्ञात होता है कि उसके स्वयं के अतिरिक्त परिस्थिति में दो और मूल तत्व है (१) वस्तुएँ (२) अन्य । उसके व्यक्तित्व के विकास में यह दो तत्व प्रभावी है अतः वह, वस्तुएँ, और अन्य आपस में सम्वन्धित है । ईश्वरवादी अस्तित्ववादी इन तीनों के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या में ईश्वर को प्राप्त कर लेता है । जबकि अनीश्वरवादी विचारक इन तीनों के सम्बन्ध में ईश्वर की आवश्यकता नहीं महसूस करतें ।

दूसरा वर्ग अनीश्वरवादी अस्तित्ववादियों का है जिसके प्रमुख विचारक हाइडेगर नीत्शे और सार्त्र है । नीत्शे कहता है ईश्वर मर गया है अर्थात् प्राचीन मूल्यों को मानने की अब कोई आवश्यकता नहीं रही । सार्त्र के लिए ईश्वर प्रत्यय आत्मव्याघाती है\मानव स्वतंत्रता और ईश्वर दोनो को एक साथ नहीं स्वीकार किया जा सकता , ईश्वर में विश्वास दुरास्था है, अपने दायित्वों से पलायन है । अनीश्वरवादी विचारको के अनुसार ईश्वर की सत्ता में विश्वास करना यक्ष, राक्षस, गन्धर्व किन्नर आदि अप्राकृतिक जीवों की सत्ता में विश्वास करने जैसा है , यदि कोई कहे कि पेड़ के पास परी है,उसे एक ओर से देखें तो वह पेड़ के दूसरी ओर छिप जाती है अतः उसे खोजने का प्रयत्न करके न पाने पर भी

उसके अस्तित्व को अस्वीकार नही किया जा सकता । इसी प्रकार ईश्वर को भी संसार में कहीं उपलब्ध न होते हुए भी अप्रमाणित नहीं किया जा सका । लेकिन ईश्वर की सत्ता को मानने के लिए कोई प्रवल प्रमाण भी नहीं है । नीत्शे के अनुसार उसका ईश्वर में विश्वास नहीं रह गया है । और यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो उसके वनाये नियम भी मूल्यहीन है अतः मनुष्य पूर्णतः स्वतंत्र है । ईश्वररहित विश्व में मनुष्य को स्वयं नैतिक मूल्यों का चयन और उन्नयन करना पड़ता है उसके पथ प्रदर्शन के लिए न ईश्वर है न कोई सार्वभौम नैतिक नियम । वह जगत में नितान्त अकेला है । सार्त्र व नीत्शे अनीश्वरवादी विचारक है लेकिन हैडेगर को स्पष्टतः ईश्वरवादी या अनीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता । क्योंकि उन्होंने ईश्वर की सत्ता का खंडन भी नही किया नहीं कभी उन्होंने ईश्वर अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया ।

ईश्वर संप्रत्यय के संदर्भ में सभी अस्तित्ववादी विचारक यह स्वीकार करते है कि ईश्वरीय स्वरुप पर नये रुप में चिन्तन करने की आवश्यकता है । इसके अतिरिक्त मनुष्य में सान्त से अनन्त की ओर अतिक्रमण करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है । अतिक्रमणता का यह सिद्धान्त सांसारिकता के संदर्भ में ही व्यापक दृष्टिकोण नहीं वनाता वल्कि अतिक्रमणता की प्रवृत्ति में सांसारिकता से पूर्णतः उठकर धार्मिक भावना पूर्ण होता है । पूर्णता प्राप्ति का प्रयास मनुष्य को निरन्तर ईश्वर की ओर वढ़ने के लिए प्रेरित करता है । यास्पर्स अतिक्रमणता को ईश्वर का पर्याय मानते है ।

इसके विपरीत सार्त्र कहते है अतिक्रमणता का उद्देश्य न प्राप्त किया जा सकता है और त्यागा जा सकता है । संसार ही सव कुछ है फिर भी मनुष्य दिव्यत्व की खोज में इससे भागता है । संसार से भागकर वस्तुतः वह अपने दायित्वों से भागता है।

अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद में ईश्वर विचार को स्वंतत्रता में वाधक माना गया है उनके अनुसार यदि ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया गया तो मनुष्य ईश्वर द्वारा

निर्मित मूल्यों को एवं उसके द्वारा निर्देशित कार्यो को कार्यान्वित करने का माध्यम मात्र है जो उनका मानव अस्तित्व सम्बन्धी अवधारणा के प्रतिकूल है अतः वे ईश्वर संप्रत्यय को आत्मव्याघाती प्रदर्शित करते है ।

यद्यपि ईश्वरवादी विचारक भी मानव को स्वतंत्र स्वीकार करते है क्योंकि विना स्वतंत्रता के वह परिस्थितियों का दास रहेगा । लेकिन यह विचारक मानते है कि स्वतंत्रता मनुष्य को उपहार के रुप में प्राप्त होती है जबकि अस्तित्ववादी अनीश्वरवादी विचारक स्वतंत्रता को मानव अस्तित्व से अपृथक मानते है । ईश्वरवादी अस्तित्ववादी अनीश्वरवादियों के विरोध में कहते है यदि मनुष्य ईश्वर में आस्था रखे विना मानव स्वतंत्रता में विश्वास रखता है तो उसकी स्वतंत्रता ईश्वर के स्थान पर कुछ और खोजता है और तब मनुष्य स्वयं ही ईश्वर बनने का प्रयत्न करता है, अतः ईश्वर के विना स्वतंत्रता निरंकुश हो जाती है ।

इसके अतिरिक्त यदि मनुष्य को स्वयं मूल्यों का निर्माता स्वीकार किया जाए तो वह सापेक्ष मूल्यों का ही चयन करेगा क्योंकि निरपेक्ष की अवधारणा ईश्वर या ईश्वर सदृश सत्ता के ही परिप्रेक्ष्य में संभव है ।

यह जानने के लिए कि अस्तित्ववादी ईश्वरवादी विचारक ईश्वर की सत्ता को किस आधार पर स्वीकार करते है और अनीश्वरवादी उनका निषेध किस आधार पर करते है हम इन विचारकों के ईश्वर विषयक विचारों का क्रम से अध्ययन करेगें । जिसमें ईश्वरवादी विचारकों का प्रतिनिधित्व किर्केगार्ड, मार्सेल, यास्पर्स करेगें और अनीश्वरवादी विचारकों में नीत्शे एवं सार्त्र ।

४.१ सोरेन किर्केगार्ड

ईश्वरवादी अस्तित्ववादी दार्शनिकों में सर्वप्रथम विचारक है सोरेन किर्केगार्ड । उन्होंने व्यक्ति के आन्तरिक जीवन का यर्थाथ चित्र प्रस्तुत करते हुये कहा कि व्यक्ति का अस्तित्व आन्तरिक तनाव तथा क्लेश से युक्त है जिसका अनुभूति होने पर मनुष्य के अन्तर में ईश्वर के प्रति पूर्ण एवं निरपेक्ष आस्था का उदय होता है । किर्केगार्ड ईश्वर में आस्था रखते है किन्तु वे ईसाई सम्प्रदाय के समान ईश्वर की खोज किसी वस्तुनिष्ठ सत्ता के रुप में नहीं करते बल्कि ईश्वर की खोज व्यक्ति की आन्तरिकता में करते है । उनके अनुसार आत्मनिष्ठ ज्ञान कुछ विशेषताओं से युक्त है । प्रथम यह एक से दूसरे व्यक्ति की ओर प्रेषित नही किया जा सकता । शोधार्थियों द्वारा इसमें कुछ जोड़ा नहीं जा सकता है नहीं इसे कक्षाओं में पढ़ाया जा सकता । दूसरा आत्मनिष्ठता के द्वारा जो भी जाना जाता है वह हमेशा विरोधाभास से युक्त होता है इसलिए आत्मनिष्ठ ज्ञान का तादात्म्य आस्था से किया जाता है ।

किर्केगार्ड के अनुसार सत्य को एवं जीवन मूल्य को केवल बौद्धिक सन्तोष मे नहीं जाना जा सकता । सत्य बौद्धिक सन्तोष की वस्तु नहीं है बल्कि सत्य वह हे जो मुझे सन्तुष्ट करें । वह मानता है कि नैतिक आचरण का पथ प्रदर्शन तर्कशास्त्र और तत्वज्ञान से नहीं हो सकता क्योंकि यह दोनो ही मानव के व्यक्तिगत व व्यावहारिक जीवन से विशेष सम्पर्क नहीं रखते । तर्कशास्त्र जो निर्णय करता है वह अवास्तविक होते है जबकि वैयक्तिक जीवन में वास्तविक तथ्यों से काम पड़ता है । तार्किक संभावनाओं और वास्तविक तथ्यों में पर्याप्त अन्तर है । तर्कशास्त्र के सत्य, स्थूल, परिवर्तनशील, वास्तविक जीवन में उपयोगी नहीं हो सकते अतः तर्क का त्याग कर वास्तविक जीवन में निर्णय लेने के लिए चिन्तन भावना और इच्छा के समग्र समुच्चय से विचार करना चाहिए । इस प्रकार का निर्णय आधारित होता है अस्तित्व पर । तर्क से हम गत्यात्मक सविशेष और स्थूल सत्तात्मक सत्य को नही ग्रहण कर सकते । सत्य के साक्षात्कार के लिए आवश्यक है बुद्धि, इच्छा,

अन्र्तज्ञान संवेदना से युक्त मानव की सम्पूर्ण सत्ता, और यह सम्पूर्ण सत्ता वौद्धिकता से श्रेष्ठ है । किर्केगार्ड ने कहा -

''मैं यह स्पष्ट रूप से जानना चाहता हूँ कि मैं क्या करूँ मुझे इस बात की चिन्ता नही कि मुझे क्या जानना चाहिए मैं केवल ज्ञानमय जीवन के स्थान पर पूर्ण मानव जीवन यापन की क्षमता चाहता हूँ ।''

नैतिक और धार्मिक समस्याओं का समाधान आत्मचिन्तन से ही संभव है । किर्केगार्ड के विचारों में आत्मनिष्ठ अस्तित्व का अर्थ आत्मा या ज्ञाता नही वल्कि व्यक्ति विशेष का पूर्ण अस्तित्व है और इस स्थूल अस्तित्व के ज्ञान को वह आत्मनिष्ठ ज्ञान कहता है । जिसमें विषयता नही रहती कर्तव्य रहता है । आत्मनिष्ठता कर्तव्य के द्वारा विकसित होकर नैतिक आदर्श प्राप्त करना चाहती है । नैतिक पथ पर अग्रसर होने के लिए हमें सबसे पहले अपना चिन्तन अन्तर्मुखी करना होगा । क्योंकि विषयगत चिन्तन में कोरी बौद्धिकता है । बौद्धिक विश्लेषण मे मनुष्य की अस्तित्ववादी अनुभूतियों को समझना असंभव है क्योंकि वह भाव, विचार, संप्रत्ययों में मनुष्य को उलझा देती है जिससे वह निकल नही पाता । इसके अतिरिक्त बौद्धिकता का हर प्रकार ''ज्ञाता'' तथा ज्ञेय के द्वैत को स्वीकार करके ही अग्रसर होता है अर्थात् वह मानता है कि कोई ज्ञाता है जिससे विषय या ज्ञेय पृथक है जिसे वह प्राप्त करना चाहता है ।

किर्केगार्ड कहते है बुद्धिवाद में ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया में वुद्धि और वाह्य जगत के बीच एक संवादिता होती है जिसके द्वारा वुद्धि वाह्य जगत की संरचना करती है। इस संरचना में उसे बाह्य जगत के आदेशानुसार कार्य करना पड़ता है । इस प्रयास में ही आन्तरिकता की अवहेलना हो जाती है ।

किर्केगार्ड बुद्धिवाद का खण्डन इसलिए भी करते है क्योंकि यह अमानवीयकरण की उत्पत्ति करता है । प्रथमतः बौद्धिक विश्लेषण दूरस्थ एवं तटस्थ होता है जो मानवीय गुणों को भी शुष्क बना देता है । इसके अतिरिक्त यह सार्वभौमता पर अत्यधिक जोर डालते हुए मानवीय विशिष्टताओं की उपेक्षा करता है क्योंकि इस रूप में मानव की बुद्धिवादी व्याख्या मानव के सार्वभौम लक्षणों पर केन्द्रित रहेगी और मनुष्य समुदाय का एक उदाहरण मात्र रहेगा जो अपनी वैयक्तिक विशिष्टताओं को भूल कर सम्प्रदाय से स्थापित नियमों के अनुरुप जीवन जीने लगता है । जो मानव जीवन का यर्थाथ रुप नही है । किर्केगार्ड कहता है बुद्धिवाद का दोष है कि वह अववोधन चेतना अनुभूति को ज्ञानात्मक कोटियाँ मानता है जिसमें भावना संवेग संकल्प आदि के लिए कोई स्थान नहीं है । जबकि वास्तविकता यह है कि ज्ञान भावना की उपेक्षा नहीं कर सकता । अनुभूति संज्ञानात्मक है लेकिन अनिवार्यतः भावनात्मक भी है ।

सत्य की खोज करने के लिए जिसके द्वारा हम जीते है हमें वैयक्तिक अनुभूति से आरम्भ करना होगा अपने विचारों को इस पर आधारित करना होगा इसके विपरीत नहीं । किर्केगार्ड इस बात पर बल देता है कि –

''विचार से अस्तित्व का अनुमान करने का प्रयास व्याघात है क्योंकि विचार अस्तित्व को वास्तविकता से दूर ले जाता है और इसके बारे में इसकी वास्तविकता को निराकृत करके असंभव के क्षेत्र में इसे परिणित करके विचार करता है ।''(१)

अपने अर्न्तविरोध से कि हम क्या है और हमें क्या होना चाहिए हमें असह्य वेदना होती है । इस वेदना से या तो कलात्मक रचनाओं में या साहित्यिक सृजन में व्यस्त होकर बचा जा सकता है या नैतिक आचरण में दृढ़ होकर । जीवन का उद्देश्य पूर्णत्ता या आनन्द प्राप्त करना है अतः यह उद्देश्य कलात्मक रचनाओं या साहित्यिक सृजन से संभव नही इसे प्राप्त करने के लिए बाह्य सांसारिक सुखों का प्रलोभन और रूचियों का त्याग

करना होगा । अपनी प्रसिद्ध कृति 'आइदर - और' में वह कहते है या तो हम संसार के नश्वर सुखों के भोग में पड़े रहें और निरपेक्ष आनन्द से दूर रहें या सांसारिक सुखों को छोड़कर परम आनन्द की उपलब्धि कर ले । दोनों में से एक ही लक्ष्य की सिद्धि हो सकती है क्योंकि अपूर्ण और पूर्ण निरपेक्ष एक साथ प्राप्त नही किये जा सकते ।(२)

मनुष्य की यह संकल्प विकल्पात्मक स्थिति अत्यन्त दुःखद होती है न वह सापेक्षिक सुख छोड़ना चाहता है और न परम पूर्ण आनन्द की आशा । इस स्थिति से उसे भय होता है । यदि मनुष्य परम आनन्द के लक्ष्य प्राप्ति हेतु अपने को दृढ़ न कर सका तो उसे बड़ी निराशा होती है । इस निराशा विषाद और भय से बचने का एक तरीका है ईश्वरीय शक्ति में आस्था । इस विषाद स्थिति में मनुष्य यह विश्वास कर लेता है कि अनन्त शक्ति सम्पन्न ईश्वर हमारी सहायता अवश्य करेगा अर्थात् विषाद से श्रद्धा उत्पन्न होती है । ईश्वर का अस्तित्व हमारे अन्तरतम में विद्यमान है वह संसार में या संसार से परे अन्य लोक में नही है । यदि हम ईश्वर को वस्तुनिष्ठ ढंग से जानने की चेष्टा करते है, तर्क देते है युक्तियाँ बनाते है तथा समर्थन में साक्ष्य प्रस्तुत करते है तो इस वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया से वस्तुतः ईश्वर की अनुभूति नही होती, ईश्वर प्राप्त नही होता वल्कि उसके सम्बन्ध में कुछ वस्तुनिष्ठ अनिश्चिततायें अवश्य प्राप्त हो जाती है । इस अनिश्चितता के कारण एक अजीब आन्तरिक विह्वलता जागती है, यह विह्वलता प्रवल रुप में भावनात्मक हो जाए तो उस प्रबल भावनात्मकता में इस अनिश्चितता का भी आत्मीयकरण हो जाता है तथा इसे आत्मीयता में एक ठहराव मिलता है, आस्था मिलती है और उस व्यक्ति के लिए यह आस्था सत्य बनकर उभरती है ।

सत्य आत्मनिष्ठ है इसे किर्केगार्ड एक अन्य रुप में भी प्रकट करते हैं किर्केगार्ड कहते है दो ''आत्मा'' के वीच में पूर्णतया वस्तुनिष्ठ सम्वन्ध सम्भव हो ही नही सकता । आत्म रुप एवं ईश्वर के वीच भी तब उसी अर्थ में वस्तुनिष्ठ सम्वन्ध हो ही नही सकता । यदि ऐसा सम्बन्ध दिखाया जाय तो वहाँ अवश्य ही दोनों में किसी एक

का आत्म रूप खंडित हो जायेगा । यदि मैं ईश्वर को वस्तुनिष्ठ रूप में जानता हूँ तो इसका अर्थ है कि ईश्वर आत्म रूप है ही नही, वह विषय है, वस्तु है, जो असंभव है अतः ईश्वर ज्ञान आन्तरिकता में ही संभव है ।

लेकिन इस प्रकार के धार्मिक विश्वास को वैज्ञानिक विचार पद्धति के प्रभाव के कारण तथा भौतिकवाद की सफलता के कारण स्वीकार करना कठिन हो जाता है ।

किर्केगार्ड वैयक्तिक अनुभूति के अर्थ में धर्म विश्वास को समझने का प्रयत्न करता है और अपने समर्थन में बाइबिल के दो व्यक्तियों जॉव और अव्राह्म को चुनता है। इन दो व्यक्तियों को समझने के प्रयास में बहु धर्मविश्वास का दिव्य दर्शन करता है और देखता है कि यह कोई दुखद अनुभूति नही वल्कि भय एवं कम्पन की अनुभूति है इससे वह तीन मुख्य विचारों को स्पष्ट करने में समर्थ होता है परम विरोधाभास, विभिषा संप्रत्यय (जिसके विशेष अर्थ पर बल देने के लिए दार्शनिक प्रायः जर्मन शव्द 'ऐन्ग्स्ट' का प्रयोग करते है) और वितल में कूदने अर्थात् अज्ञात में कूदने का विचार ।''(३)

किर्केगार्ड हमारे सामने जॉब को प्रस्तुत करता है जिससे अकारण सव कुछ छीन लिया गया है और जिसे दुःखद अवस्था में छोड़ दिया गया है । किर्केगार्ड कहता है ''मुझे तुम्हारी तरह किसी व्यक्ति की आवश्यकता है जो यह जानता है कि जोर से शिकायत कैसे की जाये, जिससे उस स्वर्ग में उसकी आवाज गूँजे, जहाँ ईश्वर मनुष्यों के विरूद्ध योजना बनाने के लिए शैतान से सम्भाषण करता है । '' इस प्रकार की योजना बनने में किर्केगार्ड प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति देखता है मैं कहाँ हूँ ? मैं कौन हूँ, वह कौन है जिसने मुझे इस संसार की ओर लुभाया है और अव मुझे छोड़ दिया है ? मुझसे - परामर्श क्यों नही लिया गया ? मैने इस महान कार्य में रुचि कैसे ली, जिसे वे सत्ता के नाम से पुकारते है ? मुझे इसमें भाग लेने के लिए बाध्य क्यों किया गया ।

जन्म के रहस्यात्मक स्वरुप पर बल देकर अस्तित्ववादी दार्शनिक हमारे जीवन को झुठलाने या अत्यधिक सरल बनाने से रोकते है जिसकी व्याख्या नही हो सकती । कोई भी इस बात की व्याख्या करने में समर्थ नही होगा कि दूसरे राष्ट्र या युग में जन्म लेने की अपेक्षा मेरा जन्म इस युग या राष्ट्र में क्यों हुआ है, मेरी इच्छा के अनुकूल परिवार में मेरा जन्म क्यों नहीं हुआ है और मेरी इच्छा के प्रतिकूल मेरा स्वरुप क्यों वना है । इनका सम्बन्ध जैविक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक व्याख्या से परे उन मौलिक कारणों से है जो हमारी पहुॅच के बाहर है ।

जॉब के मित्र उसे सांत्वना प्रदान करने का प्रयास करते हैं , उसका दुःख उचित प्रतिकार है, उसके पापों का दण्ड है अगर वह इसकी शरण में जाता है तो फिर सब कुछ ठीक हो जायेगा । किन्तु जॉब इतनी आसानी से तसल्ली नही करता क्योंकि वह जानता है कि यह व्याख्या असत्य है । वह घोर निराशा में डूब जाता है, क्योंकि वह इस बात का अनुभव करता है कि वह ईश्वर के विरुद्ध भी ठीक है । जॉब का रहस्य उसकी जीवनशक्ति, उसकी दृढ़ता, उसका विचार यह है कि सब कुछ होते हुए भी वह ठीक है उसका दावा है कि ईश्वर के साथ उसका सम्वन्ध अच्छा है, वह जानता है कि उसका अन्तरतम अबोध और पवित्र है जहाँ उसे इस बात की चेतना है कि ईश्वर भी इसे जानता है फिर भी उसका सम्पूर्ण अस्तित्व उसके प्रतिकूल है ।''(४)

इस पूर्ण विरोधाभास से कि उसे इस बात की जानकारी है कि ईश्वर के विरुद्ध होते हुए भी वह ठीक है जिसके विरूद्ध वह ठीक नहीं हो सकता, जवकि संपूर्ण अस्तित्व उसके प्रतिकूल है वह अपनी निराशा में अपने मौलिक एंग्स्ट में इस वात का पता लगा लेता है कि धर्मविश्वास की क्या माँग है और अन्त में फिर भी वह गलत नही है । ईश्वर मनुष्य से इतने अपरिमित रुप में पूर्ण रुप से समझने की आशा नही कर सकेता और इस प्रकार हमें प्रतीयमान अचैतन्य को स्वीकार करना चाहिए । जॉव को प्रत्येक वस्तु

के लिए ईश्वर की प्रशंसा करनी चाहिए । ''धर्म विश्वास का अर्थ होता है पूर्ण आत्मसमर्पण : धर्मविश्वास उत्पन्न करने के लिए मुझे अपनी आँखे वन्द कर लेनी चाहिए और विश्वास से निरर्थकता में कूद पड़ना चाहिए ।''(५)

विभीषा संप्रत्यय को स्पष्ट करने के लिए वह अब्राह्म की कहानी का उदाहरण देते है ।

अब्राह्म ने ईश्वर की उपासना के आधार पर एक पुत्ररत्न पाया जिसका नाम था ईसाक । ईसाक बड़ा ही योग्य बालक था । एकाएक अब्राह्म को ईश्वरीय आदेश प्राप्त हुआ कि वह ईसाक को बलि चढ़ा दे ।

किर्केगार्ड कहता है ईश्वर ने वचन दिया है कि ''उसके मूल में विश्व की समस्त जातियों को वरदान मिलेगा'' समय बीता यह (वचन) अवुद्धिमत्ता पूर्ण हो गया, अब्राह्म विश्वास करता रहा, जब वह बहुत बूढ़ा हो गया उसे एक पुत्र हुआ किन्तु उससे यह कहा गया कि वह अपने पुत्र का बलिदान चढ़ाये । अतः सव कुछ व्यर्थ सिद्ध हुआ यह इतनी भयानक घटना थी कि न हुई होती तो अच्छी बात थी । इस प्रकार ईश्वर अब्राह्म के साथ खेल खेल रहे थे उन्होंने अद्भुत रूप से निरर्थक को वास्तविक वनाया और बदले में वह इसे नष्ट करेगा । वह कौन है जिसने उस वूढ़े व्यक्ति के सहारे को छीन लिया वह कौन है जो उस बूढ़े आदमी को दुःख देता है वह कौन है जो यह अपेक्षा करता है कि वह स्वयं सब कुछ करेगा ? क्या उसे पूज्य वूढ़े व्यक्ति के प्रति दया नही है! उस बच्चे के प्रति भी नही और फिर भी अब्राह्म ईश्वर का चुना हुआ है और ईश्वर ही उससे परीक्षा लेता है । अब सव कुछ समाप्त हो जायेगा । 'उसे इस नैराश्य को सहन करना है इसे वह तत्काल बलिदान देकर कम नही कर सकता, क्योंकि उसे निरन्तर तीन दिन और रात चलकर उस पर्वत पर पहुँचना है जहाँ उसे बलिदान देना है । किर्केगार्ड इस लम्वी यात्रा की घोर व्यथा का बोध कराता है उसके बाद वह हृदय विदारक और भयानक शब्दों

में परीक्षा के अन्तिम क्षणों का लकड़ी चुनने, छुरी तेज करने और चमत्कार के पूर्व अन्तिम क्षणों के उत्पीड़न का वर्णन करता है । यह सचमुच में भयानक आंतकपूर्ण खौफनाक और हृदय को थर्रा देने वाला दृश्य है । फिर भी पूर्ण विरोधाभास है जिसमें समस्त विपरीत प्रमाणों के बावजूद आशा और विश्वास शामिल है, अब्राह्म के अन्तःस्थल में पूर्ण विश्वास है कि सब कुछ ठीक होगा, इस निरर्थकता में भी कुछ अर्थ होगा क्योंकि ईश्वर ने ही उसके बेटे की बलि माँगी है । इस विश्वास के बिना अब्राह्म उसकी आज्ञा का पालन ही नहीं कर सका होता किन्तु यह विरोधाभास अन्त तक विरोधाभास ही बना रहता है ।अब्राह्म अपने विश्वास के बारे में कुछ कह नही सकता अपने से भी नहीं क्योंकि तब उसका बलिदान एक ढोंग बन जायेगा । उसे ईश्वर की उस भयानक माँग और अन्तिम सहायता के बीच अर्न्तविरोध की असमाधेय रुप में इसलिए अनुभव करना है कि वह आंतक और आशा दोनों का पूर्णरुप से अनुभव करें । स्पष्ट रुप से विपरीत प्रमाण मिलने के बावजूद विश्वास करने स्वीकार करने और आत्मसर्मपण करने की निरन्तर चाह को स्पष्ट तार्किक निष्कर्षों द्वारा अनावश्यक नही बनाया जा सकता ।

किर्केगार्ड का विभीषा संप्रत्यय एक ऐसी अनुभूति है जिसमें समस्त सुरक्षा और निश्चितता समाप्त हो गई है और अब तो ईश्वर पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता अब सब कुछ समाप्त हो जाएगा जब इस मौलिक और तत्वमीमांसीय प्रकार की विभीषा से प्रत्येक वस्तु की नींव हिल गई, जिस पर मनुष्य खड़ा है तभी किर्केगार्ड के अनुसार मनुष्य अपने में उस गहनतम सत्ता का पता लगायेगा और उसकी पूर्ण अनुभूति प्राप्त करेगा जिसके सम्बन्ध में धर्म का दावा है कि वह विचार करता है । साथ ही निरपेक्ष विरोधाभास इस बात का निश्चय करता है कि वह कोई आसान मार्ग नही निकाल सकता, उसे 'वितल में कूद लगानी होगी' जो ईश्वर से मनुष्य को अलग करता है ।(६) जिसे ईश्वर होने के लिए मानवीय ज्ञान के क्षेत्र से एकदम परे जाना होगा । इस विरोधाभास पर कोई विचारक अपना अधिकार नही जमा सकता क्योंकि विश्वास का आरम्भ ही वहाँ से होता है जहाँ विचारण क्रिया समाप्त होती है । विभीषा की अनुभूति पूर्ण अनिश्चितता या अवस्तुता

की हृदय विदारक अनुभूति है किन्तु यह निराशाजनक नही है क्योंकि इसी प्रकार से मनुष्य के भीतर की वास्तविकता प्रकट होती है । निरपेक्ष विरोधाभास से तर्कबुद्धि एवं वाह्य ज्ञान को सीमाओं का पता चल जाता है यह उस विचार पद्धति की ओर संकेत करता है जो आन्तरिक भाग ग्रहण अर्थात् आत्मनिष्ठ विधि है ।

इस प्रकार किर्केगार्ड के अनुसार मानवीय सत्य आन्तरिकता में है । अतः मानव अस्तित्व के आन्तरिक विकास में मनुष्य के अन्तर में कुछ विकल्प उपस्थित होते है जिनमें वह जो चयन करता है उसके चुनाव के अनुरुप उसका जीवन उसका अस्तित्व रुप लेता है । इन विकल्पों को वह अस्तित्व की अवस्थितियाँ या जीवन के तीन स्तर कहता है । ऐसे अस्तित्व मूलक तीन विकल्प संभव है ।

(१) संवेदनात्मक
(२) नैतिक
(३) धार्मिक

इनको वह अवस्थितियाँ इसलिए कहता है क्योंकि इनमें क्रमिक सम्बन्ध नहीं होता वे तो एक साथ भी रह सकती है ऐसा नही है कि अनिर्वायतः व्यक्ति पहले संवेदनशीलता के स्तर में रहता है तथा उसी क्रम में अग्रसर होता है उनका कहना है कि यह भी संभव है कि अस्तित्व में एक विकल्प के साथ दूसरा विकल्प भी हो । कोई व्यक्ति जो मूलतः संवेदनशीलता के स्तर पर है किसी क्षण में नैतिक भी हो सकता है किसी अन्य क्षण में धार्मिक भी । नैतिकता के जीवन का यह अर्थ नहीं कि उस अवस्थिति में संवेदनशीलता पूर्णतया समाप्त हो गयी है उनका अभिप्राय यह है कि मानव के समक्ष जो विकल्प है उनमें से किसी एक प्रवृत्ति की प्रधानता के आधार पर ही कहा जाता है कि व्यक्ति संवेदनशीलता की स्थिति में है या नैतिकता की या धार्मिकता की । लेकिन ऐसा लगता है कि इन प्रवृत्तियों के बदलाव में एक क्रम है इस क्रम में संवेदनशीलता पहले

है उसके बाद नैतिकता तब धार्मिकता क्योंकि संवेदनशीलता की प्रधानता वाले व्यक्तित्व में यह संभव है कि धार्मिकता प्रधान हो जाए किन्तु धार्मिकता प्रधान व्यक्तित्व में संवेदनशीलता का प्रमुख हो जाना असंभव है ।

संवेदनशीलता की अवस्थिति तात्कालिकता की अवस्थिति है । इस स्थिति में व्यक्ति वर्तमान में जीता है जिसमें इन्द्रियजन्य संवेदनाओं की तृप्ति ही उसका लक्ष्य हो जाता है। सुख उसका मूल मंत्र बन जाता है । संवेदनशील व्यक्ति प्रारम्भ में डॉन जॉन होता है अतः सुख भोग की प्रवृत्तियों को अनियंत्रित छूट दिये रहता है । सुख ऐश्वर्य आदि के साधनों को एकत्रित करना ही उसका लक्ष्य होता है ।

सुख भोग के पीछे उन्मत्त होकर दौड़ते रहने के कारण उसे उनकी निरर्थकता का आभास होता है अतः वह वर्तमान और तात्कालिक माँगों से ऊपर उठने की आवश्यकता अनुभव करता है । अब वह अपनी क्रियाओं और विचारों को अन्य से सम्बन्धित करता है । उसे सुख भोग के प्रति संशय जागता है । किर्केगार्ड के अनुसार संवेदनशीलता का जीवन जीते जीते उसमें अपने आप एक विचित्र ढंग की विरक्ति उत्पन्न होने लगती है उसे प्रतीत होता है जीवन में सदैव सुख की लालसा रखना जीवन का उपहास है अतः उसे अब सुख में भी निराशा मिलने लगती है । किर्केगार्ड कहते है डॉन जॉन अव फास्ट बन जाता है । नैराश्य संवेदनशीलता के स्तर से नैतिकता के स्तर में वदलाव का उपादान है नैतिकता के स्तर पर मनुष्य स्वयं से उठकर अपने को परिवार, समाज राज्य आदि से सम्बन्धित करता है और उनसे सम्बन्धित दायित्वों के वहन का भी संकल्प करता है । किर्केगार्ड कहता है संवेदनशीलता की अवस्थिति व्यक्ति केन्द्रित है नैतिकता की स्थिति पर से सम्बन्धित है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति की वैयक्तिकता का हनन हो जाता है क्योंकि उसे अन्य से सम्वन्धित होना है यह निर्णय उसी वैयक्तिकता का है । इस स्तर में व्यक्ति स्वयं यह निर्णय लेता है कि उसे संवेदनशीलता से उत्पन्न निराश से मुक्त होने के लिए अन्य के प्रति दायित्वों एवं कर्तव्यों का पालन करना है ।

किन्तु इस जीवन से भी उसे ''स्वयं'' एवं अन्य से जुड़ी प्रवृत्तियों के बीच का तनाव प्राप्त होता है जिससे निराशा की अनुभूति होती है क्योंकि यह प्रतीत होने लगता है कि पूर्णता का आधार नैतिकता भी नहीं हो सकती । यह नैतिक निराशा उपादान है धार्मिकता के स्तर परिर्वन का । किर्केगार्ड की धार्मिकता के स्तर की कल्पना पारम्परिक धार्मिक स्थिति से भिन्न है क्योंकि इस स्थिति में किसी धार्मिक संस्था के आदेश महत्वपूर्ण नही है बल्कि महत्व है व्यक्ति के अन्तर में उत्पन्न आदेशों का । यह धार्मिकता की आन्तरिक अनुभूति है जिसमें व्यक्ति हर प्रकार के संस्थागत नैतिक और धार्मिक आदेशों से ऊपर उठ जाता है । किर्केगार्ड के अनुसार यह सघन आस्था का स्तर है जहाँ आस्था के लिए सभी प्रकार के आदेश नगण्य हो जाते है । अब्राहम के उदाहरण में अब्राहम का ईसाक को बलि देना धार्मिकता का चरम उदाहरण है जहाँ ईश्वरीय आदेश पालन में अब्राहम नैतिक आदेशों से मुक्त है । वे नैतिकता के स्तर से ऊपर ईश्वर के प्रति निरपेक्ष रूप से समर्पित है जहाँ सभी बन्धन महत्वहीन है जहाँ महत्व है केवल वैयक्तिक आस्था का । किर्केगार्ड स्वीकार करते है आस्था का यह रूप बुद्धि को किसी प्रकार ग्राह्य नहीं होता क्योंकि बुद्धि इसे किसी सार्वभौम अवधारणा पर उतार नही पाती । धार्मिकता की यह चरम स्थिति है इस स्थिति में अस्तित्व को एक ठहराव प्राप्त होता है नैराश्य और जीवन की विडम्बनाओं से एक प्रकार का समझौता हो जाता है । व्यक्ति की वैयक्तिकता अपनी सीमित शक्ति और अपनी अपूर्णता की चेतना में विकसित है अपूर्णता की चेतना से एक प्रकार का समझौता ईश्वरीय आस्था से ही संभव होता है क्योंकि चिन्ता एवं निराशा जीवन और अस्तित्व के अंग है जिसे वह जीवन व्याधि कहता है ।

इस प्रकार किर्केगार्ड कहता है ''हमें अगाध गर्त में छलाँग मारने का जोखिम तो उठाना ही चाहिए , मनुष्य एक विशाल खाई द्वारा ईश्वर से पृथक है अतः अपने प्रयासों से न तो वह शुभत्व को प्राप्त कर सकता है न आस्था को उसे अज्ञात में छलाँग मारने का जोखिम उठाना होगा । फिर भी चूँकि मनुष्य और ईश्वर के बीच एक खाई है अतः अगर जोखिम उठाया जाता है तो इसका अपना पुरस्कार मिल सकता है क्योंकि ईश्वर के

साथ यह सम्बन्ध स्थापित कर सकता है । लेकिन एक वार जव ईश्वर को अस्वीकार कर दिया जाता है क्योंकि वह उस निरपेक्ष अस्तित्ववाद के अनुसार है जिसे निरीश्वरवादी होना चाहिए तो खाई का और किनारा लुप्त हो जाता है और पूर्ण शून्य मात्र रह जाता है । इस प्रकार अवस्तुता मुख्य अनुभूति रह जाती है और चूँकि यह प्रधान है अतः उत्कट रूप से इसे ग्रहण किया जाता है । मनुष्य अज्ञात में छलाँग मारने का जोखिम उठाने के बदले अवस्तुता में गोता लगाता है और उसे प्रतीत होता है कि ऐसा करके वह ईमानदारी से अपने भाव के अभ्यन्तर का सामना कर रहा है।' (७)

अवस्तुता की यह स्वीकृति संभव हो जाती है क्योंकि विसंगति संप्रत्यय का एक भिन्न अर्थ हो जाता है । किर्केगार्ड आस्था कृत्य उत्पन्न करने के लिए विसंगति पर वल देता है उसके अनुसार जीवन या ईसाई धर्म की विसंगति से अवगत होना ही उसकी सार्थक अनुभूति का साधन है । किर्केगार्ड का विश्वास है अस्तित्व की विसंगति को जानकर ही हम सभी सामान्य विचार को पीछे छोड़ते है और अपने भीतर उस सत्ता का खोज करते है जो धर्म का आधार और औचित्य है । लेकिन एक बार जब अनुभवातीत सत्ता को एकदम अस्वीकार किया जाता है स्वयं विसंगति अन्तिम लक्ष्य बन जाती है क्योंकि इससे इस वात की पुष्टि होती है कि हम ईमानदार है, अर्थात् भ्रमों के सामने झुके विना हम यथार्थ रूप से सत्ता का सामना कर रहे हैं । विसंगति पर पहुँचना जीत है, और इसे सार्थक वनाने के लिऐ और आगे प्रयास नही किया जा सकता । विसंगति और गूढ़ता में तादात्मय स्थापित कर दिया जाता है।

इस प्रकार किर्केगार्ड ईश्वर को आस्था का विषय मानते है वुद्धि का नहीं । जब हम बुद्धि के अपूर्ण मार्ग का त्याग करते है तव हमें पूर्ण ईश्वर का स्पष्ट अनुभव होता है ईश्वर हमारी आस्था में सदैव विद्यमान रहता है । यह प्रेरणा का स्त्रोत है, एक प्रेरक शक्ति है । हमें आस्था पूर्वक इसकी अनुभूति करनी चाहिए । जव इस आस्था के

स्थान पर हम बुद्धि का प्रयोग करते हैं तथा ईश्वर के अस्तित्व के लिए वौद्धिक या तार्किक प्रमाण प्रस्तुत करते है तब वह मानव जाति को भूल है । वस्तुतः ईश्वर का अस्तित्व हमारी उपासना से सिद्ध होता है प्रमाणों से नही । ईश्वर तो हमारा धार्मिक चेतना में विद्यमान रहता है यही धार्मिक चेतना का रहस्य है (८)।

संदर्भ

१. किर्केगार्ड सोरेन , दि कनक्लूडिंग अनसांइटिफिक पोस्टस्क्रिप्ट अनु.डा.सेन्सन और डब्ल्यू लौरी प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस प्रिन्सटन १९४४. पृ० २८१

२. किर्केगार्ड एस.आइदर /और, वाल्यूम २. पृ० १४९

३. रूबिचेक पॉल - अस्तित्ववाद पक्ष और विपक्ष पृ० ५६
मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल १९७३

४. किर्केगार्ड सोरने- रिपीटीशन पृ० १२५
ऑक्सफोर्ड १९४२

५. वही, पृ० ११४

६. रूबिचेक पॉल (अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष अनुवादक डॉ० प्रभाकर माचवे)

७. वहीं, पृ० १०९

८. किर्केगार्ड सोरेन - कनक्ल्यूडिंग अनसाईंटिफिक पोस्ट स्क्रिप्ट पृ० ६१

४.२ गैब्रियल मार्सल (१९८९-१९७३)

मार्सल ईश्वरवादी अस्तित्ववाद के समर्थक है किर्केगार्ड के समान मार्सल भी यह स्वीकार करते है कि धार्मिक आस्था, ईश्वर आदि की प्राप्ति का स्त्रोत व्यक्ति का आन्तरिकता है । इन्हें विशुद्ध बौद्धिकता के आधार पर या वैज्ञानिकों की विश्लेषणात्मक विधि से नही प्राप्त किया जा सकता । उनके समस्त चिन्तन का केन्द्र मनुष्य का अस्तित्व है जो अपने परमसत् से विमुख हो गया है । मार्सल कहते है -

आधुनिक मनुष्य मानव जीवन के निहित सत्य को भूलकर ऊपरी सतह पर पड़ा हुआ है । इसका कारण यह है कि मनुष्य संसार की चमक दमक के आकर्षण में फँसकर अपने परमसत् से विमुख हो गया है । वह विचार भी करता है तो केवल समस्यायें उसके सामने आती है । वह वास्तविक रहस्य नही समझ पाता है । व्यावहारिक जीवन को वह अपने जीवन की सार्थकता समझ बैठा है । हम व्यापारी, अध्यापक, पति, पत्नी, मंत्री, सदस्य आदि आदि है । इन निश्चित प्रणालियों में हमारा जीवन प्रवाहित हो रहा है । इसका परिणाम यह होता है कि हमें मनुष्यता की बलि चढ़ानी पड़ता है । जीवन में शान्ति और समरसता के स्थान पर अशान्ति उत्पन्न हो जाती है और दिन-दिन असन्तोष बढ़ता जाता है ।

इस प्रकार मानव जीवन दिग्भ्रमित असहाय और उद्देश्यहीन होकर स्नायुतन्त्रों और माँस पेशियों की क्रिया-प्रतिक्रिया मात्र रह गया है । वह अपने जीवन की वास्तविकता और गहनता से अनभिज्ञ मशीन के समान जीवन व्यतीत कर रहा है । उसका वैचारिक और व्यावहारिक दोनो स्तर पर स्वयं से अलगाव हो गया है । अतः मार्सल के चिन्तन का उद्देश्य मानव को उसके अस्तित्व से जीवन की गहनता और वास्तविकता से संयुक्त करना है।

मार्सल के अनुसार चमत्कार अवतार इत्यादि में आज का मानव विश्वास नही रखता और इस प्रकार की मान्यता से परिपूर्ण धर्म उसे कोरी कल्पना प्रतीत होते हैं जिसमें

उसे आस्था नहो है । मार्सल जीवन के सन्ताप और सन्ताप से जुड़ी निराशा से बचने के लिए ईश्वर पर आस्था रखना आवश्यक मानते है क्योंकि ईश्वर पर विश्वास रखने से निराशा समाप्त होती है और आशा की प्राप्ति होती है ।

अन्य अस्तित्ववादी दार्शनिको की भाँति मार्सल भी स्वीकार करता है कि सन्ताप मानव जोवन का अभिशाप है उसे भोगना ही पड़ता है । कभी-कभी मनुष्य अपने को असहाय सा अनुभव करता है। उसे चारों ओर अन्धकार दिखाई देता है किसी ओर से उसे आशा का सहारा नहीं दिखाई देता है ऐसी स्थिति से उसे सन्ताप होना स्वाभाविक है । मार्सल कहता है - ''सन्ताप का सबसे मूर्त रुप जो मैं वना पाता हूँ वह उस भयानक अनुभूति से प्राप्त होता है जिसका अनुभव मुझे कभी-कभी ऐसे अन्धकार में होता है जहाँ किसी ओर से आशा की कोई किरण नहो मिलती है, उस समय अन्धकार की दया पर ही निर्भर रहना पड़ता है ।(१)''

सन्ताप के साथ निराशा भी जुड़ी हुई है । असमर्थता के कारण सन्ताप और सन्ताप से निराशा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है । मनुष्य अपने होने की स्थिति में ही निराशा से बच पाता है । होने की स्थिति में अपना शरीर और अन्य व्यक्ति हम के अन्तर्गत एक अस्तित्व में आ जाते हैं । सहयोग प्रेम और मैत्री में निराशा से छुटकारा मिल जाता है । साथ हो ईश्वर पर विश्वास भी इस निराशा से मुक्त करता है ।

मार्सल के अनुसार ईश्वर हमारी आशा का साधन है मानव जीवन में व्याप्त कठिनाईयों में ईश्वर ही मानव का सम्वल वनता है । मनुष्य ईश्वर से सम्पर्क स्थापित कर सकता है और ईश्वर मनुष्य से । संसार को समस्याओं का समाधान तभी संभव है जव ईश्वर मनुष्य और संसार का संयोजन हो । मनुष्य एकान्त में रहने वाला प्राणी नहा है वह अपने चारों तरफ के परिवेश से प्रभावित होता है उसे अपने परिवेश में विशेष प्रकार की परिस्थितियाँ प्राप्त होती है जिनसे उसके विचार और कर्म प्रभावित होते है । इसी संसार में

अपना वास्तविकता के बोध से उसे संताप होता है और इस संताप को दूर करने के लिए वह अपनी आन्तरिकता में स्थित ईश्वर से सम्बन्धित होता है । इम प्रकार मार्सल मनुष्य और संमार तथा संसार और ईश्वर के मध्य पारस्परिक सत्वन्ध को स्वाकार करते है । मार्सल कहते है -

''ईश्वर कोई मानसिक प्रत्यय अथवा अस्तित्व से पृथक कोई भावना नही है ऐसा समझना भ्रम है। ईश्वर एक बाह्य वस्तु के सदृश नही है जिसके सम्वन्ध में हम वातें कर सकते है, बल्कि ईश्वर का अस्तित्व हमारे अस्तित्व में अर्न्तव्याप्त है, उसके साथ हमारा 'मै' - 'तू' का पारस्परिक प्रेम सम्बन्ध है ।'' (२)

हमारा ईश्वर से अन्य व्यक्ति की भाँति सम्वन्ध नहीं है । ईश्वर को 'वह' कहकर सम्वोधित करना उचित नहीं है ईश्वर 'निरपेक्ष तुम' है । 'निरपेक्ष तुम' चिन्तन का विषय नही हो सकता । मनुष्य जव ईश्वर की आराधना करता है तव ईश्वर वहाँ उपस्थित रहकर एक विलक्षण सम्वन्ध रखता है इस सम्वन्ध में श्रद्धा की प्रधानता होती है । मनुष्य और ईश्वर के बीच सम्वन्ध का विश्लेषण संभव नहीं क्योंकि यह अनुभव का विषय है । इसीलिए ईश्वर का ज्ञान आस्था या श्रद्धा से सम्भव है वस्तुनिष्ठ और विश्लेषण प्रधान वैज्ञानिक विधियों से नही ।

ईश्वर सार रूप में मुझमे और सारी वस्तुओं में उपस्थित है, उसने अपना इच्छा से मुझे रचा है । संसार भी उसी की रचना है, वह संसार की सभी वस्तुओं में व्याप्त है, यह तथ्य मनुष्य को ज्ञान से श्रद्धा से प्राप्त होता है । श्रद्धा से समर्पण भाव उत्पन्न होता है, ईश्वर पर श्रद्धा रखने वाला व्यक्ति उससे प्रेम करता है और उस पर सर्वस्व समर्पित कर देता है ।

मनुष्य को ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वुद्धि , श्रद्धा, प्रेम भक्ति और अन्तरानुभूति का समग्रता में प्रयोग करना चाहिए । अर्थात् वुद्धि से यह ज्ञात करना चाहिए कि

ईश्वर विषय रूप नही है अतः उसका अनुभव करने के लिए श्रद्धा भाव होना चाहिए और प्रेम तथा भक्ति भाव से अपना सब कुछ समर्पित कर अपनी अन्तःनुभूति में प्रवेश करना चाहिए । आस्था से युक्त भक्ति भाव में ईश्वर का अनुभव होता है ईश्वर हर व्यक्ति के अन्तःकरण में है जो अपनी आन्तरिकता की गहनता में प्रवेश कर लेता है उसी को ईश्वर की प्राप्ति होती है ।

मार्सल का ईश्वर विचार रुढ़िवादी ईश्वर ज्ञान से भिन्न है क्योंकि इसकी प्राप्ति अनुभव के व्यक्तिगत विश्लेषण से होती है । उनके आशावादी उल्लास का आधार अलौकिकता है, चमत्कार है, सत्ता का अव्यय और अनन्त स्वरुप है । जगत जीवन के आघात, अलंघनीय कठिनाईयाँ, व्यक्तिगत दुःख, वातावरण जन्य प्रताड़नाएँ इस अनन्त को हमारे निकट लाती है हमें मुक्ति की आशा दिलाती है हमें बताती है कि हम भगवान की उपस्थिति में जी रहे है । यदि जगत में सब कुछ ठीक होता, सब कुछ व्यवस्थित बौद्धिक तथा संयोजित होता किसी प्रकार का अवरोध या रुकावट नही होती, किसी प्रकार का संघर्ष टकराव या क्रमभंग नही होती तो मुक्ति की कामना अर्थहीन हो जाती । उसके अनुसार जीवन की कठिनाइयाँ ही आशा को जन्म देती है यह आशा मानसिक आलस्य या जादू टोने की सूचक नही है वरन् उस सत्य को इंगित करती है जो अव्यय एवं ईश्वर है । ईश्वर के अस्तित्व को बौद्धिक प्रमाणों या इतिहास के आधार पर नही सिद्ध किया जा सकता । यह अनुभव है जो हमें आस्था और आशा से युक्त करता है । इसी आस्था के कारण हम विश्व की अखण्डता और पूर्णता में विश्वास करते है और भगवान की उपस्थिति में जीनें की कामना करते है ।

मार्सल के इन ईश्वर सम्वन्धी विचारों को समझने के लिए समस्या और रहस्य, चिन्तन के दो प्रकार, पाना तथा होना आत्म और अन्य, स्वतंत्रता सम्वन्धी विचारों को जानना - आवश्यक है ।

मार्सल के चिन्तन का विषय अन्य अस्तित्ववादियों के समान ही आधुनिक मानव है । मानव सत् का संबन्ध संसार से है । उसका व्यक्तित्व संसार की परिस्थितियों और इतिहास से निर्धारित होता है । मानव स्थिति की व्याख्या सिद्धान्त से असंभव है उसको जानने के लिए मूर्त सत्य के सम्पर्क में रहते हुए भी विश्वास का सहारा आवश्यक है । मार्सल कहता है - यर्थाथ दार्शनिक चिन्तन तभी हो सकता है जब व्यक्ति परमसत् की अतुल गहनता में प्रवेश कर उसके रहस्य को आश्चर्यवत देखता रहे परमसत् में आस्था रखते हुए भी मार्सल संसार को आभास नही मानता । उसके लिए इन्द्रियगम्य और व्यावहारिक जीवन में आने वाला सब कुछ यर्थाथ है । वह अपना चिन्तन दृश्य जगत से आरम्भ करता है लेकिन यह जगत उसका लक्ष्य नही है उसके चिन्तन का लक्ष्य परमसत् है । जिसे अन्तरानुभूति से प्राप्त किया जा सकता है । अन्तरानुभूति ऐसा मूल प्रवृत्ति है जिसके द्वारा मनुष्य को सौन्दर्यानुभूति हो सकती है । जबकि बुद्धि विश्लेषणात्मक होने के कारण सौन्दर्यानुभूति में सक्षम नहीं है । (३) कदाचित मार्सल का आशय यह रहा हो कि सौन्दर्यानुभूति समग्रता में ही संभव है। उसके अनुसार बुद्धि और अन्तरानुभूति में विरोध नही है लेकिन इनसे समान चिन्तन की प्राप्ति नही होती । परमसत् की अनुभूति मुक्त चिन्तन से होती है बद्ध चिन्तन में बुद्धि अपने आप स्वयं एक ऐसा घेरा डाल लेती है कि परमसत् तक पहुँचना असंभव हो जाता है ।बुद्धि और परमसत् में सम्बन्ध स्थापना के लिए बुद्धि का मुक्त होना आवश्यक है।

इस प्रकार मार्सल चिन्तन के दो प्रकार बताते है (१) बद्ध चिन्तन (२) मुक्त चिन्तन । मार्सल कहते है सत् केवल बुद्धि से ग्रहण नही किया जा सकता सत् का ज्ञान प्राप्त करने में अनुभव के तीन तथ्य काम में आते है इन्द्रियाँ, अपना शरीर और अस्तित्व । पहले इन्द्रियों से ज्ञान होता है, इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है उस पर विचार करना चाहिए । इन्द्रियानुभूति के द्वारा मनुष्य को संसार ज्ञात होता है साथ ही उसे वस्तुओं का तात्कालिक अस्तित्व ज्ञात होता है । वह इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान के आधार पर जानता है कि वह सीमित है । मनुष्य का उसके शरीर से सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए वह ''अवतार'' शब्द का प्रयोग करता है । मनुष्य और शरीर का सम्बन्ध मनुष्य और वस्तुओं के सम्बन्ध से भिन्न है क्योंकि वस्तुएँ मनुष्य का अंश नहीं है जबकि शरीर मनुष्य के अस्तित्व का अंश है, मनुष्य

इस संसार में शरीर के रूप में अवतरित होकर व्यक्त हो रहा है । मनुष्य को सर्वप्रथम अपना अस्तित्व शरीर के साथ ही ज्ञात होता है और फिर ज्ञात होता है कि वह वस्तुएँ भी अस्तित्ववान है जिनका सम्बन्ध मेरे शरीर से है । अन्य अस्तित्व मेरे शरीर से सम्वन्धित है किन्तु मेरे अधीन नही है क्योंकि मनुष्य उन अस्तित्वों की रचना नही करता । अस्तित्व वस्तु का विधेय नहीं है, अस्तित्ववान वस्तु और अस्तित्व को अलग नहीं किया जा सकता । अस्तित्व को शरीर सापेक्ष्य मानने पर ईश्वर के अस्तित्व उस रुप में नही स्वीकार किया जा सकता है । मार्सल कहते है ईश्वर के अस्तित्व उस रूप में नही माना जा सकता है जिस प्रकार संसार की अन्य वस्तुओं का हम साधारण रूप से मानते है । लेकिन ईश्वर का अस्तित्व है । मार्सल अस्तित्व और सत् में भेद मानते है और कहते है अस्तित्व विना सत् के नहीं हो सकता किन्तु कुछ सत् ऐसा भी हो सकता है जिसका अस्तित्व न हो । वह कहता है अस्तित्व का प्रत्यय संभव नही है। अस्तित्व का रूप निर्मित करने का अर्थ है उसे सार समझना । मनुष्य भी संसार की अन्य वस्तुओं की भाँति एक वस्तु है लेकिन उसके अतिरिक्त भी कुछ है । अतः एक सीमा तक अन्य वस्तुओं की भाँति उसका मूल्यांकन व परीक्षण किया जा सकता है लेकिन इसी के आधार पर यह मान लेना कि वैज्ञानिक विधि से मनुष्य को पूर्णतः समझा जा सकता है असंगत है । मनुष्य में वस्तुओं के विपरीत सत की जिज्ञासा होती है। मनुष्य को जब अपने सत् का अनुभव होता है तो उसमें ज्ञाता ज्ञेय का द्वैत नहीं रहता । जब मनुष्य इसे अन्तरानुभूति के आधार पर अनुभूत न कर वुद्धि के स्तर पर वस्तु के समान देखता है तो द्वैत उत्पन्न हो जाना स्वाभविक है ।

अन्तरानुभूति के द्वारा सत् के दार्शनिक चिन्तन को मार्सल रहस्य कहते है और वैज्ञानिक विधि से वस्तुगत चिन्तन समस्या है । सत् का समग्र रूप में चिन्तन रहस्य है समस्या की चिन्तन विधि विश्लेषणात्मक है । इसमें विचार करने वाला तटस्थ रहता है वह अपने को उस वस्तु के ज्ञान में सम्मिलित नहीं करता वस्तुओं का ज्ञान इसी प्रकार का है । लेकिन मृत्यु, पीड़ा, प्रेम क्रोध आदि कुछ ऐसी वाते है जिनको वस्तुगत रूप से देखकर यर्थात रूप में नहीं समझा जा सकता । जैसे मृत्यु का उदाहरण । हम दूसरों को नित्य मरते देखते

है । इससे मृत्यु का एक चित्र हमारे मन में आता है किन्तु उसमें वह अनुभूति नहीं होता जो स्वयं अपने को मृत्यु के मुख में पाकर उत्पन्न होती है । मृत्यु का प्रश्न अपने जीवन से जुड़ते ही रहस्य हो जाता है जबकि दूसरों की मृत्यु एक समस्या है ।

मार्सल के रहस्य का अर्थ अज्ञेय नहीं है । उसका आशय केवल इतना है कि विज्ञान की समस्यात्मक विधि से रहस्य को नहीं जाना जा सकता । बुद्धि का उपेक्षा करके नहीं बल्कि बुद्धि कोहीं ज्ञाता - ज्ञेय के द्वैत से निकालकर रहस्य समझा जाता है । अतिक्रमण का क्षेत्र अनुभव से सम्बन्ध विच्छेद कर नहीं पाया जाता, अनुभव को अधिक गहरा बनाने से ही उस तक पहुँचा जा सकता है । क्योंकि ऐसी कोई सत्ता नहीं है जो अनुभव से परे हो । अनुभव में सब कुछ आ जाता है कुछ ऊपरी अनुभव से ज्ञान होता है और कुछ गम्भीर गहन अनुभव से ही जाना जा सकता है । ज्ञाता-ज्ञेय के रूप में ही बुद्धि का प्रयोग करते रहने से हम सत् को नहीं जान सकेगें । सत् के भागीदार बनकर ही हम सत् को जान सकेगें । मार्सल इसे स्मृति कहते है । जिसका शाब्दिक अर्थ है अपने आप को पुनः प्राप्त करना । आज का मानव अपने आप को भूला है यदि वह अपने भूले हुए अस्तित्व को याद कर ले तो वह सारी स्थिति ही भिन्न हो । अस्तित्व की स्मृति तभी संभव है जब वह स्वीकार करें कि उसका व्यक्तित्व ईश्वर पर आधारित है । मनुष्य जो कुछ है वह अपना ही नहीं है उसका अपना सत् ईश्वर से प्राप्त हुआ है । बौद्धिकता के प्रभाव में जीवन को समस्या मानकर अस्तित्व के सम्बन्ध में भी सार्वभौम समाधान खोजा जाने लगा जो गलत है क्योंकि मानव अस्तित्व समस्या नहीं रहस्य है । जो दूर से तटस्थ भाव से नहीं समझा जा सकता । रहस्य की अनुभूति के लिए गहनता में प्रवेश आवश्यक है। अतः अस्तित्व को जानने के लिए उसकी विशिष्टता का अनुभव आवश्यक है। यही कारण है कि मानवीय जीवन से सम्बन्धित समस्याओं का कोई समाधान सामान्य नहीं हो सकता । समस्या रूप में चिन्तन कुछ उपलब्धि कराता है । उपलब्धि का ताप्पर्य सूचनाओं से है जबकि अस्तित्व की अनुभूति कुछ पाने की अनुभूति नहीं है बल्कि जीवन के रहस्य से एकाकार हो जाने की अनुभूति है । पहले को मार्सल ने पाना तथा दूसरे को होना कहा ।

मार्सल के अनुसार समस्या को रहस्य में और रहस्य को समस्याओं में बदला जा सकता है । विज्ञान के समस्या मूलक अध्ययन को अधिक गम्भीर और व्यापक बनाने से सत् का ज्ञान हो जाता है । इसलिए तत्व मीमासां यथार्थ जगत के बाहर का विषय नहीं है । सत् की परिधि में संसार की सब वस्तुएँ आ जाता है । समस्त संसार को एकत्व भाव से देखने और उसमें भागीदारी की भावना रखने से सत् की अनुभूति होती है । तत्वमीमासां का सम्बन्ध शरीर से भी है । मनुष्य शरीर में अवतरित होता है । इस शरीर और इन्द्रियों के द्वारा ही यह अनुभव प्राप्त होता है जिससे तत्वमीमांस, सत् का ज्ञान प्राप्त करते है । इससे स्पष्ट है कि तत्वमीमीसा किसी अज्ञात रहस्य को व्यक्त नहीं करती है वरन् उसका क्षेत्र प्रकृति के अर्न्तगत ही है । अपने अनुभव से प्राप्त सामान्य तथ्यों पर नैसैर्गिक चिन्तन करने से तत्वमीमांसा की उत्पत्ति होती है । (४)

वैज्ञानिक समस्याओं की तुलना में तात्विक समस्याएँ प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति और असीम विश्लेषण स्वीकार नहीं करती। ये रहस्य लगती हैं क्योंकि वे अपरिमित को इंगित करती है । मार्सल आस्था को सत्ता का एक प्रकार मानते है जिसके आधार पर दिव्य की अंशभागिता संभव है । उनके विचारों में सत्ता विज्ञान का सर्वोच्य रहस्य आत्मा का परात्पर सत्ता व ईश्वर से मिलन है क्यों कि मनुष्य आत्मअतिक्रमण के द्वारा विषय रूप में केवल अन्य मनुष्यों के साथ ही अपना व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित नहीं करता बल्कि ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को मजबूत करता है ।

इस प्रकार मानवीय सत्यों की अनुभूति तटस्थ चिन्तन द्वारा अंसभव है क्योंकि तटस्थ चिन्तनसे समस्या के स्तर तक ही पहुँचा सकता है । जबकि मानवीय सत्यों की अनुभूति के लिए आन्तरिकता की गहराई में जाना आवश्यक है ।

मनुष्य अपने को जिस स्थिति मे पाता है उसके भाग भौतिक वस्तुएँ तथा अन्य व्यक्ति भी है । आत्मा और भौतिक जगत का सम्बन्ध समस्यात्मक है क्योकि भौतिक जगत

आत्मा से सीधे सम्पर्क में नहीं है उसका सीधा सम्पर्क शरीर से है । शरीर और भौतिक वस्तएँ एक प्रकार के नहीं है। भौतिक वस्तुए पूर्णतः बाह्य है जबकि शरीर उस रूप में बाह्य नहीं है ।

मार्सल ने आत्म तथा अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध को दो रूप में व्यक्त किया । प्रथम रूप में - आत्मा अन्य व्यक्तियों को विषय रूप समझती है । अर्थात आत्मा का सम्पर्क अन्य व्यक्तियों से उसी रूप में हो जैसा उसका सम्पर्क वस्तुओं से होता है आत्मा अन्य व्यक्तियों की वैयक्तिकता उनके आत्मरूप से प्रभावित ही नहीं होता इस रूप में अन्य व्यक्त्यों के सम्बन्ध में चिन्तन समस्यात्मक होगा । दूसरे रूप में आत्मा अन्य आत्माओं की वैक्तिकता उनके आत्मरूप से प्रभावित होकर उनसे सम्वन्ध स्थापित करती है यह सम्वन्ध व्यक्ति तथा विषय का न होकर एक आत्मा का अन्य आत्मा से सम्वन्ध है । यह सम्वन्ध रहस्यात्मक है । प्रथम रूप में आत्मा अन्य आत्माओं को विषय रूप समझकर सम्वन्धित होती है उसे मार्सल मैं, और यह का सम्बन्ध कहता है और दूसरे को 'मैं' तथा 'तू' का सम्बन्ध कहता है 'मै' और 'तू' का सम्बन्ध रहस्य है जिसकी बौद्धिक निरूपण सम्भव नही इसकी अनुभूति हो सकती है । मार्सल इस सम्वन्ध को स्पष्ट करते है प्रेम के सम्वन्ध के उदाहरण से । जिसमें प्रेमिका को प्रेमी वस्तु नहीं मानता है यदि वह उसे वस्तु मानता है तो उनके सम्बन्ध को प्रेम सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता । प्रेम की वास्तविकता ही है कि यह दो आत्मा का सम्बन्ध है जिसमें प्रेमी यदि 'मैं' है तो प्रेमिका यह नहीं वल्कि 'तू' है। इस प्रेम की वास्तविकता का बौद्धिक विश्लेषण संभव नहीं । इसको इस सम्वन्ध की गहराई में डूबकर अनुभूत किया जा सकता है । मार्सल अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व को महत्वपूर्ण मानता है क्योंकि अन्य के अस्तित्व का सामना करने पर ही वह अपने अस्तित्व को आत्मगत रूप में देख सकता है । अपना सापेक्ष शब्द है जिसकी सार्थकता अन्य संदर्भ में ही है एकाकी रहने पर नहीं ।

अनुभव जगत में मेरे अतिरिक्त अन्य लोग भी है । मेरे चिन्तन का विषय मैं ही नहीं वे भी है उनकी मुझसे कुछ माँगें है । मेरा उनके प्रति कुछ दायित्व है । व्यक्ति और वस्तु के बीच जो सम्बन्ध होता है वह ऊपरी या बाह्य होता है किन्तु व्यक्ति और व्यक्ति का सम्वन्ध आंतरिक होता है । एक दूसरे से प्रभावित होता है और वदले में प्रभावित करता है । मै और तुम के सम्वन्ध में यह प्रतिक्रिया होना आवश्यक है । मै और तुम का सम्वन्ध आगे चलकर 'हम' कहकर सम्बोधित किया जाता है । मैं और तुम मिलकर हम में एक हो जाते है । हम में दोनों व्यक्ति एक दूसरे के अस्तित्व में भागादार हो जाते है इन दोनों में निकटता, विचार साम्य - कर्तव्य भाव मैत्री वढ़कर सह-अस्तित्व का रूप धारण कर लेते है । इनके अतिरिक्त दो आत्माओं में आध्यात्मिक सम्वन्ध भी होता है । आध्यात्मिक सम्बन्ध से मार्सल का तार्पय दो व्यक्तियों के वीच श्रद्धा, विश्वास और सहयोग की भावना का विकास है । इस प्रकार के सम्वन्ध में दो व्यक्त्यिों का अस्तित्व एक दूसरे से तादात्मय स्थापित कर लेता है । ऐसे ही सम्वन्धों में जीवन सुन्दर और सुखद अनुभव होने लगता है ।

मार्सल इस मैं और तू के सम्बन्ध के आधार पर ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग सुलभ करते है । मै और तू का सम्बन्ध अन्य व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहता वल्कि यह परात्म तू तक पहुँच जाता है । लेकिन परात्म तू की अनुभूति से पहले आवश्यक होती है मानव स्वतंत्रता की अनुभूति क्योंकि स्वतंत्रता के अर्थ में ही उस परात्मत् या निरपेक्ष तू की ओर उन्मुख होने की संभावना है ।

मार्सल के अनुसार मनुष्य को स्वतंत्र मूल्याकंन, निर्णय और चयन करने का अधिकार है । मार्सल का विचार है इस चयन में मेरे अन्तर में स्थित ईश्वरीय प्रकाश से मार्ग निर्देश प्राप्त होता है । मार्सल मनुष्य को स्वतन्त्र मानते है लेकिन स्वतंत्रता का तात्पर्य मनुष्य को जन्म से प्राप्त किसी शक्ति से नहीं है इसका आशय सव कुछ कर सकने की क्षमता भी नहीं है । न ही निर्णय के लिए पूर्णतः अबाधित छूट है । क्योंकि व्यक्ति की

प्रारम्भिक अनुभूति अकेलेपन की अनुभूति है जिस अनुभूति में वह अन्य व्यक्तियों तथा वस्तुओं के बीच अकेला है । अतः अकेला होने का अर्थ यह नहीं हुआ कि उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है क्योंकि उसके अतिरिक्त वस्तुएँ तथा अन्य आत्माएँ भी है ।

अनुभूति की इस प्रारम्भिक अवस्था में स्वतन्त्रता की अनुभूति नहीं होती । स्वतंत्रता व्यक्ति में निहित है किन्तु प्रारम्भिक स्थिति में वह अव्यक्त रहती है।स्वतंत्रता की अनुभूति तव होती है जब वह व्यक्त होती है । अतः स्वतन्त्रता व्यक्ति में निहित अप्रकट शक्ति का प्रकट होना है । मानव स्वतन्त्रता ऊपर से धरातल पर दिखाई नहीं देती । यदि मनुष्य अपने को स्वतन्त्र समझ कर उसी के समान समस्याओं से जूझता रहे तो वह मशीनी मानव रहेगा । उस अवस्था में स्वतन्त्रता अव्यक्त रह जाता है । जव मनुष्य इस अवास्तविकता से मुक्त हो कर अपने तात्विक रहस्य में डूबता है तो उसे स्वतन्त्रता की अनुभूति होती है । इस रहस्य में डूबने का प्रारम्भ तव होता है जव व्यक्ति मैं और यह के सम्बन्ध से परे मैं और तू के रूप में सम्वन्धित होता है अर्थात जव आत्मा को अन्य आत्माओं की अनुभूति दो आत्माओं के सम्वन्ध के रूप में होती है आत्मा और विषय रूप में नहीं । इस प्रकार का सम्बंध भागीदारी का सम्बन्ध है जो मनुष्य का संसार से अन्य लोगों से और ईश्वर से है इन सम्वन्धों को वैज्ञानिक विधियों से व्याख्यायित और विश्लेषित नहीं किया जाता ।

इस प्रकार मार्सल मानव कल्याण के प्रति आशान्वित है । यह संसार सुख का योग नही है इसमें शोक दुख सन्ताप भी प्राप्त होता है । सन्ताप का कारण काल की सीमा से मनुष्य का सीमित होना है सन्ताप से निराशा उत्पन्न होती है । निराशा से वचने का मार्ग वह आस्था के द्वारा ईश्वर विश्वास में खोजता है । जो कहीं वाह्य रूप में नही वल्कि उसके अन्तःस्थल में विद्यमान है । वह स्वतंत्रता की अनुभूति करते हुए अन्त में 'मै' और 'तू' से सम्बन्धित होता है । स्वतन्त्रता जब अपने से ऊपर उठती है तो अपनी आन्तरिकता में अन्य को ही नहीं ईश्वर को भी प्राप्त कर लेती है । अपने अस्तित्व की गहनता में ईश्वर को अनुभूत करना मनुष्य की ही विशेषता है ।

स्वतन्त्रता सृजनात्मकता की परिचायक है । जिसके प्रति तटस्थता और प्रतिबद्धता दोनों असंगत है । तटस्थता स्वतन्त्रता से पलायन है, पूर्ण प्रतिबद्धता दासत्व है । इन दोनो से ऊपर उठकर नवीन आयामों को प्राप्त करना स्वतन्त्रता है । जो नए सम्बन्धों की ओर निरन्तर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करती है । यही प्रेरणा उसे ईश्वर तक पहुँचा देती है । ईश्वर के प्रति आस्था की उत्पत्ति समस्या से परे तात्विक रहस्य की अनुभूति में है ।

सन्दर्भ

१- मार्सल गैबरील - बीइंग एन्ड हैविंग (के फेरर ट्रा० बेकॉह बॉस्टन १९५१)

२. ब्लैकहम एच.जे. सिक्स एक्जिस्टेन्शियलिस्ट थिंकर्स, रूटेज एन्ड केगन पॉल लि० लंदन १९५६)

३. मार्सल ग्रेबिल- दि मिस्ट्री ऑफ बीइंग श्वोल्यूम फ्रेजर एण्ड हेग ट्रा.) रेनरी शिकागों १९५१

४. कालिन जेम्स दि एक्सिस्टेन्शियलिस्ट पृ० १३७ रेनरी शिकागो १९६४.

४.३ कार्ल यास्पर्स

आस्तिक अस्तित्ववादियों में कार्ल यास्पर्स का महत्वपूर्ण स्थान है । यास्पर्स कहते हैं -दर्शन अपूर्ण निर्णयों से असन्तुष्ट होकर अनुभव जगत का अतिक्रमण कर संसार के पीछे किसी एक्य की खोज करना चाहता है। इसके लिए दार्शनिक चिन्तक ज्ञान नहीं वल्कि अपने को प्राप्त करता है और दूसरों तक पहुँचाता है (१) दर्शन का लक्ष्य अस्तित्व को प्रकाशित और उद्घाटित करना है क्योंकि आत्मचिन्तन ही सत् की ओर ले जा सकता है । इसलिए दर्शन का प्रारम्भ सत् का स्वरूप क्या है इससे नहीं वल्कि दार्शनिक की अपना सत्ता से होता है । सत् क्या है ? यह प्रश्न मनुष्य की उस स्थिति से उत्पन्न होता है जिसमें वह रहता है । यद्यपि पहले हर वस्तु यथार्थ प्रतीत होती है उसकी सत्यता स्वयं प्रमाणित प्रतीत होती है किन्तु अपने अस्तित्व पर विचार करते हुए यह संसार विचित्र लगने लगता है । अब उसे अपने होने तथा संसार के होने का अर्थ खोजने की जिज्ञासा होती है । अनुभव से ज्ञात है कि हर वस्तु परिवर्तनशील है मनुष्य इस परिवर्तन के वीच एक स्थिर तत्व खोजता है जिससे उसे अपने तथा संसार के वारे में निश्चित ज्ञान हो सके । इस रूप में यास्पर्स का अस्तित्ववादी विचार अस्तित्ववान व्यक्ति के केन्द्र पर स्थित हो व्याप्तता एवं परात्मकता का दर्शन बन जाता है ।

यास्पर्स के अनुसार दार्शनिक चिन्तन का सम्बन्ध मानव जीवन से है । लेकिन वैज्ञानिकता के अतिशय प्रभाव से प्रभावित मनुष्य अपनी वास्तविक स्थिति और स्वरूप से अनभिज्ञ होता जा रहा है । वह भावों अवधारणाओं और भाषीय कथनों के विश्लेषण को ही अपने चिन्तन का लक्ष्य मानता है । वह सभी कुछ वैज्ञानिक विधि से जानना चाहता है जो असंभव है क्योंकि चेतना के विभिन्न पक्ष इस विधि से नहीं जाने जा सकते । यास्पर्स के अनुसार -

'' अस्पष्ट और क्षणिक संवदेनाएँ भावनाएँ अनुभूतियाँ और व्यक्तिगत चेतना के प्रतिवेदन वैज्ञानिक ज्ञान की सीमा के अन्तर्गत नहीं आते ।(२)

यास्पर्स वैज्ञानिक ज्ञान के विरोधी नहीं थे वे वैज्ञानिक ज्ञान की सीमा को स्वीकार करते हुए भी उसको महत्वपूर्ण मानते थे । उनके अनुसार वैज्ञानिक ज्ञान की सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि वह मनुष्य को अन्धविश्वास, संवेगात्मक अनुभूतियों, भावनात्मक पूर्वाग्रहों से मुक्त कर तथ्यों से अवगत कराता है । तथ्यों के यर्थाथ निर्देश के रूप में विज्ञान दर्शन का सहायक है क्योंकि मानव स्थितियों के बारे में कोई विचार तथ्यो की उपेक्षा नहीं कर सकता । आधुनिक मानव वैज्ञानिक ज्ञान के महत्व का अतिरेक कर उसका उपयोग मानवीय प्रश्नों के संदर्भ में करने लगा है जब कि मानवीय प्रश्नों के संदर्भ में महत्व वैज्ञानिक ज्ञान का नहीं बल्कि आस्था है ।

इस प्रकार यास्पर्स अस्तित्ववाद को परम्परागत दर्शन से सम्बद्ध करते हुए आधुनिक युग की परिस्थितियों के अनुकूल ढालना चाहता है । एक ओर उन्हें मानव की वर्तमान स्थिति की चिन्तायुक्त चेतना थी दूसरी ओर मानवीय आन्तरिकता में ऊपर उठने की विह्वलता ।

अस्तित्ववान मनुष्य की विवेचना में वह दो महत्वपूर्ण समस्याओं पर भी चिन्तन करता है । मनुष्य का अस्तित्व जगत में है तथा अपने सचेतन चिन्तन में वह अपने और जगत के द्वैत में उलझकर द्वैत से ऊपर उठने के लिए प्रयास करता है । अतः मनुष्य के साथ जगत और सत्ता भी उसके दर्शन के अंग हो जाते हैं इसी लिए वह सत्ता के तीन रूपों का विवेचन करता है ।

१. सत्ता का विषय रूप- तत्र अस्तित्व -' वस्तुगत सत्ता ।
२. सत्ता का विषयी रूप- स्व अस्तित्व - आत्मगत सत्ता
३. सत्ता का परात्मक रूप - स्वतन्त्र अस्तित्व-अतीन्द्रिय सत्ता।

यास्पर्स सत्ता को एक और केवल एक कहते है । जो निर्विकल्प असाम सर्वोपरि और परम अधिष्ठान है । वह निरपेक्ष है क्योंकि वह सीमित वस्तुओं से पृथक है ।

यह जगत में स्थित वस्तु नहीं है । वस्तुओं से पृथक है । वस्तुएँ अन्तर्वर्ती है जबकि सत्ता अतिव्याप्त और अतीन्द्रिय है । जगत में रहने के कारण वस्तुएँ विज्ञान की वस्तुपरक कोटियों के मध्यम से अभिव्यक्त हो सकती है परन्तु सत्ता को वस्तुपरक बनाकर जानने का प्रयास असफल होगा । यास्पर्स के अनुसार -

'दार्शनिक विचार एक ऐसा अतीन्द्रिय विचार है जो कि परम्परागत साधारण विचार से भिन्न है । इसमें विषय और विषयी की अपेक्षा रखने वाली विज्ञान की वस्तुपरक कोटियों की आवश्यकता नहीं है । दार्शनिक विचार में अतिक्रमण सन्निहित है यह विचार जगत के सामान्य तथ्यों का अतिक्रमण करके विचारों की समग्रता को प्राप्त कर लेता है । (३)

सत्ता का अभिग्रहण तब संभव होता है जब मनुष्य उसको अपने अस्तित्व के आधार पर जानने का प्रयास करता है ।यह बुद्धि का विषय न होकर अनुभूति का विषय है । यह सभी वस्तुओं का प्रमाण और आधार है परन्तु स्वयं प्रमाण निरपेक्ष है ।

सत्ता की अनुभूति चेतना की उन्मुक्तता से ही संभव है । चेतना की इस उन्मुक्तता की प्राप्ति तभी होती है जब बुद्धि अपनी असमर्थता का अनुभव कर लेता है । चेतना की उन्मुक्तता को यास्पर्स कभी दार्शिनिक निष्ठा कभी आत्मानुभूति और कहीं-कही आधार भूत ज्ञान कहते है ।

दार्शनिक आस्था चिन्तनशील व्यक्ति का विश्वास है । यह तब प्रारम्भ होता है जब बुद्धि की क्षमता की सीमा आ जाती है । यह दार्शनिक आस्था आन्तरिक आत्मनिष्ठा है जो कि समान्य ज्ञान से पृथक है । निष्ठा से प्राप्त सत्य निरपेक्ष होता है जबकि सामान्य ज्ञान से प्राप्त सत्य सापेक्ष होता है । यद्यपि दार्शनिक विश्वास या निष्ठा की सत्यता को हम सिद्ध नहीं कर सकते फिर भी यह अबौद्धिक नहीं है । यह बुद्धि के विरूद्ध नहीं है अपितु बुद्धि पर आधारित है ।

इस दार्शनिक निष्ठा के दो पक्ष है आत्मपरक और वस्तुपरक । विश्वास जिसके द्वारा हमें प्रतीत होता है और विश्वास की सामग्री जिसमें कि हमें प्रतीति होती है दोनों अपृथक है । (४) यदि हम आत्मपरक पक्ष को ही लेते है तो हमारे पास केवल विश्वास करने वाला मानसिक स्तर ही होगा जिसमें कि वस्तु और आन्तरिक सामग्री नहीं होगी और यदि हम मात्र वस्तुपरक पक्ष को ही लेते है तो हमारे पास केवल वस्तु और सामग्री होगी और विश्वास नहीं होगा । अतः कोई यह नही कह सकता कि दार्शनिक निष्ठा वस्तुपरक सत्य है जो कि विश्वास द्वारा निर्धारित नहीं की जाती है । और न यही कह सकता है कि यह ऐसा आत्मपरक सत्य है जो कि वस्तु द्वारा निर्धारित नहीं होती है (५) दार्शनिक निष्ठा वस्तुपरक और आत्मपरक दोनों पक्षों की समग्रता है ।

सत्ता से जब विषयी और विषय दोनों का समन्वित बोध होता है तो उसे विषयी और विषय की समग्रता कहते है समग्रता न मात्र विषय है और न मात्र विषयी अपितु विषयी और विषय के विभेद के दोनों पक्षों को समाहित करती है ।

समग्रता की अनुभूति हमें अन्तःस्तल की गहनता से होती है समग्रता के विषय में हम तभी कुछ कह सकते है जब हम नानात्व और प्रपंच का अतिक्रमण कर दें ।

इस प्रकार दार्शनिक निष्ठा बौद्धिक ज्ञान और धार्मिक विश्वास से भिन्न है । यह रहस्यवाद से भी भिन्न है । यह आत्मानुभूति है लेकिन इससे आत्मा का विलय नहीं होता बल्कि उसकी एक अत्यन्त तीव्र चेतना जागरित होती है । समग्रता को जब हम बुद्धि द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयास करते है तो वह सात प्रकारों में बँट जाती है । यह प्रकार स्वयं समग्रता नहीं है लेकिन यदि हम बौद्धिक रूपों में इनको प्रकट करने का प्रयास करते है तो वह इन्हीं रूपों में प्राप्त होती है । अतः यह प्रकार समग्रता के विषय में मानवाय दृष्टिकोण है । समग्रता का विभाजन यास्पर्स पहले तो आत्मगत सत्ता और स्वगत सत्ता में करते है । आत्मगत सत्ता में वस्तुगत सत्ता या चिन्मात्र, चित् और अस्तित्व सन्निहित है ।

स्वगत सत्ता में जगत और अतिक्रमणता आते है । सत्ता का सातवाँ प्रकार बुद्धि है । सत्ता के इस सोपान का प्रथम चरण वस्तुगत सत्ता है दूसरा चरण चिन्मात्र है यह विज्ञानपरक बुद्धि का आधार है । तोसरा चरण चित का है इसमें परिकल्पनात्मक अन्तर्दृष्टि रहती है । इस सोपान का सर्वोच्च चरण अस्तित्व है । इस तारतम्य में नीचे के चरण अधिक प्राथमिक और सबल है । यह अधिक स्थायी और स्वतन्त्र होते है । जबकि ऊपर के चरण अपेक्षाकृत कमजोर अस्थायी और परतन्त्र होते है (६) इन सोपानो में परस्पर विरोध नहीं है ऊपर के सोपान नीचे के सोपानों का निषेध नहीं करते बल्कि उनका सदुपयोग करते है ।

वस्तुगत सत्ता जीवन का स्तर है इसे यास्पर्स ने तत्रास्ति कहा है । सत्ता के इस स्तर पर मनुष्य शारीरिक क्रियाओं मनोवैज्ञानिक अनुभवों और सामाजिक तरीकों के रूप में वस्तुपरक निरीक्षण का विषय बन जाता है । मनुष्य केवल यही नहीं है वल्कि उसमें वस्तुगत सत्ता के अतिरिक्त भी अन्य प्रकार समाहित है । चिन्मात्र वैज्ञानिक नियम और सौन्दर्यपरक तथा नैतिक आदर्शो का स्तर है । इस स्तर पर प्रत्येक वस्तु विषय और विषयी में विभक्त प्रतीत होती है । प्रत्येक वस्तु को बने रहने के लिए हमारी चेतना के समक्ष एक वस्तु के रूप में उपस्थित होना पड़ता है दो चेतनाओं के समक्ष जो वस्तु समान रूप से एक होगी वही संज्ञापन संभव है । चेतना के इस स्तर पर सत्ता के निम्न चरण का उच्च चरण में स्थानान्तरण हो जाता है इस स्तर पर स्पष्टता संज्ञापन निदर्शनशीलता इत्यादि सत्य के लक्षण विद्यमान रहते है । इस प्रकार चिन्मात्र अवधारणाओं के विवेचन से सम्वन्धित है ।

चित प्रत्ययों का सृजन करता है यह वुद्धिगम्य विचार क्रिया और वेदना का संघात है इसका बोध अन्तरोन्मुख होने में ही हो सकता है बाह्य जगत में प्राकृतिक वस्तु के रूप में नहीं । चित चिन्मात्र को अर्थ तथा सम्पूर्णता प्रदान करता है । यह सृजन का केन्द्र बिन्दु है चित सत्ता का संज्ञापन सौन्दर्यपरक आयामों में करता है यह शुचि और पवित्रता क्या है सद्‌गुण से हमारा क्या अभिप्राय है । नागरिक और समाज का सम्वन्ध व्यवस्था और अव्यवस्था में क्या भेद है इनका उत्तर देता है । इन प्रश्नों का उत्तर चिन्मात्र से नहीं

प्राप्त किया जा सकता । वस्तुगत सत्ता के स्तर पर यह प्रश्न व्यर्थ है क्योंकि ये प्रश्न आत्मा के स्तर पर आते है। चित एकता का प्रेरक है यह सम्पूर्ण होने की इच्छा है । यह प्रत्येक वस्तु को सम्पूर्णता की कोटियों में रखने का प्रयास करता है ।

अस्तित्व यथार्थता नहीं बल्कि संभावना है । जो हमें यह नही सूचित करता है कि हम क्या है बल्कि हमें बताता है हम क्या हो सकते है सत्ता के अन्य प्रकारों की ही भाँति अस्तित्व वस्तुपरक नहीं हो सकता न हीं इसे वैज्ञानिक कोटियों के माध्यम से जाना जा सकता है । अस्तित्व आप्तता का प्रेरक है । यह अपने अन्दर दृढ़ विश्वासों को संजोता है तथा उन पर अटल रहता है । यह बुरी आस्था से अलग रहता है । अस्तित्व के रूप में ही मनुष्य अपने स्वत्व को प्राप्त करता है । इसी रूप में वह अप्रतिम अद्वितीय तथा अपरिहार्य है तथा कोटियों के माध्यम से वर्णनातीत है । इसकी प्राप्ति उस अनुभव से होती है जिसका सम्बन्ध सीमा परिस्थितियों उच्छेदवाद के आकस्मिक मिलन अस्तित्ववादी संज्ञापन की समाप्ति तथा अन्य ऐसी स्थितियों से है । (७)

इस अस्तित्व के माध्यम से अतिक्रमणता या ईश्वर की अभिव्यक्ति होता है । अस्तित्व के अभाव में अतिक्रमणता का कोई अर्थ नहीं है अस्तित्व के हीं रूप में अतिक्रमणता बिना अन्धविश्वास के उपस्थित हो सकती है । (८)

आत्मगत सत्ता स्वपर्याप्ति नहीं है उसे जिस अन्य सत्ता की अपेक्षा है उसे स्वगत सत्ता कहते है । स्वगत सत्ता में जगत और अतिक्रमणता दोनों सन्निहित है ।

यास्पर्स जगत को प्रत्यय कहते है । यह वस्तु नहीं है बल्कि वस्तुएँ जगत में स्थित है । विज्ञान जगत में स्थित इन्हीं वस्तुओं का अध्ययन करता है समग्र जगत का नहीं । जगत की सत्ता का निराकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि मनुष्य की आप्तता जगत में ही प्राप्त हो सकती है । इसीलिए यास्पर्स कहता है मनुष्य को जगत से नहीं

वल्कि आसक्ति से विरत रहना चाहिए । जगत एक उच्च सत्ता की ओर संकेत करता है । जगत के व्यावहारिक अनुभव का सम्यक ज्ञान ही उसके अतिक्रमणता की आवश्यकता को स्पष्ट कर देता है । अतिक्रमणता जगत के माध्यम से ही हमसे संलाप करती है । अतः जगत अतिक्रमणता की अभिव्यक्ति की भाषा है । जगत की सार्यकता इसी में है कि मानव अपने को उसमें स्थित पाता है , मानव को अपने अस्तित्व की अनुभूति में यह चेतना होती है कि वह एक जगत में स्थित है । आत्मगत सत्ता सीमित है इसका ज्ञान भी जगत में ही होता है जगत में परात्मकता को प्रेरित करने वाली अनुभूतियों को वह चरम स्थिति कहता है । चरम स्थितियाँ वह है जिनका हर जीवन पर समान रूप से प्रभाव नहीं पड़ता लेकिन उन स्थितियों का अनुभव किसी न किसी रूप में सबको होता है। मनुष्य उनसे प्रभावित होता है लेकिन उनमें आमूल परिवर्तन करने में सक्षम नहीं होता । इसीलिए यास्पर्स इन्हें चरम कहता है । इन स्थितियों से न हम मुक्त हो सकते है न इनका निरसन ही कर सकते है । अधिक से अधिक हम इनके साथ अपने ढंग से समझौता कर सकते है । इन चरम स्थितियों दुःख संघर्ष अपराध भावना और मृत्यु इत्यादि में मनुष्य को अपनी सीमिनता को प्रतीति होती है । उसे प्रतीत होती है हम अपनी उत्पत्ति का कारण स्वयं नहीं है । हमारे अस्तित्व का आधार हमसे पृथक कोई सत्ता है ।

मानव अपनी आत्मोपलब्धि के लिए जब प्रगतिशील होता है तो अपनी स्वतन्त्रता में ही उसे अपने सीमित होने का वोध होता है । अपनी सीमा के वोध के साथ ही साथ उसे अतिक्रमणता की भी चेतना होती है । अस्तित्व और स्वतन्त्रता यास्पर्स के दर्शन में समानार्थक और परस्पर विनिमयशील पद है । (९) जब हम चयन करते है या निश्चित रूप से निर्णय लेते है तभी अस्तित्ववान होते है और जव अस्तित्ववान होते है तभी वस्तुगत और अनाप्त अस्तित्व के स्तर का परित्याग कर स्वतन्त्र होते है । अस्तित्व ही स्वतन्त्र हो सकता है । मनुष्य की स्वतन्त्रता ही उसका अस्तित्व है । (१०)

यास्पर्स मनुष्य को एक ऐसा वस्तुपरक अस्तित्व मानते है । जो स्वतन्त्रता से संयुक्त है । लेकिन मनुष्य ज्ञेय वस्तुगत सत्ता मात्र नहीं है । मनुष्य जितना अपने को वस्तुपरक ढंग से जानता है उससे अधिक है । उसकी यह अधिकता स्वतन्त्रता और अस्तित्व है । अस्तित्व और स्वतन्त्रता वस्तुपरक नहीं बनाये जा सकते । इन्हें वस्तुपरक बनाने का प्रयास इन्हें समाप्त कर देगा । इन्हें तार्किक भाषा में परिभाषित भी नहीं किया जा सकता । अस्तित्व बुद्धि के परे होने के कारण बुद्धि के द्वारा न तो सिद्ध किया जा सकता है और न असिद्ध किया जा सकता है । बुद्धि के द्वारा वस्तुगत सत्ता को सिद्ध किया जा सकता है अस्तित्व की उपलब्धि बुद्धि के अतिक्रमण के उपरान्त ही होती है ।

यास्पर्स के अनुसार अस्तित्व वस्तुगत सत्ता से भिन्न है । वस्तुगत सत्ता से सम्पूर्ण इन्द्रियपरक सत्ता का बोध होता है । अस्तित्व न विषय है न विषर्या । विषर्या सामान्य होता है लेकिन अस्तित्व हमारा अपना है । वस्तुगत सत्ता की सुनिश्चित संभावनाएँ होती है । जबकि अस्तित्व असीमित संभावनाओं से युक्त है । वस्तुगत सत्ता परतन्त्र है जब कि अस्तित्व स्वतन्त्र है । अस्तित्व समय में रहते हुए भी उससे अधिक है, यह स्वतन्त्र रूप से क्रियाशील है । अस्तित्व अपनी वस्तुगत सत्ता का वरण स्वयं नहीं करता । वस्तुगत सत्ता प्रदत्त है इसमें मेरा शरीर, मेरी प्रकृति और मेरा स्वभाव आदि शामिल है । यद्यपि अस्तित्व और वस्तुपरक सत्ता में सदैव संघर्ष चलता रहता है फिर भी दोनों अपृथक है हमारा अस्तित्व हमारी वस्तुगत सत्ता में ही है जव हम अपनी व्यक्तिगत अनिवार्यता की सहायता से आत्मरूप वरण करते है तभी अस्तित्ववान होते है । वस्तुगत सत्ता और अस्तित्व दोनों जगत में है । जगत ही वह स्थल है जहाँ हम वरण करते है और अपने वरण के अनुसार क्रियाशील होते है । हम अन्य अस्तित्वों और अतिक्रमणता दोनों से सम्वन्धित है वस्तुगत सत्ता सीमा परिस्थितियों का सामना नहीं करती है। यह उन्हें भूलना चाहती है और जगत की वस्तुओं में खो जाना चाहती है । सीमा परिस्थितियाँ वे है, जिनमें हम संघर्ष करते है और दुःख भोगते है हम- अपराध भावना तथा मृत्यु का निराकरण नहीं कर सकते (११)

जगत भी अस्तित्व के लिए अत्यन्त आवश्यक है । जब तक अस्तित्व का जगत में स्थित वस्तुओं के साथ संघर्ष नहीं होता वह अपनी संभावनाओं को प्रकट नहीं कर सकता है । इस रूप में जगत अस्तित्व की विषय-सामग्री और उसका घटना स्थल है । जगत के प्रति अनासक्त भाव हमारी आत्मोपलब्धि का माध्यम है ।

अस्तित्व और अतिक्रमणता में घनिष्ठ सम्बन्ध है । हम स्वपर्याप्त नहीं है । हमारी उत्पत्ति का स्त्रोत अतिक्रमणता ही है । यास्पर्स के अनुसार हमारा अस्तित्व हमारे लिए उपहार स्वरूप है यह अतिक्रमणता से प्राप्त उपहार है । परन्तु अस्तित्व के अभाव में अतिक्रमणता का कोई अर्थ नहीं है । (१२) अतिक्रमणता सांकेतिक अभिलेखों के माध्यम से अस्तित्व से संलाप करती है ।

यास्पर्स के अनुसार सत्यता, शुभता अशुभता का विभाजन किसी निरपेक्ष आदेश के आधार पर नहीं होता है । प्रत्येक वस्तु के परख का आधार मनुष्य स्वयं है । यदि हमारा निर्णय व्यक्तिगत अनिवार्यता का परिणाम है तभी वह न्यायसंगत है । जब हमारा चयन व्यक्तिगत अनिवार्यता के आधार पर होता है तभी हम अस्तित्ववान होते है अतः मानव के वरण की कसौटी शरीरिक नैतिक और तार्किक अनिवार्यता नहीं है ।

अस्तित्व की वस्तुगत अस्तित्व से एकता को यास्पर्स ऐतिहासिकता कहता है । नैतिक कार्यों की गंभीरता और क्षणभंगुरता के संवर्ष की अनुभूति ही वास्तविक ऐतिहासिकता है । यह स्वतन्त्रता और परतन्त्रता का समागम है । हम स्वतन्त्र है लेकिन हमारा स्वतन्त्रता परिस्थितियों से नियन्त्रित रहती है । स्वतन्त्रता को भी अस्तित्व के ही समान परिभाषित नहीं किया जा सकता ।

यह वस्तुपरक नहीं हो सकती । यह अनुभूति का विषय है । यह अनुमान से प्राप्त नहीं की जा सकती है न यह इस जगत की वस्तु है न अतीन्द्रिय जगत की यास्पर्स यह नहीं मानते कि स्वतन्त्रता निरपेक्ष है । निरपेक्ष स्वतन्त्रता वदतो व्याघात है

स्वतन्तत्रता प्रकृति प्रदत्त परिस्थितियों के साथ हमारे संघर्ष में स्थित है । संघर्ष विहीन स्वतन्त्रता मात्र कल्पना है । स्वतन्त्रता अनिवार्यता से जुड़ी है वरण करने के लिए हम स्वतन्त्र तो रहते है । परन्तु हम अपने निर्णयों से बँध जाते है हमारे आगे आने वाले कार्य हमारे अतीत के निर्णयों से प्रभावित रहते है हमारे अतीत के कार्य हमारे भविष्य के कार्यो को एक अनिवार्यता प्रदान करते है । यह अनिवार्यता अन्य प्रकार की अनिवार्यताओं से भिन्न है क्योकि यह हमारे माध्यम से ही हमको प्रतिबन्धित करती है स्वतन्त्रता व्यक्ति के देशकाल के अन्तर्गत लिये गये वास्तविक निर्णयों में अभिव्यक्त होती है ।

हम अपने निर्णयों के माध्यम से ही आत्मगत सत्ता में प्रविष्ट होते है यह सत्ता की वह स्थिति है जिसमें मनुष्य आत्मप्रबुद्ध हो जाता है । मनुष्य का निर्णय स्वयं उसी से उत्पन्न होता है अतः वह अपने निर्णयों के लिए स्वयं जिम्मेदार है अपने निर्णयों का उत्तरदायित्व वह प्रकृति परिवेश वासनाओं और मूल्यों पर नहीं डाल सकता । मनुष्य की स्वतन्त्रता कभी पूर्णतः विलीन नहीं होती मनुष्य जव स्वयं को वस्तुगत सत्ता के स्तर पर स्वीकार करता है उस समय वह अपनी स्वतन्त्रता को विस्मृत कर देता है । इस समय वह अस्तित्व के अनाप्त प्रकार में विलीन रहता है । अनाप्त मनुष्य अपने विषय में अनिश्चित आत्मविश्वास रहित होता है । वह जगत के स्वरूप को भी नहीं समझ पाता उसे जगत वस्तुओं के संग्रह का एक विशाल भंडार प्रतीत होता है । वह जगत का आशय जगत में स्थित वस्तुओं से समझता है । वह अन्य मनुष्य के साथ व्यवहार करने में एक अजीव सी तटस्थतता रखता है । इसके विपरीत सत्ता का आप्त प्रकार अस्तित्व और स्वतन्त्रता का प्रकार है । यह सत्ता का वह प्रकार है जिसमें अनन्त संभावनाएं समाहित रहती है । आप्त मनुष्य सभी संभव दृष्टिकोण के प्रति अपने को उन्मुक्त रखता है,वह जिस स्थिति में रहता है उसमें पूर्णतः रहते हुए भी उससे अपना तादात्म्य स्थापित नहीं करता है । वह जगत से अपने को पृथक समझता है जगत के अन्य मनुष्यों के साथ एक सौहार्द्रपूर्ण संघर्ष रखता है । इस संघर्ष के माध्यम से ही मनुष्यों में परस्पर संज्ञापन होता है ।

मानव स्वतन्त्रता को निराशाजनक बनाने वाली सीमाएँ है । यह दो प्रकार की होती है विशेष और सामान्य। विशेष सीमा के अन्तर्गत हमारा कुल जाति और लिंग आते है जिन्हें परिवर्तित नहीं किया जा सकता। सामान्य सीमाएँ जिन्हें यास्पर्स सीमा परिस्थितियाँ भी कहता है । इनमे दुःख संघर्ष अपराध भावना और मृत्यु है । मनुष्य इन सीमा परिस्थितियों के प्रति आप्त या अनाप्त दृष्टिकोण रखता हे ।

मनुष्य सदैव किसी न किमी परिस्थिति में रहता है । वह किसी नियत ऐतिहासिक समय तथा स्थान पर अस्तित्ववान होता है । यह भी नियत ही होता है कि वह जीवन के विभिन्न अवसरों तथा घटनाओं से प्रभावित होकर उम्र के घेरे में बंधा हुआ जीवन में अग्रसर होता रहें । अनाप्त मनुष्य जीवन की परिस्थितियों से पलायन करता हे , वह अपनी परिस्थितियों को स्वीकार नहीं करता बल्कि उनके संदर्भ में एक सामान्य तरीके से व्यवहार करता है वह निर्णय लेने की अपेक्षा इन परिस्थितियों की उपस्थिति में किम्कर्तव्यविमूढ़ होकर उनसे पलायन ढूढ़ता है इसके विपरीत आप्त मनुष्य अपनी परिस्थितियों के तथ्यों को किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए स्वीकार करता है । उसका दृष्टिकोण उन्मुक्त और परिवर्तनशील होता है । वह प्रत्येक आकस्मिकता के लिए प्रस्तुत रहता है ।

एक अन्य प्रकार की चरम स्थिति को वे संघर्ष की स्थिति कहते है एक प्रकार से अस्तित्व ही संघर्ष है इस संघर्ष की अभिव्यक्ति भोजन, आवास, आजीविका जैसे हर कार्यो में होती है । संघर्ष केवल मेरे जीवन और अन्य व्यक्तियों के बीच ही नहीं होता अपितु यह एक व्यक्ति में हो संभव हो सकता है । यह संघर्ष प्रेमपूर्ण भी हो सकता है और शक्ति पूर्ण भी । अनाप्त मनुष्य संघर्ष का निराकरण कर सकताहै और कह सकता है जगत में संघर्ष नहीं बल्कि सामन्जस्य और एकता है । लेकिन आप्त मनुष्य संघर्ष को स्वीकार करता है वह इसे शुभ और अशुभ न मानकर सीमा स्थिति के रूप में ग्रहण करता है ।

दुख भी कई प्रकार का होता है शारीरिक और मानसिक । सीमा स्थिति के रूप में दुख वह दुख है जो मनुष्य होने के साथ जुड़ा है वह उसकी सीमितता में निहित दुख है, उसके अस्तित्व की अनुभूति से उत्पन्न दुख है। इनकी अनुभूति भौतिक शारीरिक आन्तरिक सभी स्तरों पर होती है इस दुख के प्रति अनाप्त दृष्टिकोण वह है जिसमें यह स्वीकार कर लिया जाता है कि विभिन्न शास्त्र इतने विकसित हो गये है कि सभी प्रकार के दुखों का निराकरण हो जायेगा जबकि आप्त दृष्टिकोण में दुख को अपरिहार्य मानता है जिनसे वह बच नहीं सकता है ।

यास्पर्स अपराध भाव को भी चरम स्थिति मानता है । व्यक्ति किसी न किसी रूप में किसी न किसी कार्य के लिए अपने को दोषी समझता है । यास्पर्स के अनुसार-

प्रत्येक कार्य कुछ परिणामों को उत्पन्न करता है कर्ता के न चाहने पर भी उसके कार्य कुछ फलों को उत्पन्न करते है । वह उन फलों का कारण स्वयं को मानता है अतः उसके अन्दर अपराध भावना उत्पन्न होती है । हमारा कुछ संभावनाओं का चयन करके उनको यथार्थ बनाना अन्य संभावनाओं को रोक देता है इस अपराध भाव से मुक्त होने के लिए हम यह सोच सकते है कि हम जगत में ही न प्रवेश करें । यदि हम कुछ करेगें ही नहीं तो किसी को भी किसी चीज से वंचित नही करेगें और न किसी संभावना का निराकरण ही करेंगें । परन्तु यहाँ हम भूल जाते है कि अकर्मण्यता भी एक प्रकार का कार्य है । यदि हम कुछ कार्य कर सकते है और सचमुच नहीं करते है तो हम अकर्मण्यता के परिणामों के अपराधी है । चाहे हम कार्य करें या न करें फल अवश्य उत्पन्न होगें और प्रत्येक स्थिति में हमें अपराधी होना पड़ेगा ।(१३) अपराध भाव के प्रति अनाप्त दृष्टिकोण में मनुष्य इन स्थितियों के लिए स्वयं को उत्तरदायी नहीं मानता है । क्योंकि इनमें वह परिवर्तन नहीं करता है जबकि आप्त दृष्टिकोण में वह इन स्थितियों के लिए स्वयं को उत्तरदायी मानता है जिनका वह सामना करता है और भोगता है ।

यास्पर्स ने सबसे प्रभावशाली चरम स्थिति मृत्यु को माना है । इस चरम स्थिति की अनिवार्यता ऐसी है कि यदि नवजात शिशु के समक्ष कुछ भी पूर्णतः निश्चित रूप में कहा जा सकता है तो बस यही कहा जा सकता है कि उसे मरना ही है यह ऐसी सीमा स्थिति है जिसकी ओर हर क्षण जीवन अग्रसर हो रहा है उसकी अनिवार्यता की अनुभूति हमारी योजनाओं को निरूपित करती है इससे मुक्ति संभव नहीं है । मृत्यु के प्रति अनाप्त दृष्टिकोण में मनुष्य इसको वस्तुस्थिति मानकर इसकी गंभीरता कम करता है वह इससे पलायन के लिए आत्मा की अमरता की युक्तियों में विश्वास करता है । यास्पर्स के अनुसार इस प्रकार की युक्तियों में, स्वर्ग नरक, और दैव, दया इत्यादि में विश्वास दोषपूर्ण है । जबकि आप्त दृष्टिकोण में मनुष्य मृत्यु को आंतरिक रूप से स्वीकार करता है वह मृत्यु को निश्चित और हर समय उपस्थित मानता है । उपस्थित क्षणों के महत्व को स्वीकार करता है । यास्पर्स के अनुसार मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है अस्तित्व से। मृत्यु केवल वस्तुपरक अस्तित्व को नष्ट कर सकती है ।मृत्यु प्रियजनों को भी समाप्त नहीं कर सकती है । वास्तविक प्रेम अस्तित्वपरक रूप में मृत्यु के उपरान्त भी उपस्थित रहता है । यास्पर्स के अनुसार इसी प्रकार की चरम-स्थितियों से मानव जीवन बँधा हुआ है । यह अस्तित्व की संभावनाओं को अवरोधित करती है । फलस्वरूप हमारी स्वतन्त्रता और इन चरम स्थितियों की अनुभूति के बीच सदैव तनाव बना रहता है । अतः निराशा उत्पन्न होती है जो जीवन का अंश बन जाती है क्योंकि न स्व अस्तित्व से मुक्ति है और न चरम स्थितियों की अनुभूति से । अतः यह निराशा एक प्रकार से अस्तित्व के विकास का अनिवार्य उपकरण बन जाती है । यास्पर्स कहते है यह निराशा आत्यन्तिक नहीं हो सकती है । जब हम इन सीमा स्थितियों को स्वीकार कर लेते है तो वह हमारे लिए अतिक्रमणता की सीमाएं हो जाती है । इस प्रकार स्वतन्त्रता अतिक्रमणता की ओर ले जाती है । स्वतन्त्रता के माध्यम से हम अतिक्रमणता के विषय में निश्चित होते है ।(१४) स्वतन्त्रता अतिक्रमणता की संभावना की ओर संकेत करती है मनुष्य को अपने अस्तित्व में जगत के अस्तित्व की अनुभूति है इस सम्पर्क में नयी नयी संभावनायें स्पष्ट होती है उन्हीं में यह संभावना भी स्पष्ट होती है कि इस सम्पर्क से ऊपर उठा जा सकता है । इस ऊपर उठने की संभावना का आधार यह

विश्वास है कि जब स्व-अस्तित्व का हर सम्पर्क एक नयी संभावना को उत्पन्न करता है तो ऐसा भी कुछ अवश्य होगा जिसके सम्पर्क से अनन्त संभावनायें उत्पन्न हो सकती है ।इस विश्वास में मानव चेतना जिस ओर उन्मुख होती है उसे यास्पर्स स्वतन्त्र अस्तित्व या अतान्द्रिय सत्ता कहते है । यह ऊपर उठने की अनुभूति या परात्मकता ही अतान्द्रिय सत्ता में विश्वास का आधार है । इस परात्मकता के सबल आधार पर आधुनिक मानव अपनी विशिष्टता को सार्थक रूप में प्रतिष्ठित कर सकता है । इस प्रकार मनुष्य की स्वतन्त्रता कभी पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं हो सकती । पूर्ण स्वतन्त्रता होने की असमर्थता में वह अतिक्रमणता से सम्बन्धित होता है । जिस समय वह स्वतन्त्रता का अनुभव करता है उसी समय मनुष्य को यह भी अनुभव होता है कि उसे यह स्वतन्त्रता प्रदान की गई है ।(१५) स्वतन्त्रता मनुष्य को अतिक्रमणता द्वारा प्रदान किया गया उपहार है । अतिक्रमणता का साक्षी बनने के लिए उसे धार्मिक अधिकार या कर्मकाण्डिता का अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं है बल्कि आवश्यकता है स्वतन्त्रता की अनुभूति करने की । इसी रूप में स्वतन्त्रता और अतिक्रमणता संबन्धित है ।

अतिक्रमणता वस्तुगत सत्ता (जगत) और आत्मगत सत्ता (मनुष्य) दोनों से भिन्न स्वगत सत्ता है । धर्म की भाषा में अतिक्रमणता को ही ईश्वर कहा गया है । लेकिन जिस अतिक्रमणता के रूप में जिस ईश्वर को स्वाकार किया गया वह व्यक्तिपरक ईश्वर की अवधारणा से भिन्न है क्योंकि अतिक्रमणता का कोई व्यक्तित्व नहीं होता है । यह मनुष्य की प्रार्थना सुनकर प्रतिक्रिया स्वरूप उसे तदनुकूल फल नहीं प्रदान करता । यह शान्त ईश्वर है । अतिक्रमणता स्वपर्याप्त है अस्तित्व अतिक्रमणमता द्वारा प्रदान किया गया उपहार है अस्तित्व अतिक्रमणता में अधिष्ठित है अतिक्रमणता के अभाव में अस्तित्व निराशा में विलीन हो जाएगा । लेकिन फिर भी अस्तित्व और अतिक्रमणता में भक्त और भगवान का सम्बन्ध नहीं है । वे समान धरातल पर भी नहीं है । अतिक्रमणता केवल अस्तित्व के समक्ष ही उपस्थित होती है । अस्तित्व के अभाव में अतिक्रमणता का अर्थ ग्रहण संभव नहीं है ।(१६)

अस्तित्व से पृथक अतिक्रमणता ऐसी सत्ता है जिसमें कोई संभावनायें नहीं होती है । अस्तित्व में अनन्त संभावनाएँ सन्निहित रहती है, परन्तु अतिक्रमणता में सारी सम्भावनायें यथार्थता का रूप धारण कर लेती है अपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए अस्तित्व अपनी संभावनाओं का साक्षात्कार करता है लेकिन अतिक्रमणता को ऐसे किसी साक्षात्कार की आवश्यकता नहीं है । उसके अस्तित्व और वरण की संभावनाओं का कोई अर्थ नहीं है क्योंकि वरण की संभावना एक अभाव की सूचक है । वरण किसी प्राप्ति के लिए किन्हीं कारणों से प्रेरित होकर किया जाता है । अतिक्रमणता स्वतन्त्रता नहीं है बल्कि स्वयं स्वतन्त्रता का अधिष्ठान है । यास्पर्स कहते है मनुष्य को जब जगत की अपर्याप्तता का अनुभव होता है तभी वह अतिक्रमणता की ओर उन्मुख होता है यह अतिक्रमणता न तो अस्तित्व कही जा सकती है और न जगत । यास्पर्स का यह कथन प्रत्यक्षवादी और प्रकृतिवादी विचाराको को यह अर्थ प्रदान करता है कि ईश्वर है ही नहीं क्योंकि वे अपनी दृष्टि केवल वस्तुपरक जगत पर आधारित करते है । जबकि यास्पर्स के अनुसार वस्तुपरक जगत ही सारी सत्ता की सामा नहीं है ।

उसे जगत की अपेक्षा है लेकिन जगत को जानने वाली बुद्धि की कोटियों के माध्यम से अतिक्रमणता तक नहीं पहुँचा जा सकता । अतिक्रमणता जगत में स्थान विशेष पर निर्धारित नहीं की जा सकती। ऐसा कहना कि वह किसी स्थान विशेष में प्रतिष्ठित है अन्धविश्वास है।न उसका कोई अलग अतीन्द्रिय जगत है । अतिक्रमणता देश काल में स्थित नहीं है फिर भी देश काल में स्थित जगत के माध्यम से ही अतिक्रमणता का अनुभव किया जा सकता है । क्योंकि यह जगत अतिक्रमणता की भाषा है जिसके माध्यम से वह मनुष्य से संलाप करती है और अपने को अभिव्यक्त करती है जगत की वस्तुएँ अतिक्रमणता के संकेत या प्रतीक है । इन प्रतीको को जगत की वस्तुओं से अभिन्न नहीं समझना चाहिए क्योंकि यह प्रतीक तभी बनती है जबकि अतिक्रमणता अस्तित्व से संलाप करती है । यह भी आवश्यक नहीं है कि जो मेरे लिए जिस रूप में प्रतीक है वह अन्य के लिए भी उसी रूप में प्रतीक हो । इसलिए प्रतीकों की यह भाषा सार्वभौमिक नहीं हो सकती ।

यास्पर्स की ईश्वर विषयक अवधारणा सर्वेश्वरवाद और रहस्यवाद दोनों से पृथक है । रहस्यवाद जगत से सर्वथा पृथक ईश्वर से साक्षात् मिलन को स्वीकार करता है जबकि यास्पर्स जगत से पृथक ईश्वर को नहीं मानते वह सर्वेश्वरवादियों की भाँति यह भी नहीं मानते कि जगत ही ईश्वर है । यास्पर्स के अनुसार वह जगत में अभिव्यक्त भी होता है और गुप्त भी रहता है । ईश्वर जगत में परिलक्षित इसलिए है क्योंकि जगत का ही प्रतीकात्मक भाषा में वह मनुष्य से संलाप करता है । गुप्त इसलिए है कि जगत उसकी समग्रता को अभिव्यक्ति कदापि नहीं कर सकता । इस प्रकार का ईश्वर युक्ति के माध्यम से नहीं सिद्ध किया जा सकता । युक्तियाँ उसे वस्तुपरक बना देती है । यास्पर्स इसे अन्धकारमय उद्‌गम कहते है जहाँ बुद्धि की कोई किरण नहीं पहुँचती । अतिक्रमणता के विषय में किसी सार्वभौम वैधता को स्थापित नहीं किया जा सकता क्योंकि जो वस्तु बुद्धिपरक रूप में ज्ञेय है वही सार्वभौम रूप में सत्य हो सकती है । इस अतिक्रमणता की अभिव्यक्ति मनुष्य के पारस्परिक संज्ञापन में होती है । बुद्धिपरक कोटियों के माध्यम से अतिक्रमणता की अज्ञेयता यास्पर्स के अनुसार 'अवस्तु' है । यहाँ अवस्तुता और अतिक्रमणता समानार्थी है। क्योंकि अवस्तुता सत्ता की समग्रता की सूचक है ।

अतिक्रमणता की कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती क्योंकि यह अवर्णनीय है । इसमें कोई गुण या विशेषता आरोपित नहीं की जा सकती । इसलिए यास्पर्स अतिक्रमणता के संदर्भ में निषेधात्मक विधि का आश्रय लेते है । अतिक्रमणता को व्यक्त करने की बौद्धिक कोटियों की असमर्थता में ही हम ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव करते है । यहाँ हमें उसकी सत्ता की प्रतीति मात्र होती है । वह वास्तव में क्या है, उसका स्वरूप क्या है हम नहीं जान सकते । अतिक्रमणता का हमें साक्षात अनुभव नहीं होता इसकी हमें परोक्ष अनुभुति होती है जगत में स्थित प्रतीकों के माध्यम से । प्रतीक यह बताते है कि उनकी सतह में कुछ और है जो कि बुद्धि को परिलक्षित नहीं होता यास्पर्स के अनुसार- दर्शन का सम्पूर्ण

इतिहास ही वह प्रतीक है जिसके माध्यम से अतिक्रमणता अभिव्यक्त होतो है । इन प्रतीकों की निश्चित व्याख्या नहीं की जा सकती है । एक ही मनुष्य अपने अनुभव के विभिन्न क्षणों में एक हो प्रतीक से अनेकविध सत्ता की अनुभूति करता है अतिक्रमणता को प्रतीकों से पृथक कर कभी नहीं जाना जा सकता है ।

यह प्रतीक इन्द्रिय जगत की कोई वस्तु भी हो सकता है , कविता और चित्रकला में प्रकृति को प्रतीक माना जाता है धर्म और उसको प्रतीकोपाख्यान भी अतिक्रमणता के प्रतीक बनते है ।

यास्पर्स कहते है चरम स्थितियों में विशेषतः मृत्यु में सब कुछ प्रयोजनहीन एवं निरर्थक प्रतीत होता है । कभी - कभी असमर्थता और असफलता की ऐसी तीव्र अनुभूति होती है कि लगता है सब कुछ समाप्त हो गया । यास्पर्स इसे टूटन की अनुभूति कहता है, जो आन्तरिक विह्वलता की अनुभूति है यास्पर्स कहता है आन्तरिक विहवलता की ऐसी स्थिति अपना सम्वल, अपना ठहराव भी ढूँढ लेती है । ऐसी ही विह्वलता में आस्था उत्पन्न होती है । आस्था अन्धविश्वास नहीं है यह वास्तविकता में जीवन का ठोस आधार सिद्ध हो सकती है । आस्था उत्पन्न होने पर ही मनुष्य विवेक के द्वारा सामान्य ज्ञान के सीमित ढंगों से ऊपर उठने का प्रयास करता है । आस्था से टूटने की भावना में ठहराव आता है यही आस्था स्वतन्त्र अस्तित्व या ईश्वर की ओर बढ़ने का सोपान बन जाती है क्योंकि आस्था में परात्मकता का आग्रह होता है ।

परात्मकता के आग्रह का सन्देह जिस केन्द्र से आता है उसे यास्पर्स व्याप्तता कहते है । व्याप्तता का अर्थ है छा जाना, ढक लेना, समेट लेना । यास्पर्स का कहना है कि ऊपर उठने का जो आग्रह है उस आग्रह का स्त्रोत जीवन की अनुभूतियों से उत्पन्न इस विश्वास में है कि वह सब कुछ ऐसा नहीं है जिस रूप में वह अनुभूत हो रहा है । सब कुछ टूटता गिरता प्रतीत होता है किन्तु उसी में किसी न किसी रूप में यह विश्वास भी है

कि सब कुछ समेटा जा सकता है ऐसा कुछ है, जो सव पर छाया हुआ है यही व्याप्तता है। जो परात्मकता की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करती है ।

यास्पर्स कहते हैं कि व्याप्तता की विधाओं को निश्चित रूप में तय कर लेना असंभव है । फिर भी वे व्याप्तता पर व्यक्ति की आन्तरिकता के परिप्रेक्ष्य में ही विचार किया जा सकता है । उस रूप में वे दो प्रकार की व्याप्तता का उल्लेख करते है :- व्याप्तता जो आत्म में है :- व्याप्तता जो सत्ता में है ।

प्रथम प्रकार की व्याप्तता वह अनुभूति है जो किसी न किसी रूप में यह विश्वास देता है कि मैं अपने जगत को समेटे हुए हूँ । मुझी में कुछ है जिससे मैं अपने सम्पर्क में अपने वाले सबों पर छाया हुआ हूँ । यह व्याप्तता तीन क्षेत्रों में स्पष्ट रूप में प्रकट है । प्रथम तो यह सामान्य अनुभविक जीवन में स्पष्ट है । आनुभविक जीवन अपने प्रारम्भिक रूप में एक सम्पूर्णता है । यहाँ आत्मा अपने अनुभव जगत को पूर्णतः समेटे हुए है । बाद में हम अनुभव तथा अनुभव -जगत का विश्लेषण कर इसे खण्डित कर देते है । यह व्याप्तता जो आत्म में है उसकी पहली विधा है ।

इस चेतना में विश्लेषण की शक्ति है जो उस मूल अनुभव को खंडित कर सकती है । इसी चेतना के कारण मै अपने तथा अन्य का भेद कर लेता हूँ । अतःचेतना केवल वैयक्तिक नहीं है बल्कि शुद्ध चेतना भी है जो एक अर्थ में व्यक्ति तक सीमित नहीं है बल्कि अन्य को समेटे रखने का आधार है । इसी कारण हर व्यक्ति को सवो में व्याप्त रहने का ढंग मिल जाता है उदाहरणतः उचित अनुचित का भेद नैतिकता का आधार सार्वभौम तार्किकता आदि वैयक्तिक चेतना में आधृत नहीं है यह शुद्ध चेतना पर आधारित है जो वैयक्तिक चेतना से ऊपर है ।

व्याप्तता जो आत्म है की तीसरी विद्या में यास्पर्स आध्यात्मिक आत्मा का उल्लेख करते है इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है लेकिन इस प्रकार की व्याप्तता से यास्पर्स का आशय वह आधार है । जो बिखराव को समेटता है और सर्जनात्मकता का साधन वन सकता है ।

आत्म में व्याप्तता है लेकिन इसमें इसके परे की व्याप्तता का भी संदेश है इन सभी व्याप्तताओं के प्रकार में किसी न किसी रूप में यह प्रतीत होता है कि कुछ है जिसकी ऐसी व्याप्तता है जो सम्पूर्ण जगत को तथा मुझे भी समेटे हुए है यही व्याप्तता जो सत्ता में है । इसकी अनुभूति जगत के रूप में तथा परात्मकता के रूप में होती है हमें यह अनुभूति होती है मैं अपने जगत को समेटे हूँ किन्तु साथ साथ यह भी लगता है कि मेरे जगत से कही बहुत अधिक व्यापक जगत है जो एक अर्थ में मुझे भी समेटे है यह जगत अनेक रूपों में झलक जाता है सदा हमारे जगत से पृथक प्रतीत होता है और यह भी लगता है कि यह जगत हम पर भी व्याप्त है ।

इसी के साथ व्याप्तता के चरम रूप की भी झलक मिल जाती है । यह किसी न किसी रूप में प्रतीत होती है कि सत्ता शायद इस रूप में सव कुछ समेटे है कि उस ओर ऊपर उठने पर बिखराव के स्थान पर व्याप्तता की अनुभूति हो जाय । व्याप्तता के इस रूप को यास्पर्स परात्मकता कहते है । उनके अनुसार व्याप्तता की सर्वांगी अनुभूति ईश्वर को पा लेना है । परात्मकता या ऊपर उठने की विधा का लक्ष्य इस प्रकार की पूर्ण व्याप्तता है । इस प्रकार की संर्वांगी अनुभूति हर व्यक्ति को हो यह अनिवार्य नहीं । जिसकी मानवीयता सजग हो तथा जो प्रमाणिक जीवन अर्थात मानवीय विशिष्टता के अनुरूप जीवन जीने का निश्चय करे, उसी में व्याप्तता एवं परात्मकता की अनुभूति जाग सकती है ।

सन्दर्भ

१. ब्लैकहम एच.जे. सिक्स एक्सिस्टेन्शियल थिन्कर्स रूटेज एन्ड केगन पॉल ,१९५३.

२. वही

३. फिलॉसॉफी आर्फ कार्ल यास्पर्स एडिटेड बाय पी.ए. शिल्प पृ० १४९

४. यास्पर्स कार्ल - दि सब्जेक्टिव एण्ड ऑब्जेक्टिव एस्पेक्ट ऑफ फेथ इन पेरेनियल स्कोप ऑफ फिलॉसॉफी पृ० १३ लंदन १९५०

५. फिलॉसॉफी ऑफ कार्ल यास्पर्स बाय पी.ए.स्किल्प पृ० १४९-१५०

६. रिजन एण्ड एक्सिस्टेन्स, फाइव लेक्चर्स वाय कार्ल यास्पर्स लंदन १९५६.

७. फिलॉसॉफी आफ कार्ल जास्पर्स बॉय पी.ए. स्किल्प पृ० १४९-१५०

८. यास्पर्स कार्ल -रीजन एण्ड एक्जिस्टेन्स अनु० विलियम इयेर्ल रूटेज एन्ड केगन पॉल लंदन पृ० ६२.

९. स्किल्प पी०ए० फिलॉसॉफी ऑफ कार्ल यास्पर्स पृ० १००

१०. रैल्फ मेनहेम (अनुवाद) यास्पर्स कार्ल वे टू विसडम पृ० ४५

११. एसथॉन ई०बी० फिलॉसॉफी वॉल्यूम -२ पृ० १७८

१२. यास्पर्स कार्ल, रीजन एण्ड एक्जिस्टेन्स

१३. एस्थान ई०बी० फिलॉसॉफी, वाल्यूय २, वाय कार्ल जास्पर्स

१४. यास्पर्स कार्ल- दि पेरेन्टियल स्कोप ऑफ फिलॉसाफी अनु. रैल्फ मैनिम

१५. यास्पर्स कार्ल वे टू विज्डम अनु० रैल्फ मैनहेम येल यूनिवर्सिटी प्रेस -६५

१६. यास्पर्स कार्ल-ट्रूथ एण्ड सिम्बल अनु. विलियम क्लू वैक एन्ड जीन .टी.वाइल्ड लंदन १९५९.

४.४ फ्रेडरिक नीत्शे

नीत्शे के विचारों में व्यक्ति की प्रधानता है । मनुष्य में एक ऐसी शक्ति निहित है जिसके द्वारा वह अपने स्वास्थ्य व मस्तिष्क को विकसित कर अपना वास्तविक स्वरूप समझ सकता है । ऐसी क्षमता अन्य प्राणियों में नहीं है इसलिए वह उनसे श्रेष्ठ हो सकता है । नीत्शे के विचार मानव जीवन को संवेगात्मक अनुभूति के द्वारा समझने का प्रयास है । इसी अनुभूति में अस्तित्व की अनुभूति निहित है । मनुष्य का साक्षात लक्ष्य है कि वह अपने अस्तित्व को एक विचारहीन घटना न बनने दे । अपने अस्तित्व को प्राप्त करके ही मनुष्य पशुओं से श्रेष्ठ सिद्ध होगा । इसके लिए मनुष्य को आदर्श व मूल्यों का परीक्षण अपने आधार पर पुनः करना होगा क्योंकि मनुष्य को उसकी जाति के सामान्य गुणों के आधार पर नहीं बाँधा जा सकता, न ही उसके लक्ष्य को सामान्य आधार पर समझा जा सकता है । मनुष्य में विचार, आचरण, व्यवहार एवं क्षमताओं में व्यक्तिगत भेद है, अतः हर व्यक्ति समान परिस्थितियों में एक सा व्यवहार करेगा यह असंगत विचार है । व्यक्ति की वैयक्तिकता को महत्व देने के कारण वह पारम्परिक नैतिकता को दोषपूर्ण मानते है ।

नैतिकता इस मान्यता पर आधारित है कि विभिन्न मानवों की सभी आवश्यकताएँ, अधिकार और उत्तरदायित्व आदि समान है । इसी लिए नैतिकता के सम्बन्ध में सरलता से सामान्यीकरण कर दिया जाता है और मान लिया जाता है कि जो बात किसी एक व्यक्ति के आचरण के सम्बन्ध मे शुभ है वह वैसी परिस्थितियों में सभी के लिए शुभ होगा । नीत्शे को यह विचार अनुचित प्रतीत होता है क्योंकि नैतिकता की यह सार्वभौमिकता उन्हें आधारहीन लगती है । उनके अनुसार वैयक्तिक भेदों की यथार्थता को ध्यान में रखते ही सामान्य नैतिक नियम का मूल्य समाप्त हो जाता है । उनका विश्वास है कि साधारण नैतिक मूल्ये, धर्म, ईश्वर आदि किसी अमानवीय एव अप्राकृतिक पूर्वाग्रहों पर आधारित है अतः प्रचलित मूल्यों के स्थान पर ऐसे नये मूल्यों का आविष्कार आवश्यक है जो स्वाभाविक हो ।

अपने इन विचारों के परिप्रेक्ष्य में ही नीत्शे प्रचलित नैतिकता का खंडन , नैतिकता के दो रूप-प्रभुत्वभाव से प्रेरित नैतिकता और दासत्व भाव से प्रेरित नैतिकता , मूल्यों के पुर्नमूल्योकरण, ईसाई धर्म का खंडन व अनीश्वरवाद की स्थापना तथा अतिमानव की अवधारणा की स्थापना करते हैं । उनके समस्त विचार इस मान्यता पर आधारित हैं कि मानव जीवन की किसी व्याख्या के लिए ईश्वर विचार पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है । मनुष्य स्वतंत्र है, वह स्वनिर्देशित व स्वशासित है । उसके ऊपर अन्य किसी का नियंत्रण नहीं है । वह सर्वोच्च शक्ति व सर्वश्रेष्ठ है । अतः ईश्वर का अस्तित्व नहां है । ईश्वर मात्र धारणा है । नीत्शे के पूर्व ईश्वर पर सर्वोच्च सत्ता के रूप में विश्वास किया जाता था लेकिन नीत्शे ने घोषणा की -'ईश्वर मर गया' । इस दावे का अर्थ था कि तत्वमीमांसीय जगत नहीं है ।

नीत्शे के अनुसार मनुष्य का ईश्वर पर विश्वास मानव कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है । यह विश्वास कैसे उत्पन्न होता है इसका वह मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करता है -

प्रारम्भिक मनुष्य में वर्तमान समय की तरह ज्ञान का विकास नहीं हुआ था ज्ञान की कमी के कारण वे प्रकृति और प्राकृतिक घटनाओं को नहीं समझ पाते थे । अतः वे प्राकृतिक घटनाओं को ईश्वर का कार्य समझते थे । वास्तव में वह परमसत्ता जिसे वह ईश्वर कहता था, प्रकृति थी । वे सूर्य, चन्द्रमा, बाढ़, नदियों को ईश्वर मान लेते थे । वे इनकी शक्तियों से डरे हुये थे क्योंकि उनके पास इन पर नियंत्रण के लिए न शक्ति थी और न ज्ञान । लेकिन अब स्थिति भिन्न है , प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि यह सिर्फ प्रकृति के अंग है । अपनी ज्ञान और शक्ति से हम इन्हें प्रकृति के रूप में ग्रहण करते है ।

प्रत्येक पूर्व समुदाय जिनकी मान्यता ईश्वर में विश्वास से युक्त थी, वे वास्तव में अपनी कुछ कमियों को पूरा करते हैं । प्रारम्भिक समुदाय ईश्वर की रचना अपनी

आवश्यकतानुसार करता था , वे ईश्वर को नाम भी अपनी आवश्यकतानुसार ही देते थे । उनका भूख का ईश्वर है , फसल का ईश्वर है , पानी का ईश्वर है , प्रेम का ईश्वर है । इसी प्रकार उनकी समस्त आवश्यकताओं को उनके 'ईश्वर' रूप में देखा जा सकता है ।

नीत्शे कहता है कि मनुष्य ईश्वर के प्रत्यय से इसलिए चिपका रहता है क्योंकि वह इसका अभ्यस्त हो चुका है । मनुष्य वचपन से ही ईश्वर शब्द सुनता है, इस शब्द का कोई अर्थ है या नहीं यह जाने बिना ही इसका उपयोग करता है । ईश्वर विचार से ही वह अपना जीवन सहन करने योग्य बनाता है । वह लिखता है ... अभी भी कितने कारण है जिनसे जीवन असहनीय बन जायेगा यदि ईश्वर न हो.... । परिणामतः ईश्वर है ।.... साधारणतः विषय की सत्यता यह है कि जो इस प्रकार के ईश्वर विषयक विचार के अभ्यस्त हैं उनकी इच्छा ही नही है कि ईश्वर के विना जीवन हो । इस प्रकार उनके और उनकी सुरक्षा के लिए इस प्रकार का विचार आवश्यक हो जाता है । (१)

नीत्शे कहता है सामान्यतः मनुष्य ईश्वर प्रत्यय का इस तरह अभ्यस्त हो जाता है कि वह बिना इस विचार के रहना नहीं चाहता, वह सोचता है यदि ईश्वर नहीं है तो उनके बिना जीवन सभंव नहीं है, यह ईश्वर का विचार ही उनके जीवन को संभव और सहन करने योग्य बनाता है अतः वे हमेशा इस विचार के साथ संलग्न रहते हैं । यह प्रवृत्ति बिना किसी साधन के प्रत्येक सामान्य मनुष्य की विशेषता हो जाती है जिस विशेषता का आधार ईश्वर रूपी सच्चाई को सुरक्षित रखने की प्राकल्पना है । नीत्शे मनुष्य में सांसारिक जीवन को स्वीकार करने की शक्ति का मूलभूत अभाव पाता है । जैसे- कोई आदमी है, जिसके पास आत्मविश्वास नहीं है जवकि उसके पास प्रशासक होने की सभी विशेषतायें है, वह किसी प्रतियोगिता में शामिल होता है और साक्षात्कार में आत्मविश्वास की कमी के कारण असफल सिद्ध कर दिया जाता है । इस स्थिति की पुनरावृत्ति ईश्वर के प्रत्यय की कल्पना कराती है और तब अपनी असफलता के लिए अपने आत्मविश्वास की

कमी के स्थान पर वह ईश्वर को दोषी ठहराना प्रारम्भ करता है । इसी- प्रकार एक दूसरा आदमी है जिसमे रोगों से ग्रस्त होने के कारण शारीरिक शक्ति का अभाव हो जाता है, वह इतना कमजोर है कि लड़ नहीं सकता, उस पर कोई असामाजिक तत्व आक्रमण कर देता है और वह अपना धन नहीं बचा पाता । यहाँ वह अपने धन जाने का कारण अपनी कमजोरी के कारण असामाजिक तत्व का सामना न कर पाना मानता है लेकिन फिर भी वह सोचता है कि यह ईश्वर है जो यह नहीं चाहता कि उसका धन रहे । सामान्यतः आत्मविश्वास के अभाव से शक्ति के अभाव के कारण (शारीरिक ही नहीं वल्कि मानसिक या अन्य सभी प्रकार की) मनुष्य ईश्वर विचार की कल्पना कर लेता है । वह कहता है - हम कोई ईश्वर नहीं पाते - चाहे इतिहास में या प्राकृतिक शक्तियों के स्वभाव में - हम अन्तर नहीं कर पाते, लकिन वह जिसे हम ईश्वर की तरह अनुभव करते हैं वह ईश्वर के समान नहीं है बल्कि अभागा है, बकवास है, नुक्सानदेह है, केवल भ्रम ही नहीं बल्कि जीवन के प्रति अपराध है । (२) इसलिए वह ईश्वर से सम्वन्धित अपना सर्वाधिक प्रसिद्ध घोषणा करता है कि 'ईश्वर मर गया ' । मानरिक फ्रायडमेन के अनुसार- नीत्शे के लिए ' ईश्वर मर गया' का अर्थ है मूल्यों का उस संकल्प की शक्ति का आधार खोना जो नये मूल्यों को उत्पन्न कर अतिमानव तक पहुँचती हो । ईश्वर की मृत्यु को यह सर्वाधिक तात्कालिक घटना मानता है ।(३)

पाल रूबिचेक कहते है ' ईश्वर मृत है, हमने ईश्वर की हत्या कर दी है ईश्वर की मृत्यु हो गयी है ।' यह स्पष्ट रूप में किसी निष्कपट नास्तिक का कथन नहीं है वह सिर्फ इतना कहता कि ईश्वर नहीं है और उसमें आस्था रखना निरर्थक अन्धविश्वास है जिसका कोई आधार नहीं है किन्तु ईश्वर मृत है, खोये मत की ओर संकेत करता है । नीत्शे जानता है कि यूरोप के लोगों पर, विशेष रूप से बुद्धिजीवियों पर ईसाई धर्म का प्रभाव समाप्त हो चुका है और उन्नीसवीं शताब्दी की यह सबसे महत्वपूर्ण घटना है इतिहास में उल्लिखित सभी घटनाओं से अधिक महत्वपूर्ण । क्योंकि यूरोपीय सभ्यता को ईसाई धर्म के ईश्वर सम्प्रत्यय पर आधारित किया गया है अतः इस मत के लुप्त होने से

यह आवश्यक है कि इस सभ्यता में एक दरार पड़े, ईश्वर के स्थान पर कुछ भी नहीं है । नीत्शे यह भी जानता है कि यह स्थिति क्यों भयंकर और खतरनाक है । रिक्तता का भाव स्थायी नहीं है । यह लगातार बढ़ता है और विनाशकारी होता है और दृढ़ विश्वासों को समाप्त करता जाता है । अधिक से अधिक संप्रत्यय , मूल्य आस्थाएं , सम्प्रदाय जो अब तक हमारे जोवन के आधार रहे हैं टूट जाते हैं और उनकी अवहेलना होती है, अन्त में हमारे अस्तित्व के क्रोड में अवस्तुता मिलती है । इस प्रकार की रिक्तता का भाव अभी भी बढ़ रहा है और इस प्रकार का खतरा है कि हमारे लिए अभी भी जो वास्तविक मूल्य की वस्तु बची है, वह समाप्त हो जाए । इस शून्यवादी प्रवृत्ति ने नीत्शे को मनुष्य का नया स्वरूप प्रस्तुत करने के लिए प्रोत्सहित किया ।(४) उसने अनुभव किया यदि मनुष्य को अपनी खोई हुई महत्ता प्राप्त करने के लिए उसका नया चित्र न दिखाया गया तो सैनिक शक्तियों के हाथ में पड़ा हुआ राज्य मनुष्य मे अपना पूजा करायेगा ओर अन्ततोगत्वा मनुष्यों में एक दूसरे के लिए सम्मान न रह जायेगा, सभी समाजिक संरचना विश्रृंखलित हो जायेगी । अतः मनुष्य का नया स्वरूप प्रस्तुत करना नीत्शे का लक्ष्य बन गया ।

इस आने वाली शून्यता की समस्या को वह अपनो प्रारम्भिक कृतियों में लाक्षणिक रूप में बताता है । वह लिखता है - क्या आपने पागल आदमी के बारे में नहीं सुना है जो स्वर्ण प्रभात में लालटेन जलाता है और बाजार की ओर लगातार यह चिल्लाता हुआ भागता है कि मैं ईश्वर की खोज कर रहा हूँ — जब यह बात हुई तो वहाँ कई लोग खड़े थे जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे, अतः वह हँसी की साधन बन गया । '(ये वास्तविक नास्तिक है जिन्हें इस प्रकार की भाषा हास्यास्पद प्रतीत होनी चाहिए) वह पागल आदमी उछलकर बीच में चला आया —— उसने कहा ईश्वर कहाँ है, अच्छा, मै तुम्हें बताऊँगा । हमने उसकी हत्या कर दी है - आपने और मैंने । हम सब उसके हत्यारे है । किन्तु हमने इस कार्य को कैसे किया ? हमने महासागर का जल पीकर इसे सूखा कैसे बनाया । सम्पूर्ण क्षितिज को पोंछ डालने के लिए हमें स्पंज किसने दिया । जब हमने सूर्य से इस पृथ्वी को अलग किया तब हम कहाँ थे ? पीछे, बगल

में आगें सभी दिशाओं मे ? क्या अभी भी हम ऊपर और नीचे की वात कर सकते हैं ? क्या हम चक्कर नहीं काट रहे, खोए हुये , अवस्तुता की अनन्तता में ? क्या रात नहीं आ रही है गहरी और गहरी ? ईश्वर मृत है । ईश्वर मृत रहता है । हमने उसकी हत्या की हे । हमारे लिए वहाँ क्या आराम है ? — इस कार्य की महानता क्या हमारे लिए अत्यधिक भारस्वरूप नहीं है ? नीत्शे यह भी जानता है कि इस घटना पर अभी ध्यान नहीं दिया गया है । पागल आदमी कहता है - मैं वहुत पहले ही चला आया — यह असीम घटना अभी भी अपने मार्ग में है, यह सभी मनुष्यों के कानों तक नहीं पहुँची है । ' (५)

इस विवरण का अभिप्राय यह है कि ईसाई धर्म ने परम्परा से जिन मूल्यों की स्थापना की थी वे नष्ट हो गये है । ईश्वर की मृत्यु के साथ ईश्वर के नाम निर्धारित किये गये मूल्य भी विनष्ट हो गये । नीत्शे संस्कृति के इतिहास की ओर संकेत करते हुए कहता है कि लोग ईश्वर के अस्तित्व को मानते थे किन्तु अव यह प्रायः नहीं माना जाता है ।

नीत्शे को यह ज्ञात था कि ईश्वर की सत्ता में विश्वास मनुष्य का मूल्य और महत्व नष्ट कर देता है । जव इस विश्व में सर्वेसर्वा ईश्वर ही है तो इस क्षुद्र संसार और उसमें वास करने वाले नगण्य मनुष्य का क्या महत्व ? अतः वह कहता है ईश्वर अब हमारे हृदय में भी जीवित नहीं । विज्ञान, वौद्धिकता आदि के विकास का क्रम तथा वेग कुछ ऐसा रहा है कि वर्तमान स्थिति में ईश्वर अस्तित्व का हमारे लिए कोई महत्व नहीं रह गया । ईश्वरवादी विचारकों का यह कहना है कि जगत ईश्वर के विना उद्देश्यहीन प्रतीत होगा, सर्वथा निरर्थक है क्योकि किसी क्षण भी अव हमें अपने जीवन में ईश्वर की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है । यद्यपि ईश्वर की हत्या से प्रचलित नैतिकता अथवा शुभ अशुभ का आधार भी नष्ट हो गया है किन्तु नीत्शे के अनुसार यह एक नये युग का आरम्भ है । ईश्वर पर निर्भर हो मनुष्य अपने आपको ही भूल वैठा था,

इसलिए वह ईश्वर-विहीन जगत में मानवीय महत्व को स्थापित करने की चेष्टा करता है । उसका विश्वास है —अनीश्वरवाद में मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियों को पनपने का अवसर मिलेगा तथा मनुष्य का आत्मबल बढ़ेगा । इसीलिए नीत्शे ने शक्ति संकल्प के प्रभाव रूप में मनुष्य को ही ईश्वर बनाने का प्रयास किया । अतः नीत्शे कहता है - 'अगर ईश्वर होता तो मैं ईश्वर न होने से कैसे वंचित रह सकता ? अतः ईश्वर नहीं है ।(६)

इस प्रकार नीत्शे के दर्शन में धर्म तथा ईश्वर दोनों के लिए कोई स्थान नहीं है । अतः वे मानते हैं- ईसाई धर्म तथा उसमें प्रतिपादित ईश्वर विचार से हां प्रगति का मार्ग अवरूद्ध हो जाता है तथा मनुष्य अपने स्तर से गिर जाता है ।

नीत्शे नैतिकता का विश्लेषण करते हुये कहते हैं - नैतिकता के इतिहास में नैतिकता के दो रूप स्पष्टतः प्रकट होते है - (१) प्रभुत्व भाव की नैतिकता (२) दासत्व भाव की नैतिकता । प्रभुत्व भाव की नैतिकता में जो कुछ सवल है अथवा शक्ति-सूचक है वह सव शुभ है अतः साहस, बल, सामर्थ्य, आत्म निर्भरता, आत्मविश्वास आदि गुणों को शुभ माना जा सकता है इसके विपरीत दासत्व भाव की नैतिकता में उन सव गुणों को शुभ माना जा सकता है जो अशक्त तथा निम्न वर्ग के लिए वाँछनीय है । इसमें जो वर्ग की सुरक्षा के लिए उपयोगी हो वह शुभ माना जाता है अतः इस प्रकार की नैतिकता में आज्ञाकारिता, करूणा, दया, अनुकम्पा, विनम्रता आदि आते हैं । इसमें सशक्त होना अशुभ है । नीत्शे कहता है कि दासत्व नैतिकता के कारण ही मनुष्य निष्क्रिय तथा शक्तिहीन है । उसमें नवीन मूल्यों के सृजन की शक्ति नहीं रहती । वह प्राचीन या पारम्पारिक मूल्यों को स्वीकार कर भेड़ बकरी जैसा जीवन यापन करता है । इनको परिवर्तन से भय लगता है क्योंकि परिवर्तन उनके दैनिक जीवन के नियमित ढंग को उद्वेलित कर देता है अतः उन्हें परिवर्तन कर सकने वाले प्रभुत्व-भाव की नैतिकता के पोषक श्रेष्ठ व्यक्ति अशुभकारक तथा भयावह लगते है । नीत्शे 'प्रभुत्वभाव की नैतिकता के पोषक हैं ।' इसे वे जीवन्त तथा सृजनात्मक मानते हैं ।

नीत्शे का कहना है- नैतिकता के इतिहास में इन दो प्रकार की नैतिक प्रवृत्तियों में प्रायः संघर्ष होता रहा है, जिससे मानव विकास का मार्ग अवरूद्ध हुआ है । झुण्ड नैतिकता (दासत्व-भाव नैतिकता) के पोषक अपनो नैतिकता को तथा शुभ-अशुभ भाव को सामान्य एवं सार्वभौम बनाने का हर उपक्रम करते हैं किन्तु किसी विशेष गुण को सामान्य शुभ का रूप देना मानवता के प्रति अन्याय है । इससे प्रतिभाशाली व्यक्तियों की उत्पत्ति नहीं होती बल्कि मध्यम व औसत वर्ग में वृद्धि होती है जबकि 'मानवता के ऊपर उठने के लिए प्रतिभाशाली व्यक्तियों का अविर्भाव अनिवार्य है । यह तभी संभव है जब सामान्य बने रहने की होड़ समाप्त हो, सामान्य मूल्यों का त्याग हो तथा नये मूल्यों की सृष्टि हो ।'

नीत्शे की दृष्टि में — ईसाई धर्म आलोचना का पात्र है क्योंकि वह 'दासत्व नैतिकता' का उपयुक्त उदाहरण है, जिसमें विनम्रता, करूणा, निर्बलता, सहानुभूति को शुभ कहकर इन्हें सार्वभौम मूल्यों के रूप में स्थापित किया गया ।

ईसाई धर्म दया तथा सहानुभूति की शिक्षा देता है किन्तु जो इनको अनुभव करता है और जिनके प्रति ये अनुभूत होती हैं दोनों के लिए ये बुरी हैं । दयालु दूसरों की सहायता कर उसकी शक्तियों को क्षीण करता है, उन्हें अपनी यातना-साधना नहीं करने देता । स्वयं दयालु दया कर अपनी हानि करता है क्योंकि उसका लक्ष्य आत्मलाभ करना है । दया के साथ ही ईसाई पड़ोसी को प्रेम करो की शिक्षा देता है । यह 'पड़ोसी प्रेम' घातक है क्योकि यह संकुचित विचार है, जो विश्व प्रेम में बाधा पहुँचाता है । नीत्शे का कहना है कि सलीब पर ईसा का लटकाया जाना एक दृष्टि से यहूदियों के प्रतिशोध का प्रतीक है । निम्न वर्ग के लोगों की दृष्टि में उच्च वर्ग की श्रेष्ठता असहनीय था, वे उनकी शक्ति कम करना चाहते थे, अतः उन्होने धर्म का एक ढंग बनाया और श्रेष्ठ गुणों की उपेक्षा करते हुए ईसा मसीह को उन गुणों का प्रतिमान बना दिया, जिसके द्वारा वे सभी लोगों को सामान्य स्तर पर ला सकते । उदाहरणतः शत्रु से भी प्रेम करो, जो तुमसे

घृणा करे उसका भी तुम शुभ करों इत्यादि निर्वलता, शक्तिहीनता के परिचायक हैं जिनसे झुण्ड नैतिकता का समर्थन होता है । नीत्शे शक्ति तथा श्रेष्ठता के स्थान पर दया, करूणा आदि गुणों को महत्व देता है किन्तु इन गुणों को धारण करने का अर्थ ही है अपनी शक्ति खोना । ईसाई धर्म शक्ति संकल्प के विरूद्ध है और यदि शक्ति संकल्प की उपेक्षा हुई तो मनुष्य का ह्रास निश्चित है क्योकि तब उत्थान के लिए कोई प्रयोजन नहीं रह जाता ।

श्रद्धा, विश्वास सत्य की खोज में बाधा डालता है । श्रद्धा, विश्वास सत्य के प्रमाण नहीं । सत्य को प्रारम्भ में स्वर्गीय ईसा के वचनों का प्रमाण देना वुद्धि की निर्वलता है । ईसा मसीह के विषय में नीत्शे का कहना है कि वे नैतिक उपदेशक अवश्य थे किन्तु उनका सबसे बड़ा दोष यह था कि उन्होने अपने उपदेशों को दुर्बल तथा निम्न वर्गो को दे दिया । उसका कहना है कि न्यू टेस्टामेन्ट अथवा पॉल द्वारा ईसा का जो चित्र खींचा गया, वह अवास्तविक है । नीत्शे के अनुसार ईसा के उपदेशों ने जोवन की स्वाभाविकता को नष्ट कर एक ऐसा आदर्श बनाया जिसके फलस्वरूप मानवता का स्तर और नीचा होता गया । उनका एक सामान्य उद्देश्य बन गया - सेवा भाव । इस सेवा-भाव में समाज को सबल तथा उन्नत बनाने के लिए जिन नये सृजनात्मक मूल्यों की आवश्यकता थी, वे उपेक्षित रह गये ।

नीत्शे ईसाई धर्म की आलोचना इमलिए भी करते है कि इस धर्म में सभी को बराबर माना गया है । जबकि उनका मानना है कि हर मनुष्य न समान है और न हो सकता है । उनके अनुसार औसत वर्ग श्रेष्ठता के मार्ग में रूकावट है और इस प्रकार सबको बराबर मानने की चेष्टा मनुष्य की उन्नति के मार्ग में रूकावट है । ईश्वर भाव के प्रति नीत्शे 'आलोचना करते हुए कहते हैं - ईश्वर भाव की संपुष्टि में मानव अस्तित्व का निषेध निहित है । एक दृष्टि से ईसाई मत का ईश्वर मानव का शत्रु है । इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण यही है यह मानव आकांक्षा, जिज्ञासा , अभिलाषा की संतुष्टि नहीं करता, उन्हें कुंठित करता है ।उदाहरणतः यह मानव को पूर्णतः ईश्वर पर निर्भर वना

देता है और यह दिखलाने की चेष्टा करता है कि मानव के अपने प्रयास से कुछ संभव नहीं, सब कुछ अन्ततः ईश्वर पर ही निर्भर है । यहाँ तक कि ईश्वर भाव का सहारा लेकर धर्म भाव के मिथ्या जाल में उलझा देता है तथा उसकी सहज स्वाभाविक वृत्ति को कुचल देता है, वह मनुष्य के हर संशय को उसकी हर जिज्ञासा को ईश्वर-भाव मान मानवीय प्रेरणा, मानवीय संकल्प तथा मानवीय प्रयत्न को पनपने ही नहीं देता

नीत्शे ने कहा- ईसाई सम्प्रदाय मानव- बुद्धि के विकास के मार्ग में बाधक है, जिसका लक्ष्य धर्म से भयान्वित कर मनुष्यों को पशुओं की तरह बंधन में रखना है । ईसाई धर्म में पाप की अवधारणा तथा प्रायश्चित के भाव-बोध से सभी मनुष्यों को पादरी अपने नियंत्रण में रख लेता है । इस धर्म में कहा गया कि केवल पादरी ही पाप से रक्षा कर सकते हैं और प्रायश्चित का मार्ग निर्देशित कर सकते हैं । नीत्शे के अनुसार इस प्रकार की मान्यता मानवता के प्रति भीषण अपराध है । वास्तव में ईसाई धर्म के प्रारम्भिक मतावलम्बियों ने इस धर्म की स्थापना किसी सबल उद्देश्य के लिये न कर अपनी अवस्था से सन्तोष पोषण के लिए किया । मानव-शक्ति की और आत्मनिर्भरता की अवहेलना के लिए ईश्वरभाव का आविष्कार हुआ । व्यावहारिक जगत में लोगों की अभिरूचि बढ़ाने के स्थान पर काल्पनिक जगत का चित्र खींचा गया तथा उसे ही आर्दश बताया गया । आत्म विचार तथा अमरता के विचार द्वारा मनुष्य के सबल कार्य, सृजनात्मक प्रवृत्तियों की उपेक्षा हुई । नीत्शे कहते है- वस्तुतः ईसाई धर्म श्रेष्ठ वर्ग तथा उच्च मानवता के प्रति स्पर्धा ही नहीं, प्रतिशोध का सूचक है ।

नीत्शे के अनीश्वरवाद के विरूद्ध कुछ विचारकों का मत है कि यदि इस सिद्धान्त को महत्व दिया जायेगा तो एक प्रकार का शून्यवाद स्थापित हो जाता है । अपने मत की पुष्टि वे यूरोपीय संस्कृति के आधार पर करते है । यूरोपीय संस्कृति में ऐसे मूल्यों को प्रधानता दी गई है जो ईसाई धर्म पर आधारित है । यदि ईसाई धर्म का खण्डन हो जता है तो उस पर आधारित मूल्यों का भी खण्डन हो जाता है । ईसाई धर्म पर आधारित मूल्यों

मे आस्था समाप्त होने पर स्वाभाविक रूप से ऐसी मनः स्थिति बन जाती है कि सभी मूल्यों को संशय की दृष्टि से देखा जाने लगता है । इस प्रकार मूल्यों की मान्यता ही समाप्त होने लगती है और शून्यवाद की उत्पत्ति होती है ।

नीत्शे को इस प्रकार से उत्पन्न शून्यवाद में कोई दोष नहीं दिखता वल्कि इसमें उन्हें नये आदर्श की सृष्टि की संभावना परिलक्षित होती है । नीत्शे कहते है इस प्रकार के शून्यवाद में दो रूप हो सकते हैं - (१) सक्रिय शून्यवाद (२) निष्क्रिय शून्यवाद । निष्क्रिय शून्यवाद में मूल्यों की समाप्ति, निराशावाद, प्रयोजनहीनता की उत्पत्ति होती है, जबकि सक्रिय शून्यवाद में पारम्परिक मूल्यों का निषेध होने से नये मूल्यों की स्थापना होती है ।

नीत्शे नैतिकता और ईसाई धर्म पर जो आरोप करता है उसका कारण यह है कि उसके विचारानुसार बलवान व्यक्ति का स्वामी होना असंभव हो जाता है । नीत्शे के अनुसार अगर प्राकृतिक व्यवस्था को जो अनिवार्य रूप से आदर्श व्यवस्था होगा - अक्षुण्ण छोड़ दिया जाय, तो वे सभी जो निर्बल है, बलवानों के अधीन हो जाएंगें, अतः निर्वल व्यक्तियों ने अपनी रक्षा के लिए सामान्य या ईसाई धर्म सम्वन्धी नैतिकता स्वीकार की । इस नैतिकता का पालन उस बलवान व्यक्ति की अपेक्षा निर्वल व्यक्ति अधिक आसानी से करता है जिसमें मूलप्रवृतियाँ और अन्तः प्रेरणाएँ है और अगर इसे उच्चतम प्रमाण वना दिया जाय तो निर्बल व्यक्ति वरिष्ठ प्राणी प्रतीत होगा । अतः हमारी समस्त नैतिकता दास नैतिकता जनसाधारण की नैतिकता दिखती है जो स्वस्थ व्यक्ति को ध्वस्त करने के लिए है जिससे उसे अधीन किया जा सके । तत्कालीन यूरोप के लोगों के वारे में नीत्शे कहता है - यूरोपीय नैतिकता का छद्मवेश धारण करता है, क्योंकि वह अस्वस्थ, विवर्ण और अपंग हो गया है जिसके निस्तेज होने के पर्याप्त कारण हैं क्योकि वह निष्फल-सा, अपूर्ण, निर्वल और भद्दी वस्तु है । धर्म एक प्रकार का मनस्ताप है जो इस बीमारी को उत्पन्न करता है और उसका प्रयोग करता है, विशेष रूप से ईसाई धर्म के साथ' नैतिकता में दास विद्रोह'

आरम्भ होता है जिसने सफाई दी है और उन सब पर विजय प्राप्त की है जो अनुपयुक्त, कृपापात्र, निम्न वर्ग के, मानवजाति से निकाले हुए लोग हैं । ईसाई धर्म के अर्थ में उन्नति वास्तविक उन्नति के विपरीत है क्योंकि इसका अर्थ यह होता है कि मनुष्य 'निस्तेज, निर्बल, हताश, शिथिल अशक्त और नपुंसक है । ' ईसाई धर्म ने मनुष्य को सम्पूर्ण रूप से परास्त कर दिया, तोड़ दिया और कीचड़ में डूबो दिया । धर्म के साथ नात्शे ईश्वर को भी अस्वीकार करता है और कहता है 'ईश्वर निर्जीव है' और आलंकारिक रूप से वह पूछता है कि क्या विचारक को अभी भी ईश्वर की प्राकल्पना करने की आवश्यकता है वह सभी धर्मो की आलोचना करते हुये कहता है - कभी भी किसी धर्म में प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से या सिद्धान्त रूप में या प्रतीक रूप में सच्चाई नहीं रही है (७) इन आलोचनाओं के आधार पर नीत्शे का लक्ष्य एक नये आदर्श की सृष्टि करना है - एक ऐसे आदर्श की जो शक्ति एवं श्रेष्ठता का प्रतीक हो । उस शक्ति को उन्होने शक्ति संकल्प कहा और शक्तिशाली व्यक्ति की प्रशंसा करते हुए कहा -

कमजोर पर तरस खाना मूर्खता है । दासता हमेशा प्रत्येक उच्चतर संस्कृति की अवस्था थी और अगर महान आत्माएँ होती हैं तो अहंमन्यता आवश्यक है । जो व्यक्ति संस्कृति का विकास करता है वह ईसाईयों और नीतिवादियों की कल्पना से भिन्न प्रतीत होता है । वह अपने साधन के रूप में झूठ, हिंसा, अत्याधिक निष्ठुरता, अहंमन्यता का प्रयोग इस खूबी से करता है कि उसे दुष्ट पिशाच ही कहा जा सकता है । ' अधिक पूर्ण मनुष्य' हमेशा अधिक पूर्ण पशु थे । सहिष्णुता और शान्ति अशक्तता के द्योतक है । युद्ध को वह एक प्रकार से वास्तविकता के रूप में ही स्वीकार करता है क्योंकि युद्ध समस्त शुभ का जनक है । अगर कोई युद्ध का परित्याग करता है तो इसका अर्थ यह होता है कि वह महान जीवन का परित्याग करता है । हमें मनुष्य में एक नये प्रकार के अन्तःकरण को जन्म देना चाहिए जिससे हम अपने पारम्परिक सद्गुणों को अशुभ अन्तःकरण के साथ बल और शक्ति को शुभ अन्तःकरण के साथ मिला सकें। मनुष्य को एक शिकारी पशु, शिकार और सिद्धि की खोज में लुब्ध होकर घूमने वाला भव्य स्वर्णमिकेश पशु बनने

का प्रयास करना चाहिए — उसे पशु के रूप में फिर से प्रकट होना चाहिए और जंगल लौट जाना चाहिए । महान जातियों ने जहाँ कहा भी वे गयीं अपने पद चिन्हों में जंगलीपन का संप्रत्यय छोड़ा है । '

वास्तव में नीत्शे रूढ़िगत नैतिकता के स्थान पर एक नई नैतिकता का स्थापना करने के लिए सभी मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन करना चाहता है । इसके लिए वह सभी परिपाटियों और पूर्वाग्रहों से पलायन करना चाहता है ।

नीत्शे के शक्ति सिद्धान्त द्वारा ईश्वर के स्थान पर मनुष्य को आसीन करने का प्रयास किया गया है किन्तु नीत्शे के इस प्रयास के विकास के पहले ही कुछ इसी प्रकार के विचार दोस्तोवस्की के एक पात्र में ध्वनित होते है -

'दि पोजेस्ड में किरिल्लत्व इस बात से आश्वस्त है कि ईश्वर नहीं है और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अगर ईश्वर का अस्तित्व है तो उसकी इच्छा से हम बच नहीं सकते । अगर ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो यह सब मेरी इच्छा है और मैं आत्मा दिखलाने के लिए बाध्य हूँ — अगर कोई ईश्वर नहीं है तो मैं ईश्वर हूँ ।

नीत्शे के अनुसार शक्ति संकल्प से मनोवैज्ञानिक एवं तथ्यात्मक दोनों प्रकार की माँगों की पूर्ति होती है । एक तरफ यह मानव क्रियाओं, संकल्पों आदि की मनोवैज्ञानिक व्याख्या का आधार प्रस्तुत करता है दूसरी ओर यह जीव तथा जगत की व्याख्या के लिए मूल सिद्धान्त प्रस्तुत करता है । नीत्शे के अनुसार विश्व की सक्रियता का एक मात्र कारण शक्ति-संकल्प है । विश्व की सभी क्रियात्मक अभिव्यक्तियों में इसी का रूप झलकता है । नीत्शे के दर्शन में जीने का संकल्प मानवीय संदर्भ में प्रकट होता है । यह परम सत्ता नहीं बल्कि जैविक तथ्य है । इसलिए इसकी व्याख्या अनुभव के आधार पर की गई ।

नीत्शे के अनुसार समस्त भौतिक जगत, मानव जगत, सभी में शक्ति-संकल्प के आनुभविक उदाहरण प्राप्त होते हैं । हर अणु शक्ति पुंज है और अपने ढंग से शक्ति के विस्फोट के लिए सतत् उद्यत है । नीत्शे के विचार मुख्यतः जीव जगत से सम्बन्धित है जीवों में भी मुख्यतः मानव जगत से इसीलिए अपने लेखों के लिए शक्ति-संकल्प का उदाहरण वे इन्हीं दोनों जगत से लेते हैं । नीत्शे कहते हैं- जीव विकास के क्रम में सर्व प्रमुख तत्व शक्ति-संकल्प ही है । नीत्शे 'दस् स्पोक जरथुस्त्र' में कहते हैं ।....

हम जहाँ कही भी चेतन सत्ता पाते हैं उसमें शक्ति- संकल्प पाते हैं । यहाँ तक कि दास की इच्छा में भी हम स्वामी होने की इच्छा पाते हैं । हर जीव अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए सब कुछ करने को तत्पर रहता है । जो शक्तिशाली हैं वे साक्षात् रूप में ऐसा करते है तथा जो निर्बल हैं वे परोक्ष रूप में ऐसा करते हैं । प्रायः यह माना जाता है कि सुख प्राप्ति तथा दुःख से निवृत्ति, यही दो मानव जीवन के लक्ष्य हैं किन्तु नीत्शे कहते हैं- सुख दुःख की अनुभूति शक्ति प्राप्ति के मार्ग में अवरोध की अनुभूति है । सुख दुःख दोनों शक्ति प्राप्त करने के साधन हैं ।.....

जब नीत्शे ने ईश्वर के अस्तित्व का निषेध किया, तो ईश्वर के अन्त के साथ ही उस पर आधारित मूल्यों तथा आदेशों का भी अन्त हो गया । अब उन्हें ऐसे आदर्श स्थापना की आवश्यकता थी जो दूरस्थ, अमानवीय तथा अप्राकृतिक भी न हो तथा ईश्वर का स्थान भी लें । इसी आदर्श के रूप में वह अतिमानव की स्थापना करते है । 'दस् स्पोक् जरथुस्त्र' में वे कहते है -

..... लेकिन अब वह ईश्वर मर गया । उच्च मानव । यह ईश्वर तुम्हारे लिए महान् खतरा था ।..... आओ उच्च मानव । अब सिर्फ भविष्य में पर्वत सदृश श्रम करो- ईश्वर मर गया । अब हमारी इच्छा है कि केवल सुपरमैन रहेगा ।....(८)

इस प्रकार नीत्शे मानव का आर्दश किसी अतीन्द्रिय जगत में नहीं वल्कि मानवीय जगत में ही संभव मानते हैं ।

कुछ विचारक उनकी अतिमानव की अवधारण को एक प्रकार का पुरूषोचित प्रतिवाद मानते हैं । वे मानते हैं कि नीत्शे निर्वल एवं अस्वस्थ होने के कारण वहुत से ऐसे कार्य स्वयं नहीं कर सके अतः उनके मन ने इस कर्मी को पूरा करने के लिए अतिमानव की अवधारणा कर ली । साथ ही यह अवधारणा विकासवाद से भी प्रभावित थी । विकासवाद के अनुसार विकास का एक क्रम अपनी पूर्व स्थिति से श्रेष्ठ होता है । विकास निम्न से उच्चतर की ओर है । जीव विकास के इतिहास में हर बार का जाव पहले मे श्रेष्ठतर है । इसी कारण प्राचीनतम जीव बाद के जीवों के लिए नगण्य हैं । वानर भी मनुष्य के लिए हंसी या उपेक्षा का विषय हो सकता है । विकास के इस नियम के अनुरूप विकास प्रक्रिया मानव स्तर तक पहुँच कर रूकेगी नहीं क्योंकि मनुष्य में भी वहुत-सी कमजोरियाँ हैं और विकास का यह क्रम तब तक चलता रहेगा जव तक मनुष्य में निहित शक्तियाँ अपनी पूर्णता में प्रकट नहीं हो जायेगी । मनुष्य के विकास का लक्ष्य अतिमानव है । यह लक्ष्य स्वयं विकास की स्वाभाविक परिणति नहीं है बल्कि निश्चित प्रयास से ही यह प्राप्त हो सकता है । अतिमानव की प्राप्ति का प्रयास केवल श्रेष्ठ मनुष्यों द्वारा ही संभव है । श्रेष्ठ व्यक्ति वह है जो साहसी है तथा पारम्परिक मूल्यों के निषेध की क्षमता रखता है और अतिमानव के आर्विभाव की पृष्ठभूमि तैयार करने वाले कर्म हैं- विवाह के नियमों में आमूल परिर्वतन, निर्बल तथा निरीह जीवों की उपेक्षा , सवल सन्तानोत्पत्ति के ढंग ।

इन साधनों से अतिमानव का जो लक्ष्य प्राप्त किया जायेगा, नीत्शे के अनुसार उसकी निश्चित व्याख्या पूर्णतः संभव नहीं है । क्योंकि वह अभी अस्तित्ववान नहीं है । वह ऐसा आदर्श है जो मानव विकास को निरन्तर अपनी ओर बढ़ा रहा है । यह ऐसी कल्पना है जो मनुष्य को बल, साहस तथा आत्म निर्भरता का संदेश देती है । अतिमानव श्रेष्ठ मानव मात्र नहीं है बल्कि वह एक नवीन कल्पना है । यदि मनुष्य स्वयं को स्वयं

से परे उर्ध्वता की ओर उन्मुख कर सकेगा तभी वह अतिमानव बन सकेगा । जब श्रेष्ठ मनुष्यों में निहित संकल्प शक्ति सृजनात्मक रूप ले लेती है, तो वह आत्म अतिक्रमण कर लेता है । यही आत्म- अतिक्रमण की क्षमता उसे अन्य जीवों एवं औसत मुनष्यों से श्रेष्ठ बनाती है । आत्म- अतिक्रमण अर्थात अपनी संकल्पशक्ति को सृजनात्मक रूप प्रदान करना ही उसका लक्ष्य है । जिसने अपनी संकल्प शक्ति को सृजनात्मक रूप प्रदान कर दिया वही अतिमानव है । अतिमानव में सभी उच्च प्रवृत्तियाँ, बौद्धिक-शक्ति, इच्छा-शक्ति, चरित्र बल, भावना-शक्ति, शारीरिक-शक्ति, स्वतत्रंता की शक्ति आदि पूर्णतः संगठित हो जायेगी । अतिमानव की संभावना के लिए प्रचलित मूल्यों का सुरक्षित ढंग से जीवित रहने की इच्छा का, सामान्यता की स्थिति का बलिदान करना होगा । इस बलिदान से प्राप्त अतिमानव की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियाँ असीम होंगी । इस प्रकार नीत्शे के विचारों में तात्कालिक सन्दर्भो और परिस्थितियों के अनुरूप लक्ष्य प्राप्त होता है जिसमें प्रमुखता ईश्वर अस्तित्व को खंडित करने की अपेक्षा प्राचीन मूल्यों के स्थान पर नए मूल्यों की स्थापना थी उसके द्वारा निर्मित मूल्यों की सार्थकता तत्कालीन परिवेश में सम्भव हो सकती है लेकिन उससे नैतिकता और मूल्यों का कोई सर्वमान्य और उचित प्रतिमान स्थापित नहीं होता ।

:- सन्दर्भ :-

१- डे ब्रेक -नीत्शे पृ० ९९

२- दि एन्टी क्राइस्ट-नीत्शे पृ० ४७

३- वही पृ० ४८

४- रूबिचेक पॉल- अस्तित्ववादः पक्ष और विपक्ष पृष्ठ ३९

५- अस्तित्ववाद पक्ष और विपक्ष पृष्ठ ३९ पर उद्धृत 'डाई फ्रालिक विस्सेनशेफ्ट पृ० १२५

६- नीत्शे फ्रे०- बियोण्ड गुड एण्ड इविल पृ० ११७

७- दि कम्पलीट पर्क्स खण्ड ५ बियोण्ड गुड एण्ड इविल पृ० २२४
अस्तित्ववाद पक्ष और विपक्ष पृ० २८ पर उद्धृत

८- उस स्पोक जरथुस्त्र- नीत्शे पृ० २३

४.५ ज्याँ पाल सार्त्र

'अस्तित्ववाद और कुछ नहीं वरन एक सुनियोजित अनीश्वरवादी स्थिति से सभी निष्कर्षो को उत्पन्न करने का प्रयास है ।

उपरोक्त विचारों के अनुरूप अस्तित्ववाद को प्रस्तुत करने वाले ज्याँ पाल सार्त्र अस्तित्ववादी अनीश्वरवाद का प्रतिनिधित्व करते है । यद्यपि उन्होने ईश्वर के अनस्तित्व को स्थापित करने या उसके अस्तित्व के खंडन के लिए स्पष्ट रूप से कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किया । उनके विचारों में ईश्वर की आवश्यकता और उसकी सत्ता को स्वीकार करने वाले आधारों का सामंजस्य नहीं है ।

सार्त्र के दर्शन का लक्ष्य अतीन्द्रिय सत्ता से अलग मानव अस्तित्व का उसकी अनुभूतियों का उन्हो सांसारिक परिस्थितियों में विश्लेषण करना है , जिसमें वह नित्य प्रति अपने को पाता है । दर्शनशास्त्र के प्राचीन अध्ययन में मनुष्य को उचित महत्व नहीं मिला है । कभी उसे सांसारिक वस्तुओं के समान माना गया और कभी उसे आध्यात्मिक सत्ता का एक भाग।अध्ययन के यह दोनों ही रूप मनुष्य की अनुभूतियों को त्याग देते है जबकि मानव को उसके वास्तविक रूप में जानने के लिए इनका अत्यन्त महत्व है । सार्त्र कहते है:-

'सत्ता या अस्तित्व को दर्शन में अवहेलना हुई है।वस्तुवाद और विज्ञानवाद के सिद्धान्तों में उसके सम्मान की रक्षा नहीं हो सकी है । हुर्सल का दर्शन इस दिशा में एक उचित प्रारम्भ था लेकिन वह भी दूर तक न जा सका । अन्तिम सत्य की तलाश में उसने सार नत्व और तथ्य का कल्पित भेद किया ।'(१)

सार्त्र सार तत्वों की खोज नहीं करना चाहते थे, वह मानवीय वास्तविकता का अध्ययन उसके अस्तित्व के माध्यम से करना चाहते थे । वे अस्तित्व को मानवीय अर्थ से युक्त करते है जिसके अनुसार अस्तित्व का अर्थ या कम से कम अर्थ का एक भाग यह है

कि कोई भी सार नित्य नहीं है जो ईश्वर के मन में विचार के रूप में वर्तमान रहता हो और अस्तित्व में आने से पहले ही विद्यमान हो । मनुष्य को सर्वप्रथम अपने अस्तित्व का अनुभव होता है उसके बाद वह अपनी रूचि और चयन के द्वारा नित्य सृजनात्मक जीवन जीते हुए अपने सार का निर्माण करता है । इसीलिए सार्त्र कहता है ' अस्तित्व सार का पूर्ववर्ती है ।(२) सार का तात्पर्य' क्या' से है अर्थात विधेय से है और उद्देश्य मनुष्य है । विधेय जिसका आशय गुण , लक्षण, विशेषण , क्रिया इत्यादि से है । वे सार से अधिक महत्व अस्तित्व को प्रदान करते है ।

उनका विचार है -' यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो कम से कम एक सत्ता ऐसी है जिसमें सार तत्व के पहले अस्तित्व है । यह सत्ता किसी धारणा द्वारा परिभाषित होने के पूर्व है और यह सत्ता मनुष्य है ।'(३) मनुष्य के समस्त विचार इसी अस्तित्वपरक चेतना के अनुरूप उत्पन्न होते है ।

सार्त्र के अनुसार सृष्टिकर्ता ईश्वर में विश्वास मनुष्य की स्थिति को वस्तुओं के समान वना देता है क्योंकि उसका सार ईश्वर द्वारा पहले ही निर्धारित हो जाता है । उपरोक्त व्याख्या में ईश्वर महान कलाकार है जिसके दैवीय विवेक का परिणाम मनुष्य है । जैसे ईश्वर ने इच्छा की प्रकाश हो जाए और प्रकाश हो गया उसी प्रकार ईश्वर के मन में विचार आया कि एक सृष्टि की रचना हो जिसमें मनुष्य जैसा प्राणी हो जिसमें यह विशेषताएँ हो और मनुष्य अस्तित्व में आ गया । इस रूप में मनुष्य का स्वभाव, उसके सभी पारस्परिक सम्वन्ध जीवन में घटित होने वाली घटनाएँ , भय, निराशा, ऊब, रिक्तता सभी दैवी इच्छा की ही अभिव्यक्ति है ।

सार्त्र कहते है मनुष्य अस्तित्व और उसके जीवन की अनुभूतियों की यह व्याख्या मनुष्य को उसकी विशिष्टता से वंचित कर देती है । उसके चयन करने की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है । मनुष्य की यह व्याख्या उचित नहीं है क्योंकि यह मानव

अस्तित्व और स्वरूप का यथार्थ चित्रण नहीं है । मनुष्य को सबसे पहले आत्म अस्तित्व की चेतना होती है । जन्म के समय वह स्थूल वस्तुओं के समान प्रतिक्रियाओं का समूह मात्र है । वह अस्तित्ववान तब होता है । जब उसे अपने अस्तित्व की प्राथमिक अनुभूति होती है इस अनुभूति में उसे अपनी स्वतन्त्रता अपनी विषयिनिष्ठता, अपने चयन की क्षमता का ज्ञान होता है । इनका उपयोग कर वह अपने सार का निमार्ण करता है । उसके भविष्य की सम्पूर्ण योजनायें और विचार अस्तित्व की अनुभूति के अनुरूप निर्मित होते है । इसी अर्थ में वह वस्तुओं से भिन्न है। सार से पहले अस्तित्व का होना एकमात्र मनुष्य की विशेषता है क्योंकि वह अपना सार स्वयं निर्मित करने में सक्षम सार्त्र कहते है - ईश्वर विचार मनुष्य की अपनी कल्पना है जो उसके यथार्थ और दायित्वों से पलायन का परिणाम है । कैथलिन रेने कहते है - जे०पी० सार्त्र विश्वास करते है ईश्वर का अस्तित्व नहीं है वस्तुतः इस विषय को उन्होने अत्यन्त संक्षिप्त रूप में उल्लिखित किया है । मात्र संयोगवश लेकिन बार-बार वे अनाश्वरवाद को स्वीकार करते है जिसके लिए वह कोई कारण नहीं देते । (४)

सार्त्र के विचारों में अनीश्वरवाद दो रूपों में व्यक्त होता है, यदि मनुष्य स्वतन्त्र है तो ईश्वर नहीं है । इसके अतिरिक्त ईश्वर प्रत्यय आत्म-व्याघाती है । सार्त्र मनुष्य की स्वतन्त्रता का पूरी शक्ति से समर्थन करते है । मनुष्य की पश्चाताप और ग्लानि की भावना इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य अपने चुनाव में परिवर्तन करने में सक्षम है, यदि ऐसा संभव न होता तो उसमें यह भावनाएँ उत्पन्न न होती । मनुष्य स्वतन्त्र है यह प्रमाणित होने के बाद ईश्वर अस्तित्व के लिए स्थान नहीं रह जाता क्योंकि ईश्वर उसका स्वतन्त्रता में बाधक है । सार्त्र कहते है - यदि ईश्वर की सृष्टि आन्तरिक रूप से ईश्वर पर निर्भर है तो उसकी कोई पृथक सत्ता नहीं है और यदि सृष्टि स्वतन्त्र है तो उसे अपनी सत्ता के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है ।

शुद्ध विषयी (बीइंग फार इटसेल्फ) होने के कारण मनुष्य (बीइंग इन इटसेल्फ) या वस्तु न होने के कारण अपूर्ण है अधूरा है । इसलिए वह कुछ नहीं (नथिंगनेस) है । नथिंगनेस का आशय यह नहीं है कि वह है ही नहीं । उसका

अस्तित्व कालिक है । वह क्या है यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसे जो कुछ भी कहा जाए उसका पूर्ण निषेध संभव है । उसका अतीत बींइंग इन इटसेल्फ है लेकिन वास्तव में वह बीइंग फार इटसेल्फ' है । इसलिए वह अतीत नहीं है । वह भविष्य में विस्तार की चिन्ता से युक्त है। भविष्य प्राप्त नहीं है। उसे अभी प्राप्त करना है इसलिए' मानव कुछ नहीं है। स्वतन्त्रता के संदर्भ में सार्त्र कहता है :-

'स्वतन्त्रता, जो वस्तुतत्व के निषेध की पहली शर्त है, मनुष्य के लक्षणों या सारतत्वों में से एक लक्षण या सारतत्व नहीं वरन् उसका स्वभाव है । मानव स्वातन्त्रय मनुष्य के सारतत्व का पूर्वगामी है, मानव स्वातन्त्रय ही मनुष्य को उसका सार प्रदान करता है वास्तव में मनुष्य और उसकी स्वतन्त्रता में कोई भेद नहीं किया जा सकता । दोनों एक ही बात है मनुष्य ही स्वतन्त्रता है ।,(५)

सार्त्र के अनुसार सत्ता को दो रूपों में प्राप्त किया जा सकता है -(१) बींइंग इन इटसेल्फ (इन सोई) (२) बींइंग फार इट सेल्फ (पोर सोई) । बींइंग इन इट सेल्फ वस्तु जगत है । बीइंग फॉर इटसेल्फ चेतना है । आत्मा और जगत दोनों चेतना के विषय है । सार्त्र चेतना के उस रूप का अध्ययन करते है । जिसमें कि वह वस्तुजगत में संलग्न और क्रियाशील है चेतना के दो स्तर है । प्रथम अवस्था में क्रियाशील चेतना का प्रवाह वस्तुओं की ओर होता है। द्वितीय स्तर की चेतना आत्मा युक्त है । किन्तु चेतना का यह रूप अनुभवातीत नहीं है । चेतना स्वनिर्मित सत्ता है । उसकी संरचना का मुख्य लक्षण अतिक्रमणता (ट्रांसिन्डेन्स) है । चेतना विषयापेक्षी है, वह वस्तु को अभिव्यक्ति के रूप में ही स्थित हो सकती है । वह निरन्तर एक प्रश्न चिन्ह है जो अपने से परे सत्ता को इंगित करते हुए स्थित रहती है । चेतना या मानवीय वास्तविकता अनन्त संभावना से युक्त है । उसकी उत्पत्ति अभाव, निषेध या संभावना के रूप में होती है । चेतना जो है मात्र वही नहीं है । अलगाव चेतना का संरचनात्मक लक्षण है क्योंकि यह अपने साथ एकाकार नहीं होती । यह वस्तुओं के साथ, स्वयं अपने साथ अलगाव उत्पन्न करने वाली सत्ता है

आत्मा चेतना है और अनुचिन्तित चेतना पर किए गये अनुचिन्तन का परिणाम आत्म है । चेतना की यह आत्मचेतना उसके अस्तित्व की आवश्यक शर्त नहीं है । अनुचिन्तन से प्राप्त चेतना मूल चेतना नहीं है बल्कि चेतना को विषय रूप में ग्रहण करने वाली आत्मा है। चेतना को स्वचेतना होती है लेकिन इसका आशय ज्ञान का ज्ञान नहीं है क्योंकि ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत रहता है जब कि मूल चेतना में कोई द्वैत नहीं रहता । चेतना अपनी चेतना के लिए अनुचिन्तन पर आधारित नहीं है लेकिन अनुचिन्तन को चेतना की अपेक्षा है । मूलचेतना निरूपाधिक है । चेतना और उसकी चेतना में कोई भेद नहीं है । प्रत्यक्ष की क्रिया प्रत्यक्ष के विषय के साथ प्रत्यक्ष करने वाली चेतना का भी निर्देश करती है।
सार्त्र के अनुसार - जब मैं अपने सम्मुख विद्यमान पुस्तक को देखता हूँ तो मुझे पुस्तक की भी चेतना होती है । और मुझे पुस्तक की चेतना है यह चेतना भी होती है । जब मैं अपनी इस चेतना पर विचार करता हूँ तो सवर्था एक नयी चेतना का आर्विभाव होता है । जिससे मैं अपनी चेतना को अपने अनुचिन्तन का विषय बनाता हूँ । इससे और अनुचिन्तन पूर्व चेतना में कोई द्वैत नही होता । वही चेतना जब अपनी क्रियाओं पर विचार करती है तब देकार्त की सन्देह करने वाली आत्मा का अर्विभाव होता है इसीलिए देकार्त का सूत्र- 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ' न होकर मैं हूँ' इसलिए मैं सोचता हूँ' होना चाहिए ।

चेतना को वस्तुओं के समान निर्धारित और परिभाषित नहीं किया जा सकता । क्योंकि वह अपरिभाष्य है । चेतना का यह अपरिभाष्य स्वरूप ही अवस्तुत्व कहलाता है । अवस्तुत्व के आधार पर वह चेतन और अचेतन सत्ता के सम्बन्ध की व्याख्या करते हैं । चेतना अवस्तु होने के कारण वस्तु जगत की विविधता को अर्थ प्रदान करती है । वस्तु जगत आत्मकेन्द्रित अभिन्न अर्थहीन सत्ता है जो अपने से किसी का विरोध देखने में सक्षम नहीं है, भेद और विरोध चेतना की क्रिया है क्योकि चेतना अवस्तु है ठोस नहीं है । सार्त्र के अनुसार निषेधात्मक निर्णय निषेध , अवस्तुता या अभाव को उत्पन्न नहीं करते बल्कि स्वयं अपनी सत्ता के लिए अभाव या अवस्तुता पर निर्भर करते है (७)

अवस्तुता में निषेध से सम्बन्धित तीन प्रकार के विचार स्पष्ट होते हैं - अभाव की चेतना , निषेधता, शून्यता । मनुष्य चेतन अस्तित्व है । आत्म अस्तित्व की चेतना के साथ वह है । उसे यह भी चेतना होती है कि वह अन्य तत्वों से भिन्न है । चेतना अनिवार्यतः किसी कमी की चेतना है इसलिए वे चेतना को ही कमी कहते है । चेतना स्वयं को अपने विषयों से पृथक कर लेती है । चेतना और उसके विषय दोनों चेतना में है, उनमें कोई भेद नहीं है । चेतना में जो कमी है वही चेतना और विषय का अन्तर है । यह अन्तर विषय और विषय के भेद से पृथक है क्योंकि चेतना और उसके विषय का भेद स्वयं चेतना द्वारा चेतना में ही निर्धारित है । इसीलिए चेतना कुछ नहीं है निषेधता है निषेधता हाँ या नहीं करने की क्षमता है । मानव अस्तित्व की चेतना पूर्णतः आत्म अस्तित्व की संभावनाओं से युक्त आत्मा को अनुभूत करना चाहती है । जो असंभव है क्योंकि पूर्ण संभावनाओं के साथ केवल वस्तुएँ व्यक्त होती है । इसी लिए सार्त्र मनुष्य को 'यूसलेस पैशन' कहते है । क्योंकि जो वह नहीं हो सकता (पूर्व संभावनाओं के साथ वस्तुओं के समान) वही होना चाहता है । यही उसका स्वरूप है इसी रूप में वह कमी या लैक या अवस्तुता कहा गया । अवस्तुता निर्णय का गुण नहीं है वह हमारे अनुभव का विषय है । अवस्तुता चेतना की निषेध क्रिया का परिणाम है । निषेध की यह क्षमता ही मनुष्य को स्वतन्त्र बनाती है ।

अवस्तुता अनुभव का विषय है। क्योंकि हमें भाव के साथ अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है । अपने इसी विचार को स्पष्ट करते हुए सार्त्र उदाहरण देते है :-

मैं काफी हाउस में अपने मित्र पियरे की तलाश में जाता हूँ किन्तु वह वहाँ उपस्थित नहीं होता । ऐसी दशा में सारा काफी हाउस निषेध की पृष्ठभूमि बन जाता है । मुझे पियरे की तलाश है किन्तु काफी हाउस और मेरी निगाहों के बीच से वह शक्ल निरन्तर फिसलती जा रही है । वह अवस्तु के रूप में मेरे समक्ष अपने को प्रदर्शित कर रही है ।और उसका अवस्तुत्व मेरे इस निर्णय का आधार बनता है कि पियरे यहाँ नहीं

है । मैं पियरे के वहाँ होने की आशा कर रहा था और मेरी यह आशा काफी हाउस के सन्दर्भ में पियरे की अनुपस्थिति (अभाव) को एक वास्तविक घटना के रूप में प्रस्तुत कर रही है । यह एक तथ्य है कि हमने काफी हाउस में पियरे की अनुपस्थिति प्राप्त कर ली है । यह अनुपस्थिति पियरे और उस वातावरण के बीच संश्लेषणात्मक सम्बन्ध का कार्य कर रही है । अनुपस्थित पियरे बार-बार काफी हाउस के साथ है । इसके विपरीत यदि यह कहा जाए कि कलकत्ता काफी हाउस में नहीं है तो यह निषेध का अमूर्त प्रयोग होगा । इस वाक्य में 'नहीं है' मात्र वैचारिक कोटि है जिसका काफी हाउस के परिप्रेक्ष्य में कोई अर्थ नहीं है क्योंकि कलकत्ता के काफी हाउस में होने की मैने आशा ही नहीं की थी ।(८)

इस प्रकार सार्त्र इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि निषेध सत्ता की अस्वीकृति है। इसके द्वारा सत्ता की स्थापना होती है और फिर उसे अवस्तुत्व के क्षेत्र में फेंक दिया जाता है । निषेध इस भूमिका को वहन करता है इसलिए वह मात्र विचार की कोटि नहीं है निषेध का अर्थ है अस्तित्व का अलगाव जो वैचारिक कोटि पर नहीं उत्पन्न हो सकता निषेध के प्रश्न के साथ हम चेतना की सीमा में प्रवेश करते है । निषेध चेतना का गुण है लेकिन चेतना स्वयं को भी निषेध की चेतना के रूप में ही उत्पन्न करती है । 'न' कहने का यह आवश्यक शर्त है कि अवस्तुत्व हममे, हमसे बाहर, सर्वत्र हमेशा उपस्थित हो । अवस्तुत्व अपना निषेध नहीं कर सकती क्योंकि वह निर्मित होती है । चेतना ही स्वयं को अवस्तुत्व के रूप मे स्थापित करती है ।

सार्त्र का अवस्तुत्व का सिद्धान्त मानव स्वतन्त्रता का सिद्धान्त है । चेतना या मनुष्य कोई वस्तु नहीं है यदि वह वस्तु होता तो प्राकृतिक वस्तुओं और घटनाओं की तरह नियन्त्रित होता । वह कारणता की श्रृंखला से भी मुक्त है तथा असीम संभावनाओं को कल्पित करने में सक्षम है ।

मानव स्वातन्त्रय की विस्तृत व्याख्या सार्त्र दुश्चिन्ता (एन्गविश)के विश्लेषण से करते है । दुश्चिन्ता की अवस्था में मनुष्य को अपनी स्वतन्त्रता की स्पष्ट चेतना होता है

जिसमें उसे उत्तरदायित्व का वोध होता है । उत्तरदायित्व का वोध चिन्ता उत्पन्न करता है । यह विचार कि मनुष्य अपने व्यवहार और अपने मूल्य के लिए स्वयं उत्तरदाया है उसके मन में चिन्ता उत्पन्न करती है । यही नहीं, वह अपने निश्चय और चयन में परिवर्तन भी कर सकता है अर्थात वर्तमान के निर्णय भविष्य को अनिवार्य नहीं वनाते क्योंकि उन निर्णयों में परिवर्तन की पूरो संभावना है । उदाहरण के लिए हम वर्तमान में कल सवेरे जागने का निर्णय कर के सोते है लेकिन इस बात की कोई अनिवार्यता नहीं है कि हम सवेरे को ठंड में जाग ही जाएगें । अतः ये संभावनाएँ चिन्ता उत्पन्न करती है । भय और चिन्ता परस्पर भिन्न है । भय में किसी निश्चित वस्तु या घटना से भय लगता है लेकिन चिन्ता का कारण कोई वस्तु नहीं होती यह अवस्तु के समक्ष चिन्ता होती है । अवस्तु के समक्ष चिन्ता साधारण अनुभव का विषय नहीं है यह अनूठे क्षणों का अनुभव है । इस प्रकार की अनुभूति जिसमें अवस्तुत्व के समक्ष चिन्ता होती है, चेतना का संरचनात्मक लक्षण है । मनुष्य की स्वतन्त्रता मनुष्य को उसकी योजनाओं के निमार्ण में नितान्त एकाकी सिद्ध करती है ।

मनुष्य सामान्यतः चिन्ता से उत्पन्न मानसिक क्लेश से मुक्त होने के लिए वह अपने निर्णयों , कार्यो और चयन के लिए वहाने खोज कर अपनी वास्तविकता से पलायन करता है ।इसी प्रवृत्ति का परिचायक मनुष्य का ईश्वर में विश्वास है । अपनी स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व दोनों को सीमित करने वाले कारण के रूप में वह ईश्वर को प्राप्त करता है । जबकि ' मनुष्य स्वतन्त्र होकर अपने माध्यम से' अवस्तुत्व' का अविर्भाव कर सकता है । स्वतन्त्रता मनुष्य का पयार्य है । मनुष्य पूर्णतः तथा नित्य स्वतन्त्र है । मनुष्य या चेतना अवस्तुत्व है । सत्ता का अभाव है , सत्ता में छिद्र है ।

सार्त्र मानव स्वतन्त्रता सम्वन्धी सिद्धान्त से यह स्पष्ट करता है कि मनुष्य का कोई स्वरूप या सारतत्व नहीं है, वह अपना निर्माता स्वयं है वह अपने मूल्यों की रचना स्वयं करता है । मानव चुनाव का पूर्ववर्ती होना साथ ही उसके चयन के तार्किक औचित्य को प्रमाणित नहीं किया जा सकता । इसीलिए मानव का चयन एक अर्थ में एवसर्ड या

असंगत है । मनुष्य की स्वतन्त्रता न तो कोई सामान्य गुण है न ही वह किसी के द्वारा प्रदान की गई है ।उसका आर्विभाव चुनाव के समय होता है । चुनाव के पहले वह नहीं होती ।

सार्त्र का मानव स्वतन्त्रता का सिद्धान्त उसका मानव चेतना सम्वन्धी विचारधारा से तार्किक रूप में उत्पन्न होता है । चेतना अवस्तुत्व है । उसमें यह क्षमता है कि वह सत्ता का निषेध कर सके । चेतना जगत से सम्वन्ध विच्छेद कर उससे दूर रहकर उस पर विचार एवं अनुचिन्तन कर सकती है । इस प्रकार चेतना सत्ता को अर्थयुक्त बनाती है। चेतना सदैव किसी की चेतना होता है । इस 'किसी के' अभाव में वह अवस्तुत्व होजाती है। चेतना का यही अवस्तुत्व उसका स्वतन्त्रता है । चेतना के अवस्तुत्व का दूसरा पहलू उसका आत्मा से सम्बन्ध है । चेतना पूर्णतः स्वच्छंद , उन्मुक्त और अनिर्धारित होती है ।

सार्त्र कहता है - मनुष्य की स्वतन्त्रता का यह वोध प्रारम्भ में अत्यन्त भयावह होता है । मनुष्य इस अनुभूति को स्वीकार नहीं कर पाता कि उसका कोई अतीत और भविष्य नहीं है, उसकी आत्मा नहीं है ,उसका जीवन केवल उसकी योजनाएँ और चुनाव है । अपनी योजनाओं और चयन के लिए वह स्वयं उत्तरदायी है । उत्तरदायित्व का भार वहन न कर सकने की दशा में ही वह विश्वास की शरण में जाता है और स्वीकार कर लेता है कि जगत की व्यवस्था इस भाँति निश्चित है कि उसके भीतर उसके सभी क्रिया कलाप चुनाव और निर्णय भी निश्चित है और इस प्रकार की व्यवस्था के लिए ईश्वर, प्रकृति या समाज उत्तरदायी है । उसका इस प्रकार का विश्वास दुरास्था है । दुरास्था के सहारे मुनष्य स्वतन्त्रता तथा उत्तरदायित्व से उत्पन्न चिन्ता और चिन्ता से उत्पन्न क्लेश या निराशा से मुक्त होना चाहता है । इसके लिए वह तरह -तरह के वहानों का तलाश करता है । बहाने की यह तलाश एक प्रकार की रक्षा प्रविधि (डिफेन्स मेकेनिज्म) है । इसी को वह 'दुरास्था' या बैड फेथ कहता है ।

दुरास्था की व्याख्या करते हुए सार्त्र कहते है- मुनष्य अपना वास्तविक स्थिति को स्वीकार नहीं करना चाहता । वह अपना स्वतन्त्रता व दायित्वों से पलायन के लिए कारणों की तलाश करता है क्योंकि इनका स्वीकृति उसके लिए सुखद् व अनुकूल नहीं है मनुष्य अपनी वास्तविक स्थिति को नजरअन्दाज कर जान-बूझ कर उसके वास्तविक अर्थ को नहीं ग्रहण करता, उसे अन्य अर्थ देता है और ऐसे कारण प्रस्तुत करता है कि मनुष्य का वह स्थिति किसी अन्य के द्वारा उत्पन्न स्थिति हो । ऐसा करना आत्म प्रवंचना है आत्म प्रवेचना झूठ बोलने की तरह है जैसे झूठ जान वूझ कर वोला जाता है । उसी प्रकार दुरास्था में भी मनुष्य जानबूझकर अपना स्थिति का अन्य व्याख्या करता है । सार्त्र ने अपने उपन्यासों तथा नाटकों में कई पात्रों को दुरास्था का शिकार हुए व्यक्त किया है । जो अपनी मूल स्वतन्त्रता को स्वीकार करने से कतराते है । दुरास्था में मनुष्य केवल अपनी स्वतन्त्रता को ही नहीं अस्वीकार करता वल्कि अपना किसी भी वास्तविकता - कायरता कामवासना नृशस व्यवहार इत्यादि को अस्वीकार करता है । सार्त्र के अनुसार दुरास्था में मनुष्य वास्तविकता को स्वयं अपने से ही छिपाता है । दुरास्था का स्थिति में व्यक्ति अपनी वास्तविकता को स्वीकार न कर उसे एक अन्य रूप में जो उसके लिए हो - प्रस्तुत करने का प्रयास करता है । दुरास्था को स्पष्ट करने के लिए सार्त्र अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

सार्त्र एक महिला का उदाहरण लेते है जो अपने साथी के साथ प्रथम बार घूमने जाती है । यह महिला भली भाँति जानती है कि उसका साथी उसमें इतनी रूचि क्यों ले रहा है । वह उसकी काम भावना को अच्छी तरह समझती है और यह भी जानती है कि अन्त में उसे उस व्यक्ति की काम भावना को दृष्टि में रखते हुए कोई न कोई निर्णय लेना पड़ेगा फिर भी वह उसकी बातों का उसकी भाव-भगिमाओं का सतही अर्थ लगाती है । यदि यह व्यक्ति कहता है ' आप अत्यन्त आकर्षक लग रही है' तो वह उस वाक्य का केवल प्रशंसात्मक अर्थ लगाती है , यह नहीं स्वीकार करती कि यह कहकर वह व्यक्ति उसके शरीर के प्रति अपनी इच्छा प्रकट कर रहा है । वह समझती है कि व्यक्ति

सार्त्र के अनुसार मनुष्य का धार्मिक जीवन भी दुरास्था पर आधारित है । जो आत्म पलायन है । ईश्वर का विचार मनुष्य की अतार्किक इच्छा है । ईश्वर के द्वारा वह वस्तुओं का स्थायित्व एवं असंदिग्धता और मनुष्य की स्वतन्त्रता दोनों को एक साथ प्राप्त करना चाहता है । वह बिना अपने उत्तरदायित्व का वहन किये स्वयं में सत्ता से श्रेष्ठ सत्ता भी प्राप्त करना चाहता है वह चेतन वस्तु होना चाहता है । लेकिन यह असंगत कल्पना है जो मनुष्य की वास्तविकता के अनुरूप नहीं है । इस प्रकार की इच्छा समस्त मानवीय संभावनाओं को समाप्त कर देती है । सार्त्र के अनुसार मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व को तभी स्वीकार कर सकता है जब वह ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करता है । वह अपनी स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व के भार से जब बचना चाहता है तब वह ईश्वर को स्वीकार कर लेता है । अतः ईश्वर विचार भी दुरास्था के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।

इस प्रकार सार्त्र स्वतन्त्रता को मानव का पयार्य स्वीकार करते है और इस स्वतन्त्रता से पलायन को ही समस्त धार्मिक प्रत्ययों की उत्पत्ति का आधार कहते है फिर भी वह स्वतन्त्रता को बाधाहीन नहीं मानते । क्योंकि निर्बाध स्वतन्त्रता निरर्थक प्रत्यय है । मनुष्य की स्वतन्त्रता को ' तथ्यता' बाधित करती है । तथ्यता के अन्तर्गत पाँच प्रकार के तथ्य है ।(१) मेरा स्थान (२) मेरा अतीत (३) मेरा परिवेश (४) मेरे सहयोगी (५) मेरी मृत्यु । सार्त्र कहते है- स्वतन्त्रता का अर्थ चुनाव और संकल्प की स्वतन्त्रता है । स्वतन्त्रता के बाधक तत्व मनुष्य की स्वतन्त्रता के प्रमाण हैं । क्योंकि मनुष्य की स्वतन्त्रता ही उसकी स्वतन्त्रता की सीमाओं और बाधाओं को अर्थ देती है । बाधा इसलिए बाधा होती क्योंकि हमने ऐसा कुछ करने का निश्चय किया है जिसे हम नहीं कर सकते । बाधा की सार्थकता चुनाव के संदर्भ में है वह चुनाव के पहले नहीं होती बल्कि उसका प्रादुर्भाव चुनाव के पश्चात होता है । उदाहरण के लिए हमारे मार्ग का पर्वत हमारे लिए एक बाधा है । यह बाधा ' मानवीय स्थिति का सूचक है । हम सदा किसी न किसी स्थिति में होते है और हमारा चुनाव उस स्थिति के द्वारा परिसीमित होता है लेकिन उस

स्थिति के भीतर हम अपने चुनाव में स्वतन्त्र होते है । पर्वत के रूप में वाधा हमारे लिए यह निर्णय लेने का अवसर उपस्थित करता है कि हम आगे वढ़ने से रूक जायेगें अथवा नए मार्गो को खोज करेगें । इस प्रकार की स्वतन्त्रता ही वाधाओं का भी चुनाव करता है ।

मनुष्य की स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं है कि वह अपना स्थूल भौतिक परिस्थिति को परिवर्तित कर सकता है या अपनी सभा वांछित इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है । क्योकि चुनाव को स्वतन्त्रता उपलव्धि की स्वतन्त्रता नहीं है । उपलव्धि भौतिक परिस्थिति द्वारा परिसीमित होती है । स्वतन्त्रता का महत्वपूर्ण परिणाम पूर्ण उत्तरदायित्व है । मेरा चुनाव, केवल मेरा अपना है किसी अन्य द्वारा नियन्त्रित नहीं । किन्तु मेरे चुनाव का सम्वन्ध केवल मुझसे नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानवता से हैं । अपने चुनावों द्वारा मैं मूल्यों की रचना करता हूँ जिसके लिए उत्तरदायित्व केवल मेरा है । यहां उत्तरदायित्व का भावना मेरे भीतर परिताप उत्पन्न करती है ।

सार्त्र के अनुसार नैतिक मूल्यों के प्रागनुभविक स्त्रोत- ईश्वर को स्वीकार करना मुनष्य की क्षमता , मौलिकता एवं सर्जनात्मकता पर अविश्वास करना है । इस प्रकार की मान्यता को स्वीकार करने का यह आशय है कि मनुष्य की नैतिकता या तो पूर्व निर्मित स्वभाव के कारण है या फिर अलौकिक शक्ति के शाश्वत नैतिक आदेशों के कारण । लेकिन यह दोनों ही मान्यतायें सार्त्र के विचारों के प्रतिकूल है अतः वे नैतिकता के स्त्रोत के रूप में भी ईश्वर को स्वीकार नहीं करते है उनके विचारों में नैतिकता को मनुष्य स्वयं निर्मित करता है जो स्थायी नहीं है । लेकिन चयन उसका स्वयं का होने के वाद भी मनुष्य समस्त मानवता के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता है क्योकि चयन के साथ अनिवार्य रूप से उत्तरदायित्व संलग्न है । अतः सार्त्र मानव को किसी भी समस्या का कोई भी अनुभवातीत समाधान नहीं स्वीकार करते है ।

सार्त्र प्रदर्शित करते है कि ईश्वर विचार दुरास्था पर आधारित है । साथ ही वह यह भी प्रदर्शित करते है कि ईश्वर विचार आत्म-विरोध से युक्त है । ईश्वर का विचार स्वनिमित्त सत्ता और स्वयं में सत्ता के पूर्ण सामजस्य का प्रत्यय है जो तार्किक रूप से संभव नहीं है । चेतना अपने पारदर्शी स्वरूप को बनाये रखते हुए भी वस्तु के स्थायित्व को प्राप्त करना चाहती है । किन्तु ऐसा संभव नहीं है । पूर्ण सन्तुष्ट चेतना एक असंभावना है। चेतना एक योजना है उसका स्वयंभू का स्तर प्राप्त करने का प्रयास सर्वथा निष्फल है क्योकि स्वयंभू की धारणा अतार्किक है ।(१०)

सृष्टिकर्ता ईश्वर के स्वरूप को स्वीकार करने वाला विचार भी सार्त्र के अनुसार व्याघात से युक्त है क्योंकि इस सम्वन्ध में यह स्वीकार किया जाता है कि सृष्टि ईश्वर में समाहित है और ईश्वर सृष्टि से परे है जवकि सार्त्र कहते है सृष्टि एक समष्टि है उसका न तो कोई बाह्य है और न कोई अभ्यन्तर । इसलिए ईश्वर का सृष्टि के साथ कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता । यदि ईश्वर निरपेक्ष विषयी है तव वह मानवीय अभियानों से मुक्त है और यदि वह विषय है तो सृष्टि से परे नहीं है ।

इस प्रकार सार्त्र कहते है कि अपने एकाकीपन से भयभीत और उत्तरदायित्व के भार को सहने में अक्षम व्यक्ति ईश्वर का सहारा लेता है । दुरास्था का शिकार मनुष्य मानव सम्बन्धों में ईश्वर के हस्तक्षेप को इसीलिए स्वीकार करता है जिससे वह अपने उत्तरदायित्व से बच सके ।

सार्त्र के नाटक ' दि फलाइज' का नायक ईश्वर की ऐसी कल्पना का विरोध करके मूलभूत मानव स्वतन्त्रता की घोषणा करता है ।

ईश्वर के अस्तित्व का समर्थक ज्यूस जव ईश्वरहीन जगत का भयावह रूप प्रस्तुत करता है तब ओरेस्टेट उत्तर देता है कि ईश्वर पत्थरों, नदियों और पर्वतों का स्वामी हो सकता है किन्तु मनुष्य का नहीं (११) सार्त्र ईश्वर के स्थान पर मनुष्य की स्वतन्त्रता की स्थापना करता है । जो परोक्ष रूप से पारम्परिक ईश्वरीय स्वरूप का खंडन है।

मनुष्य और उसकी समस्याओं का अध्ययन सार्त्र के दर्शन की प्रमुखता है । इसी अर्थ में वह मानववादी है । मनुष्य को स्वतन्त्रता और चयन की शक्ति का अनुभव करा कर वह उसे यथोचित गरिमा प्रदान करता है । लेकिन उसकी स्वतन्त्रता को उत्तरदायित्व के कारण दुखात्मक कहना उचित नहीं है । यदि मनुष्य की स्वतन्त्रता को मुक्ति की अवधारणा से युक्त कर दिया जाय तो उसके दर्शन में तात्विक गहनता का समावेश संभव है। इस अभाव का कारण कदाचित पाश्चात्य संस्कृति में आध्यात्मिकता का अभाव है जो भारतीय परिवेश में सहज ही प्राप्त हो जाती है।

सन्दर्भ

(१) एक्सिस्टेन्शियलिज्म : ट्रान्स० वाय.वी. फ्रेचमैन पृ० ६०

(२) सार्त्र जे०पी०, एक्सिस्टेन्शियलिज्म एण्ड ह्यूमन इमोशन्स दि विजडम लाइब्रेरी न्यूयार्क १९५७ पृ० १६.

(३) एक्सिस्टेन्शियलिज्म पृ० १८

(४) कैथलिन रेन- ऐक्सिस्टेन्शियलिज्म पृ० सं० ९२-९३

(५) सार्त्र जे०पी० बीइंग एण्ड नथिंगनेस पृ० २५ ट्र० एच०वार्नेस न्यूयार्क १९५६

(६) सार्त्र जे०पी० बीइंग एण्ड नथिंगनेस ट्र. एच वार्नेस न्ययार्क १९५६

(७) वहीं पृ० ११

(८) वहीं पृ० ६ - ११

(९) वही पृ० ६३

(१०) ब्लैकहम, एच.जे., सिक्स एक्सिस्टेन्शियल थिंकर्स, रूटेज एण्ड केगन पॉल लि० १९५३

(११) बार्नेस हेजल ई. दि लिट्रेचर ऑफ पॉसिबिलिटी पृ० ९३.

पंचम अध्याय

ईश्वर संप्रत्यय की अर्वाचीन समीक्षा

ईश्वर संप्रत्यय की अर्वाचीन समीक्षा

ईश्वर के विषय में मुख्यतः दो अवधारणाएँ स्वीकार की जाती है - (१) मानवत्वारोपी अवधारणा (२) अमानवत्वारोपी अवधारणा । मानवत्वारोपी अवधारणा के अनुसार ईश्वर दैवी शक्तियों से युक्त महामानव है जिसमें सभी श्रेष्ठ मानवीय गुणों को असीमित मात्रा में आरोपित किया जाता है । इस विचार को स्वीकार करने वाले मानते है - ईश्वर असीमित शक्ति, ज्ञान, शुभत्व, प्रेम आदि श्रेष्ठ गुणों से परिपूर्ण एक महापुरूष है जो इस जगत का रचयिता, नियन्ता तथा पालनकर्ता है जो अपने भक्तों की प्रार्थना सुनकर उनकी सहायता करता है और सृष्टि के सभी जीवों से उसी प्रकार प्रेम करता है जैसे पिता अपनी सन्तान से प्यार करता है ।

इस विचार के अनुरूप ईश्वर साकार और व्यक्तित्वसम्पन्न है अतः ईश्वर को अनुभवातीत, असीम, शाश्वत और देशकाल से परे नही माना जा सकता । अतः कुछ विचारक ईश्वर की अमानवत्वारोपी अवधारणा को स्वीकार करते हैं और उसे अनुभवातीत , असीम , शाश्वत देशकाल से परे मानते है । साथ ही ईश्वर में मानवत्वारोपी या साकार ईश्वर विचार की सभी विशेषताओं को भी स्वीकार करते है जिससे तार्किक दृष्टि से असंगति उत्पन्न होती है । इसीलिए समकालीन अनुभववादी दार्शनिकों ने ईश्वर से सम्बन्धित धार्मिक कथनों के विषय में कहा - यदि ईश्वर की अमानवत्वारोपी अवधारणा को स्वीकार किया जाए तो हम ईश्वर के विषय में सार्थकतापूर्वक कुछ भी नहीं कह सकते । क्योंकि ईश्वर देशकाल में विद्यमान कोई व्यक्ति या प्राणी नहीं है जिस पर विभिन्न ईश्वरीय गुणों को आरोपित किया जा सके ।

अमानवत्वारोपी अवधारणा को स्वीकार करने वाले विचारक का 'ईश्वर का अस्तित्व है ' इस कथन से क्या अभिप्राय है ? यह स्पष्ट नहीं हैं क्योंकि ऐसे विचारक ईश्वर को भौतिक वस्तु , शरीरवान प्राणी या मानसिक विचार नहीं मानते है । अतः समकालीन दर्शन में सबसे पहले इन धार्मिक कथनों के सन्दर्भ में प्रश्न चिन्ह लगाया गया । प्रत्युत्तर में धार्मिक कथनों की सार्थकता को स्थापित करने के लिए मैमोनाइड्स, एक्विनस, मैस्कल, क्रौम्बी

आदि ईश्वरवादी दार्शनिकों ने साम्यानुमान सिद्धान्त, रैम्से ने प्रतिरूप सिद्धान्त , पॉल तिलिख ने प्रतीक सिद्धान्त का सहारा लिया । लुडविग विट्गिन्स्टाइन और जे०डी० फिलिप्स ने धार्मिक भाषा को संवेगात्मकता और तथ्यात्मकता से भिन्न माना और कहा धार्मिक भाषा की सार्थकता का निर्णय धार्मिक जीवन पद्धति में उसके उपयोग के आधार पर किया जाना चाहिए । क्योंकि भाषा - विश्लेषण के द्वारा स्थापित निर्णय अन्तिम नहीं है । धार्मिक कथनों की सार्थकता को स्थापित करने के लिए ईश्वरवादी विचारको ने श्रुति, आस्था और धार्मिक अनुभव का भी समर्थन किया ।

धार्मिक कथनों के अर्थ और स्वरूप को स्पष्ट करने वाले सभी सिद्धान्तों को दो वर्ग में विभाजित किया गया :-

(१) संज्ञानात्मक सिद्धान्त
(२) असंज्ञानात्मक सिद्धान्त

हिक्, क्रौम्बी, रैम्से , मिचल आदि धार्मिक कथनों को संज्ञानात्मक (तथ्यात्मक) मानते है जिनसे ईश्वर , आत्मा आदि के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है । यह विचारक मानते है कि धार्मिक कथन तथ्यात्मक रूप में सार्थक है इसीलिए इनके विषय में विवाद और मतभेद संभव है । क्योंकि निरर्थक विषयों में विवाद की संभावना नहीं रहती है ।

एयर, फल्यू, हेयर, हैप्बर्न , मार्टिन, नील्सन, माइल्स आदि दार्शनिक धार्मिक कथनों को असंज्ञानात्मक मानते है जिनसे किसी प्रकार के तथ्यों का बोध नहीं होता । इन्हें सत्य या असत्य नहीं प्रमाणित किया जा सकता अतः इनके विषय में सार्थक विवाद असंभव है । तथ्यात्मक रूप से निरर्थक मानते हुए भी यह विचारक संवेगात्मक रूप में धार्मिक कथनों के महत्व को स्वीकार करते है ।

भाषा की सार्थकता का निश्चय कर उसके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए एयर 'सत्यापन-सिद्धान्त' की स्थापना करते है । वे सभी प्रतिज्ञाप्तियों को दो वर्गो में विभाजित करते है :-

(१) विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ
(२) संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ

विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों से किसी प्रकार का तथ्यात्मक ज्ञान नहीं होता है इसलिए इन्हें अनुभव के आधार पर मिथ्या नहीं प्रमाणित किया जा सकता । इन प्रतिज्ञप्तियों में परिभाषित शब्दों के अर्थो की पुनरावृत्ति होती है । इन्हें पुनरूक्तियाँ भी कहा जाता है क्योंकि यह हमेशा सत्य और पूर्ण निश्चित होती है ।

इसके विपरीत संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ जगत के विषय में तथ्यात्मक ज्ञान प्राप्त कराती हैं अतः इन्हें अनुभव के आधार पर सत्य या मिथ्या प्रमाणित किया जा सकता है ।

एयर के अनुसार जो कथन न विश्लेषणात्मक है और न संश्लेषणात्मक वह निरर्थक है । धार्मिक कथनों के संदर्भ में एयर कहता है - 'हम तत्वमीमांसीय वाक्य की परिभाषा करते हुए यह कह सकते है कि यह ऐसा वाक्य है जो वास्तविक प्रतिज्ञप्ति को अभिव्यक्त करने का दावा करता है । लेकिन वास्तव में जो न पुनरूक्ति को अभिव्यक्त करता है और न अनुभवात्मक प्राक्कल्पना को । क्योंकि केवल पुनरूक्तियाँ (विश्लेषणात्मक) तथा अनुभवात्मक प्राक्कल्पनाएँ (संश्लेषणात्मक) ही सार्थक प्रतिज्ञाप्तियाँ हो सकती है अतः ऐसी स्थिति में हमारे लिए यह निष्कर्ष निकालना उचित ही है कि सभी तत्वमीमांसीय कथन निरर्थक है । (१)

तत्वमीमांसीय कथन से एयर का अभिप्राय उन कथनों से है जो ईश्वर, आत्मा, निरपेक्ष तत्व आदि अतीन्द्रिय सत्ताओं के स्वरूप या गुणों को तथ्यात्मक रूप में प्रकट करने का दावा

करते हैं । ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, दयालु और जगत का रचयिता है यह वाक्य तत्वमीमांसीय कथन के स्पष्ट उदाहरण है । इन कथनों को एयर तथ्यात्मक न मानकर अंधविश्वास कहते है । उनका कथन है – ' तथ्यबोधक प्रतीत होने वाला कोई शब्द हमारी भाषा में प्रचलित है तो यह आवश्यक नहीं है कि उसके द्वारा हमें किसी विशेष सत्ता का बोध हो ।

प्रश्न उठता है कि यह अंधविश्वास किस कारण होता है ? इसके उत्तर में एयर कहते हैं हमारी भाषा में प्रचलित कुछ शब्द हमारे मन में अतीन्द्रिय वस्तुओं के अस्तित्व का भ्रम उत्पन्न करते है । ईश्वर, आत्मा, आदि शब्दों के बार–बार प्रयोग से हम यह सोचते है कि इन शब्दों के अनुरूप सत्तायें है । और अनुभव में इनका ज्ञान न प्राप्त होने पर हम इन्हें अतीन्द्रिय मान लेते है । एयर कहता है :–

'जो कथन सम्पूर्ण इन्द्रिय अनुभव की सीमाओं से परे किसी सत्ता का वर्णन करता है उसका कोई तथ्यात्मक अर्थ नहीं हो सकता । इससे अनिवार्यतः यही निष्कर्ष निकलता है कि जिन लोगों ने ऐसी सत्ता का वर्णन करने का प्रयत्न किया है उन्होंने केवल निरर्थक बातों को प्रस्तुत करने के लिए ही यह सम्पूर्ण परिश्रम किया है ..... किसी संज्ञा का होना ही हमारे मन में यह भ्रम उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है कि इससे सम्बन्धित कोई वास्तविक या संभव वस्तु विद्यमान है परन्तु जब हम इस बात की जाँच करते है कि ईश्वर के गुण क्या है ? तभी हमें ज्ञात होता है कि इस अर्थ में ईश्वर किसी वास्तविक वस्तु का नाम नहीं है हम जिस बात को प्रमाणित करना चाहते है वह यह है कि धर्म सम्बन्धी कोई अनुभवतीत सत्य नहीं हो सकते । ऐसे सत्यों को अभिव्यक्त करने के लिए ईश्वरवादी जिन वाक्यों का प्रयोग करता है वे तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नहीं है ।(२)

एयर के इस विचार के विरोध में ईश्वरवादी कह सकते है ईश्वर एक रहस्य है जो मानवीय बुद्धि और अनुभव की सीमा से परे है । रहस्यवादी मानते है कि साक्षात्

अनुभव द्वारा ईश्वर का पूर्णतः सत्य और निश्चित ज्ञान प्राप्त होता है । ईश्वर के इस साक्षात् अनुभव की तुलना सामान्य अनुभव के साथ कदापि संभव नहीं है ।

रहस्यवादियों के इस दावे को एयर स्वतोव्याघाती कहते है । इस संदर्भ में उनका विचार इस प्रकार है :-

' हमें प्रायः यह बताया जाता है कि ईश्वर का स्वरूप एक रहस्य है जो मानवीय ज्ञान का विषय नहीं है । परन्तु यह कहना कि कोई वस्तु मानवीय ज्ञान का विषय नहीं है यह कहने के समान ही है कि वह अबोधगम्य है और जो अबोधगम्य है उसका सार्थकतापूर्वक वर्णन नहीं किया जा सकता ।.... यदि कोई रहस्यवादी यह स्वीकार करता है कि उसके ज्ञान का विषय ऐसा है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता तो उसे यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि जब वह इसका वर्णन करता है तब वह अनिवार्यतः निरर्थक बात करता है .... अनुभव द्वारा सत्यापनीय कथन प्रस्तुत करने के स्थान पर रहस्यवादी किसी प्रकार के बोधगम्य कथन प्रस्तुत करने में नितांत असमर्थ है और इसीलिए हम यह कहते है कि उसकी अन्तःप्रज्ञा ने उसे किन्ही तथ्यों का ज्ञान प्रदान नहीं किया है ।.... अपने अनुभव का वर्णन करके रहस्यवादी हमें किसी बाह्य जगत के विषय में कोई सूचना नहीं देता, वह हमें केवल अपनी मानसिक स्थिति के विषय में अप्रत्यक्ष जानकारी प्रदान करता है ।.... उसके लिए यह कहना व्यर्थ है कि उसने कुछ तथ्यों का ज्ञान प्रदान किया है किन्तु वह उन्हें अभिव्यक्त नहीं कर सकता । हम जानते है कि यदि वास्तव में उसने कोई ज्ञान प्राप्त किया होता तो वह उसे अभिव्यक्त करने में भी समर्थ होता ।'

एयर के उपरोक्त विचार के विपरीत रहस्यवादी विचारक यह कह सकते है कि उन्हें अपनी अन्तःप्रज्ञा से सत्य और निश्चित ज्ञान प्राप्त होता है जिनके पास इस विशेष अन्तःप्रज्ञा का अभाव है वही इसका विरोध करते हैं ।

एयर कहता है कि वे यह मानते है कि रहस्यवादी को कुछ ऐसा विशेष अनुभव प्राप्त हो सकता है जो सामान्य लोगों को नहीं होता लेकिन उनका यह अनुभव नितान्त व्यक्तिनिष्ठ है । अतः उसके अनुभव को ज्ञान नही कहा जा सकता क्योंकि ज्ञान कहने के लिए हमारे पास उस अनुभव को सत्य या मिथ्या प्रमाणित करने वाले वस्तुगत आधार होने चाहिए । लेकिन रहस्यवादी स्वयं अपने अनुभव को अवर्णनीय मानते हैं अतः रहस्यवादी अनुभव ज्ञान न होकर वैयक्तिक अनुभूति मात्र है जो तथ्यात्मक ज्ञान प्रदान करने में असमर्थ है ।

रहस्यवादी अनुभूति के अतिरिक्त एयर धार्मिक अनुभूति से सम्बन्धित तर्क का भी खण्डन करते है इस तर्क के अनुसार जिस प्रकार हम अपने इन्द्रिय अनुभव द्वारा किसी भौतिक वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान करते है उसी प्रकार धार्मिक व्यक्ति भी साक्षात् प्रत्यक्ष द्वारा ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करता है । इसलिए हमें आनुभविक प्रत्यक्ष के समान ही ईश्वरीय प्रत्यक्ष को भी पूर्णतः सत्य और सन्देहरहित मानना चाहिए ।

इस तर्क के प्रत्युत्तर में एयर कहता है :- लोगों को प्राप्त धार्मिक अनुभव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रोचक है । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि धार्मिक ज्ञान जैसी कोई वस्तु है । नैतिकता के उपदेश की भाँति ईश्वरवादी यह विश्वास कर सकता है कि उसके अनुभव संज्ञानात्मक अनुभव है किन्तु जब तक वह अपने ज्ञान को अनुभव द्वारा सत्यापनीय प्रतीको के माध्यम से व्यक्त नहीं करता तब तक हमें निश्चय पूर्वक यही समझना चाहिए कि वह स्वयं को धोखा दे रहा है (४)

ईश्वरवादी अपने मत के समर्थन में इन्द्रिय जन्य अनुभव की व्यक्तिनिष्ठता के उदाहरण देता है और कहता है जब इन प्रत्यक्षों के व्यक्तिनिष्ठ होने पर हम इसकी सत्यता को स्वीकार करते है तब धार्मिक अनुभव की व्यक्तिनिष्ठता के कारण उसकी सत्यता में सन्देह करना असंगत है । एयर इन दोनों प्रत्यक्षों की तुलना गलत मानते है क्योंकि समान

परिस्थितियों में सभी सामान्य व्यक्तियों का भौतिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष वैसा ही होता है लेकिन धार्मिक अनुभव की समानता का कोई निश्चित आधार प्राप्त नहीं होता । एयर कहते है सामान्य प्रत्यक्ष सिद्धान्तत. सत्यापनीय होने के कारण तथ्यात्मक है लेकिन धार्मिक अनुभव तथ्यात्मक नहीं है ।

एयर के इन विचारों का समर्थन एंटोनी फ्ल्यू, सी०बी०मार्टिन, काई नील्सन आदि अनेक समकालीन दार्शनिक करते है ।

एयर की सार्थकता की इस कसौटी की विभिन्न विचारकों ने आलोचना की और कहा - यह भाषा के प्रति बहुत ही संकीर्ण दृष्टिकोण रखती है । भाषा तथ्यों का वर्णन ही नहीं करती बल्कि संवेग, भावनाओं, आदेशों, उपदेशों , परामर्शो आदि को भी प्रकट करती है । अतः भाषा के प्रयोग की इस विविधता और प्रसंग आदि की उपेक्षा कर उसे अर्थपूर्ण और अर्थहीन इन दो कोटियों में रख देने का कोई औचित्य नहीं है । भाषा के यह विभिन्न प्रयोग न तो विश्लेषणात्मक है और न ही अनुभव के द्वारा इनके सत्य या असत्य होने का कोई अर्थ है फिर भी इन्हें अर्थहीन नहीं कहा जा सकता । इस संदर्भ में लेजरोवीत्ज कहते है - उपर्युक्त कसौटी के रूप में एयर जैसे तार्किक अनुभववादियों ने अर्थपूर्णता तथा अर्थहीनता का एक नवीन मनगढ़न्त अर्थ उपस्थित किया है जिसके आधार पर किसी भी वाक्य को निरर्थक सिद्ध करना इससे अधिक और कुछ सिद्ध करना नहीं है कि ये वाक्य अर्थपूर्णता की मनमानी कसौटी पर खरे नहीं उतरते ।(५) जे०ओ० विष्डम भी एयर के सिद्धान्त के सम्बन्ध में कहते है — 'इन्द्रियानुभूति के द्वारा सत्यापन किसी वाक्य की अर्थपूर्णता के लिए पर्याप्त शर्त हो सकती है परन्तु अनिवार्य नहीं ।(६)

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सत्यापन एक दृष्टिकोण है जो आनुभविक कथनों की सार्थकता के लिए समुचित हो सकता है लेकिन उसकों धार्मिक कथनों की सार्थकता निश्चित करने के लिए प्रयुक्त करना उचित नही है ।

फ्रेडरिक फेरे ने कहा एयर अपने सिद्धान्त को ''तथ्य'' शब्द के संकुचित अर्थ को ग्रहण कर अपूर्ण और एकांगी बना देते है । फेरे के शब्दों में -

'सत्यापन सम्बन्धी विश्लेषण की जिन सीमाओं को बहुत कम स्वीकार किया जाता है उनमें से एक का सम्बन्ध तथ्य की अवधारणा से है —— भाषा के सामान्य प्रयोगों का उल्लघंन न करते हुए हम अनुभवाश्रित तथ्यों के समान ही गणित सम्बन्धी तथ्यों तर्कशास्त्र के तथ्यों और नैतिक तथ्यों की भी बात कर सकते हैं परन्तु सत्यापन सम्बन्धी विश्लेषण तथ्य और तथ्यात्मक के अर्थ को केवल उन्हीं संदर्भो तक सीमित कर देता है जिनका सम्बन्ध हमारी अनुभवाश्रित शब्दावली से ही है —— हम यह अनुभव करते है कि तथ्य महत्वपूर्ण है और जिसका तथ्यात्मक महत्व नहीं है उसमें हमारी अधिक रूचि नहीं हो सकती । इस प्रकार यदि नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र के कथनों का तथ्यात्मक अर्थ नहीं है तो उन पर गंभीरता पूर्वक विचार करना आवश्यक नही समझा जाता है । जब तक यह प्रमाणित नहीं किया जाता कि अनुभवात्मक तथ्य ही एक मात्र तथ्य है तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि अनुभवात्मक तथ्यों का वर्णन न कर सकने के कारण धार्मिक कथन अपने आप में व्यर्थ, महत्वहीन या पूर्णतः निरर्थक है । (७)

ई० एल० मैस्कल, ब्रॉड ब्लेंशर्ड, डैविड एल्टन ट्रू ब्लड इत्यादि सत्यापन सिद्धान्त को निरर्थक कहते है क्योंकि सत्यापन सिद्धान्त न विश्लेषणात्मक है और इसका आनुभविक सत्यापन संभव नहीं है अतः संश्लेषणात्मक भी नहीं है ।

इस आक्षेप के उत्तर में स्पष्टीकरण करते हुए एयर कहता है - सत्यापनीयता का सिद्धान्त कोई वर्णनात्मक कथन नहीं है इसकी स्थिति प्रभावी परिभाषा की स्थिति है । मैं इसे अन्य परिभाषाओं के आधार पर प्रमाणित कर सकता हूँ .... यह परिभाषाएँ हमें बताती है कि विज्ञान तथा दैनिक जीवन में समझना, बोधगम्य, व्यक्त करना, जानना, विचार आदि का हम

क्या अर्थ समझते है । इस प्रकार एयर के अनुसार सत्यापन सिद्धान्त को सत्यापित करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह उन नियमों का ज्ञान कराता है जिसके अनुरूप होने पर तथ्यात्मक वाक्य सार्थक होता है ।

मैस्केल कहते है कि अर्थपूर्णता का साधारण अर्थ बोधगम्यता है । और किसी भी वाक्य का बोधगम्य होना उसके सत्यापन पर निर्भर नहीं है । इस आधार पर कहा जा सकता है कि धार्मिक कथनों में जो कहा जा रहा है यदि वह बोधगम्य है तो उसे अन्य मापदण्ड के अनुसार प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है । बल्कि आवश्यकता है उन कथनों से ज्ञात जीवन मूल्यों को आचरण में उतारने की ।

कुछ विचारक धार्मिक कथनों को विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक न होने पर भी उसकी अर्थवत्ता को सिद्ध करते है । इस सम्बन्ध में इन विचारकों का मत है कि धार्मिक कथन ' ईश्वर है ' का यह अर्थ नहीं है कि ईश्वर नामक कोई वस्तु या व्यक्ति है जो अस्तित्ववान है, बल्कि उसका अर्थ है 'पूर्णता प्राप्य है इसी प्रकार ईश्वर दयालु है इसका अर्थ है दूसरों पर दया करना हमारा धर्म है इस रूप में यह कहा जा सकता है कि धार्मिक कथन अक्षरशः अर्थपूर्ण नहीं है । एयर के अनुसार किसी भी कथन को अक्षरशः अर्थपूर्ण होने के लिए सत्यापन की कसौटी पर उतरना चाहिए अन्यथा इस शर्त की पूर्ति की कोई आवश्यकता नहीं है । एयर की भूल शायद यह है कि वे धार्मिक कथन को बार-बार निरर्थक कहते गये । जबकि उन्हें कहना चाहिए कि धार्मिक कथन अक्षरशः अर्थपूर्ण नहीं है सत्यापन सिद्धान्त के परीक्षण की कसौटी पर वाक्य खरे न उतरने पर भी अन्य दृष्टि से वे सार्थक हो सकते है यह विचार एयर स्वयं भी स्वीकार करते है अपनी पुस्तक "लैंगवेज ट्रूथ एण्ड लौजिक" के द्वितीय संस्करण में वे कहते है :-

' सत्यापन सिद्धान्त को समक्ष रखते हुए वे इस बात की अवहेलना नहीं करते कि अर्थपूर्णता या अर्थ शब्द का प्रयोग साधारण बोलचाल में अनेकों अर्थो में किया जाता

है । इनमें से कुछ अर्थो में कोई वाक्य बिना विश्लेषणात्मक हुए या अनुभूति में सत्यापित हुए भी अर्थपूर्ण हो सकता है । यदि हम किसी वाक्य का अर्थ उसी रूप में लेते है जिस रूप में वैज्ञानिक वाक्यों या साधारण तथ्यात्मक वाक्यों के अर्थ लिए जाते है तो उसे उपर्युक्त अर्थ में सत्यापन के योग्य होना चाहिए '।

एयर के सिद्धान्त के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि एयर यह कहते है कि भाषा का कार्य केवल तथ्यों का वर्णन करना नहीं है उसके अन्य उपयोग भी हो सकते है और होते है ।(१८) एयर के इस कथन में स्वयं ही धार्मिक कथनों की सार्थकता की संभावना निहित है । जिस वैज्ञानिक ज्ञान की तथ्यता को मापदण्ड मानकर एयर धार्मिक कथनों को निरर्थक कह रहे है उन कथनों की सार्थकता भी अन्य विषयों के समान इस तथ्य में निहित है कि वे मनुष्य के जीवन को तथ्यों से अवगत कराते हुए मानवीय मूल्यों का संवर्धन करते हुए जीवन पथ पर बढ़ने की प्रेरणा दें । जहाँ विज्ञान की प्रगति मानवता के लिए संकट उत्पन्न करने लगती है वहीं उसे रोकना पडता है । अतः एयर जब कहते है कि धार्मिक कथन निरर्थक है तो वे मानवता को खतरे में डालते है । धार्मिक कथन की सार्थकता इसमें नहीं है कि वे किसी तथ्य का बोध कराते है बल्कि उनकी सार्थकता इसमें है कि वे मानवीय मूल्यों की स्थापना में सहायक है । समकालीन दर्शन में धार्मिक कथनों की सार्थकता का निषेध 'एंटोनी फ्ल्यू' ने 'मिथ्यापनीयता सिद्धान्त के आधार पर किया । जिसका किसी न किसी रूप में कार्लपापर, आर०एम० हेयर आर०बी०ब्रेथवेट, काई नील्सन , आर०एफ० हालैन्ड आदि ने भी समर्थन किया ।

मिथ्यापनीयता सिद्धान्त के अनुसार केवल वही कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक हो सकते है जिन्हें कुछ तथ्यों द्वारा कम से कम सिद्धान्तः मिथ्या प्रमाणित करना संभव हो तथ्यात्मक कथनों में जिन विशेष तथ्यों का वर्णन होता है उनके विपरीत तथ्यों का अनिवार्य रूप से निषेध होता है । अतः यह विपरीत तथ्य उन कथनों को मिथ्या प्रमाणित करते है या कर सकते हैं फ्ल्यू के अनुसार किसी तथ्यात्मक कथन को मिथ्या प्रमाणित करने वाले

विपरीत तथ्यों का यह निषेध उस कथन के अर्थ में अनिवार्यतः निहित रहता है । और यह उसके अर्थ का अनिवार्य अंश होता है । इसी कारण यदि कोई वक्ता किसी भी तथ्य को अपने कथन का निषेध करने या मिथ्या प्रमाणित करने वाले तथ्य के रूप में नहीं स्वीकार करता तो उसका कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नहीं हो सकता ।

जैसे-जब हम यह कहते है कि -'पिता अपने पुत्र से प्रेम करता है ' तो कुछ तथ्य इस कथन को सत्य प्रमाणित कर सकते है और कुछ अन्य तथ्य इसे मिथ्या प्रमाणित करते है । पुत्र के प्रति मधुर व्यवहार उसकी उचित इच्छाओं तथा आवश्यकताओं की पूर्ति करना, उसकी उन्नति के लिए यथासंभव प्रयास करना उसके सुख और हित के लिए अपने सुख का त्याग करना आदि तथ्य इस कथन को सत्य प्रमाणित करते है । इसके विपरीत पुत्र के साथ निर्दयतापूर्वक व्यवहार करना उसकी सभी इच्छाओं और आवश्यकताओं की उपेक्षा करना , अपने सुख और हित के लिए उसके सुख और हित का बलिदान करना उपर्युक्त कथन को मिथ्या प्रमाणित करते है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि इस उदाहरण में सत्य प्रमाणित करने वाले तथ्यों को स्वीकार करने के साथ-साथ उसे मिथ्या प्रमाणित करने वाले तथ्यों का निषेध भी अनिवार्यतः निहित है अन्यथा 'पिता पुत्र से प्रेम करता है , इस कथन का कोई तथ्यात्मक अर्थ नहीं रह जाएगा । फ्ल्यू कहते है -

' यह कहना कि अमुक अमुक तथ्य है अनिवार्यतः इस बात का निषेध करने के समान है कि अमुक- अमुक तथ्य नहीं है मान लीजिए हमें इसमें सन्देह है कि कोई व्यक्ति अपने कथन द्वारा क्या कर रहा है या मान लीजिए हमें इसमें भी सन्देह है कि वह वास्तव में कुछ कह भी रहा है या नहीं तो उसके कथन को समझने का एक उपाय यह मालूम करने का प्रयास करना है कि वह किन तथ्यों को इस कथन के सत्य होने के विरूद्ध स्वीकार

करेगा । यदि कोई वाक्य वास्तव में तथ्यात्मक कथन है तो यह अनिवार्यतः उस कथन के निषेध को स्वीकार करने के समान होगा ।.... यदि कोई कथन किसी तथ्य का निषेध नहीं करता तो वह किसी तथ्य को अभिव्यक्त भी नहीं करता और इस लिए वह वास्तव में तथ्यात्मक कथन नहीं है ।(९)

तथ्यात्मक कथन जितनी अधिक निश्चित जानकारी देता है उसे मिथ्या प्रमाणित करना उतना ही आसान होता है ।

कार्ल पापर मिथ्यापनीयता के सिद्धान्त को सार्थकता की कसौटी नहीं मानते बल्कि वे इसे तथ्यात्मक कथनों को अतथ्यात्मक कथनों से पृथक करने वाला सिद्धान्त कहते है । उनका कहना है - ' मिथ्यापनीयता दो प्रकार के पूर्णतः सार्थक कथनों को पृथक करती है - एक वे जो मिथ्यापनीय है और दूसरे वे जो मिथ्यापनीय नहीं है ।(१०)

फ्ल्यू ईश्वर से सम्बन्धित धार्मिक कथनों की परीक्षा करने के बाद इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि यह कथन तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक है क्योंकि धर्मपरायण व्यक्ति ऐसे किसी तथ्यों को स्वीकार नहीं करते जो धार्मिक कथनों को मिथ्यापित कर सकें ।फ्ल्यू ने धार्मिक कथनों से सम्बन्धित निबन्ध थियॉलॉजी एण्ड फाल्सिफिकेशन ' में एक दृष्टान्त कथा का उल्लेख करते हुए अपना विचार स्पष्ट किया है - दो व्यक्ति वन में जाते है जहाँ उन्हें एक स्थान पर बहुत से पुष्प और बहुत से जंगली पौधे उगे हुए दिखाई देते है । उनमें से एक व्यक्ति कहता है कि यहाँ कोई माली इस उद्यान की अवश्य देखभाल करता है दूसरा व्यक्ति उससे असहमत होते हुए कहता है कि यहाँ कोई माली नहीं आता । दोनों उस स्थान का बड़ी सावधानी से पहरा करने लगते है जिससे वे यह पता लगा सके कि वहाँ कोई माली आता है या नहीं । परन्तु उन्हें कभी कोई माली आता हुआ नहीं दिखाई देता। पहला माली कहता है कि वह माली अदृश्य है । फिर वे दोनों उस स्थान के चारों ओर बिजली के ऐसे तार लगा देते है जिन्हें छूने से करंट लगता है । वे स्वयं शिकारी कुत्तों के साथ निरन्तर उस

स्थान का पहरा करते है परन्तु करंट लगने से कभी किसी की चीख सुनाई नहीं पड़ती और शिकारो कुत्ते भी किसी का पीछा नहीं करते । फिर भी उस स्थान पर माली के आने में विश्वास करने वाला व्यक्ति यह नहीं स्वीकार करता कि वहाँ कोई माली नहीं आता है । वह कहता है कि वहाँ आने वाला माली ऐसा है जिसे देखा और छुआ नहीं जा सकता, जिसकी ध्वनि सुनाई नहीं देती जिससे कोई गन्ध नहीं आती और जिस पर बिजली के करन्ट का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । ऐसा माली गुप्त रूप से उस उद्यान की देखभाल करता है क्योंकि वह उससे प्यार करता है ।' उस स्थान पर माली के आने में संदेह करने वाला व्यक्ति यह सब सुनकर निराश हो जाता है और अपने साथी से यह पूछता है कि जैसे माली की वह बात करता है उसमें और कल्पित माली में क्या अन्तर रह जाता है ? वास्तव में संदेह करने वाला व्यक्ति यह कहना चाहता है कि जिस माली को देखा छुआ सुना सूँघा और अनुभव नहीं किया जा सकता है वह ठीक वैसा है जैसा कल्पित तथा अस्तित्व रहित माली अर्थात ऐसे माली का अस्तित्व नहीं हो सकता ।(११)

इस प्रकार फ्ल्यू के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व किसी तथ्य का परिचायक न होकर व्यक्ति की अपनी अभिवृत्ति का प्रकटीकरण है । ईश्वर सम्बन्धी कथन अमिथ्यापनीय है इसलिए निरर्थक है । फ्ल्यू का तर्क है कि धार्मिक व्यक्ति ईश्वर को हर दृष्टि से पूर्ण सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ और सर्वोच्च शुभ कहता है । यदि ईश्वर पूर्ण है तो उससे परे कुछ ऐसा हो ही नहीं सकता जो उसका निषेध करने वाला तथ्य प्रस्तुत करें । फलतः ईश्वर विषयक कथन अमिथ्यापनीय होने के कारण तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक है । फ्ल्यू का कथन है ' ईश्वर - प्रत्यय' के अनुरूप यथार्थ सत्ता असंभव है ।(१२)

फ्ल्यू कहता है ईश्वर विषयक कथनों की अमिथ्यापनीयता का कारण ईश्वर के प्रति धार्मिक जनों की दृढ़ आस्था है । इस आस्था के अतिरेक में वह ईश्वर पूर्ण, सर्वज्ञ ,सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान और पूर्ण शुभ है , ईश्वर सृष्टिकर्ता है आदि कथनों को असंदिग्ध और सर्वथा सत्य मानता है । जिन्हें किसी भी तथ्य द्वारा मिथ्यापित नहीं किया जा सकता । फ्ल्यू

ईश्वरवादियों से यह प्रश्न करते है कि ' आपके विचार में ऐसा कौन सा तथ्य है जो ईश्वर के प्रेम और स्नेह तथा उसकी सत्ता को अप्रमाणित करने में सक्षम है ' जिसके प्रत्युत्तर में धार्मिक जन कहते है अपरिमित सत्ता का प्रेम और निषेध संभव नहीं है । इस प्रकार ईश्वर विषयक कथन के निषेध की असंभावना फ्ल्यू के अनुसार धार्मिक कथनों को निरर्थक सिद्ध करती है । फ्ल्यू के मिथ्यापनीयता सिद्धान्त को समकालीन धर्मदर्शन में 'फ्ल्यू की चुनौती कहा गया । इसका उत्तर बेसिक मिचल, जॉन हिक, आई०एम०क्रौम्बी, आई०टी० रैमसे आदि ने अपने सिद्धान्तों द्वारा देने का प्रयास किया ।

बेसिल मिचल धार्मिक कथनों को कुछ तथ्यों द्वारा मिथ्यापनीय मानकर फ्ल्यू के मत का खंडन करते है कि तथ्यात्मक दृष्टि से धार्मिक कथन निरर्थक है । मिचल के अनुसार ..... ईश्वरवादी निश्चय ही इस बात को अस्वीकार नहीं करेगा कि दुख होना इस कथन का खंडन करता है कि ईश्वर मनुष्यों से प्रेम करता है । इस असंगति के कारण ही ईश्वरवादी विचारकों के लिए एक अत्यन्त जटिल समस्या उत्पन्न होती है अशुभ की समस्या । इस प्रकार ईश्वरवादी दुख सम्बन्धी तथ्य को ईसाई सिद्धान्त का खंडन करने वाले तथ्य के रूप में अवश्य स्वीकार करता है ।(१३)

मिचल धार्मिक कथनों को मिथ्यापनीय मानता है लेकिन वे पूर्ण रूप से मिथ्यापनीय नहीं हैं क्योंकि मिचल के अनुसार -' ईश्वरवादी अपनी आस्था के कारण ईश्वर में विश्वास करने के लिए प्रतिबद्ध है । उसका दृष्टिकोण एक तटस्थ प्रेक्षक का नहीं, अपितु एक आस्थावान का दृष्टिकोण होता है ।

मिचल अपनी मान्यता को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत करते है :-
एक परतन्त्र देश के नागरिक उस देश के साथ युद्ध कर रहे हैं जिसने उनकी स्वतन्त्रता छीन ली है । एक रात को युद्धरत इस देश के नागरिक की भेंट एक अपरिचित व्यक्ति से होती है जो उसे अत्यधिक प्रभावित करता है । अपरिचित व्यक्ति उस नागरिक को बताता है कि

उसका देश अपनी स्वतन्त्रता के लिए जो संर्घष कर रहा है उसका वह पूर्ण समर्थन करता है यही नहीं अपरिचित व्यक्ति यह भी कहता है कि वह स्वयं इस संघर्ष का संचालन कर रहा है इस आधार पर वह उस नागरिक को यह विश्वास दिलाता है कि उसके देश के संघर्ष में वह निश्चय ही उसके साथ है अतः चाहे कुछ भी हो सभी परिस्थितियों में उस नागरिक को अपनी पूर्ण आस्था बनाए रखनी चाहिए । वह नागरिक अपरिचित व्यक्ति के इस आश्वासन से पूर्णतः आश्वस्त हो जाता है और वह उसकी निष्ठा में पूर्ण रूप से विश्वास करने का निश्चय कर लेता है । उन दोनों में फिर कभी भेंट नहीं हो पाती । कई बार अपरिचित व्यक्ति को युद्धरत उस देश के निवासियों की सहायता करते हुए देखा जाता है और तब वह नागरिक अपने मित्रों से कहता है कि यह व्यक्ति हमारा समर्थक है । परन्तु कई बार वह अपरिचित व्यक्ति पुलिस की वर्दी पहनकर देश भक्तों को उस देश की सेना के हाथों में सौंपते हुए देखा जाता है जिसने उन्हें दास बना रक्खा है । ऐसे अवसरों पर उस नागरिक के मित्र अपरिचित व्यक्ति के विरूद्ध अपना मत व्यक्त करते है, किन्तु वह व्यक्ति फिर भी यही कहता है कि यह व्यक्ति हमारा समर्थक है । वह अब भी यही विश्वास करता है कि अपरिचित व्यक्ति उन्हें धोखा नहीं दे रहा है । तब उस नागरिक के मित्र निराश होकर उससे पूछते है कि अपरिचित व्यक्ति के किस कार्य को देखकर वह यह स्वीकार कर लेगा कि उस व्यक्ति में विश्वास करना हमारी भूल थी और वह हमारा समर्थक नहीं है । वह नागरिक इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं देता और वह अपरिचित व्यक्ति की परीक्षा लेने के लिए भी तैयार नहीं होता । वह किसी भी तथ्य को अपने इस कथन का निर्णयात्मक रूप से खंडन करने वाला तथ्य नहीं मानता कि अपरिचित व्यक्ति हमारा समर्थक है । इसका कारण यह है कि वह अपरिचित व्यक्ति में विश्वास करने के लिए अपने आपको पूर्णतः प्रतिबद्ध अनुभव करता है । परन्तु वह यह अवश्य स्वीकार करता है कि अपरिचित व्यक्ति का संदेहपूर्ण व्यवहार उसके विश्वास के विरूद्ध है । वस्तुतः ऐसी ही स्थिति में उस नागरिक की आस्था की परीक्षा होती है । (१४)

इस दृष्टान्त कथा के द्वारा मिचल यह सिद्ध करना चाहते है कि उस नागरिक की तरह ईश्वरवादी भी कुछ तथ्यों को अपने धार्मिक कथनों के विरूद्ध मानते हैं किन्तु ईश्वर के प्रति अपनी अंखड आस्था और प्रतिबद्धता के कारण वे किसी तथ्य को इन कथनों को पूर्णतः निषेध करने वाला नहीं मानते । इस प्रकार मिचल के अनुसार धार्मिक कथन मिथ्यापनीय तो है लेकिन पूर्णतः मिथ्यापनीय नहीं है । धार्मिक कथनों की व्याख्या तीन प्रकार से की जा सकती है ।

(क) उन्हें ऐसी अस्थायी प्राक्कल्पनाएँ माना जा सकता है जिनकी प्रामाणिकता हमारे अनुभव पर निर्भर है और अनुभव द्वारा पुष्टि न होने पर जिनका कभी भी परित्याग किया जा सकता है ।

(ख) इन्हें केवल आस्था पर आधारित महत्वपूर्ण मार्गदर्शक कथन माना जा सकता है ।

(ग) इन्हें ऐसे निरर्थक सिद्धान्त माना जा सकता है जो किसी अवलंब को खोजने की हमारी इच्छा को ही अभिव्यक्त करते है । और जिनका हमारे अनुभव और जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

ईश्वरवादी आस्थावान होने के कारण धार्मिक कथनों की प्रथम व्याख्या को स्वीकार नहीं कर सकता । आस्थावान होने के कारण वह दूसरी व्याख्या को ही स्वीकार कर सकता है लेकिन उसके समक्ष यह खतरा सदा बना रहता है कि वह अज्ञात रूप से तीसरी व्याख्या का समर्थन करने लगे । यदि वह ऐसा करता है तो आस्था और तर्क दोनें दृष्टियों से यह उसकी असफलता होगी ।

फ्ल्यू मिचल के इस उत्तर को युक्तिसंगत नहीं मानते । क्योंकि ईश्वरवादी ईश्वर में असीमित गुणों के अस्तित्व को अनिवार्य मानता है अतः उन्हें मिथ्यापनीय नहीं माना जा सकता और यदि ईश्वर सम्बन्धी कथन मिथ्यापित नहीं होते तो उन्हें तथ्यात्मक रूप में सार्थक नहीं माना जा सकता । फ्ल्यू मिचल की दृष्टान्त कथा के सदंर्भ में कहते है — हम अपरिचित व्यक्ति के संदेहपूर्ण व्यवहार की तर्कसंगत व्याख्या कर सकते है । लेकिन अपरिचित व्यक्ति के स्थान पर ईश्वर को मानकर ईश्वर के संदेहपूर्ण व्यवहार की तर्कसंगत व्याख्या नहीं कर सकते क्योंकि अपरिचित व्यक्ति के विपरीत ईश्वर को सर्वज्ञ , सर्वशक्तिमान और दयालु माना जाता है । ऐसे ईश्वर के सम्बन्ध में हम तर्कसंगत रूप से यह नहीं कह सकते कि वह स्वतन्त्रता के लिए अत्याचारी देश के विरूद्ध संघर्ष करने वाले देशभक्तों की सहायता नहीं कर सकता या नहीं करना चाहता । हमारे लिए यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि सर्वशवितमान होने के कारण ईश्वर उन देश भक्तों की सभी प्रकार से सहायता कर सकता है और अत्यन्त दयालु होने के कारण वह ऐसा अवश्य करना चाहेगा परन्तु यदि वह उन देश भक्तों की पर्याप्त सहायता नहीं करता और कभी-कभी उनके विरूद्ध कार्य करता है तो हम उसके इस सन्देहपूर्ण व्यवहार की कोई तर्कसंगत व सन्तोषप्रद व्याख्या नहीं कर सकते । फ्ल्यू कहते है दृष्टान्त कथा के नागरिक की भाँति हमारे लिए यह स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है कि ईश्वर का कोई भी कार्य हमारे इस कथन का निषेध नही करता है कि ईश्वर हम सबसे प्रेम करता है अतः यह कथन कभी मिथ्यापनीय न होने के कारण तथ्यात्मक रूप से निरर्थक है ।

मिचल के सिद्धान्त के संदर्भ में यह भी कहा जाता है कि वह धार्मिक कथनों को पूर्णतः मिथ्यापनीय न मानने का जो कारण बताता है वह मनोवैज्ञानिक है तार्किक नहीं । मिचल मनोवैज्ञानिक मिथ्याकरण और तार्किक मिथ्याकरण में भेद न मानकर भूल करता है । इस प्रकार आस्था और प्रतिबद्धता से पूर्णतः मिथ्यापनीय न मानकर भी इन्हें संज्ञानात्मक नहीं सिद्ध किया जा सकता ।

'फ्ल्यू की चुनौती की समकालीन धर्मदर्शन में बहुत तीव्र प्रतिक्रिया हुई । कुछ विचारकों ने मिथ्यापनीयता सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक कथन नहीं माना लेकिन संवेगात्मक रूप में इन कथनों के महत्व को स्वीकार किया । इनके विचार अतथ्यात्मक सिद्धान्तों का समर्थन करते है । इस प्रकार के विचारकों में हेयर, ब्रेथवेट तथा मैकफरसन है । इसके विपरीत हिक, क्रौम्बी तथा रैम्से धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक मानते है क्योंकि वे मिथ्यापनीय है । इन दोनो विचारधारओं से पृथक विट्गिन्स्टाइन, डी० जेड० फिलिप्स, नार्मन मैल्काम आदि धार्मिक भाषा के पृथक और स्वतन्त्र तार्किक नियम स्वीकार करते है अतः धार्मिक कथनों का अर्थ निरूपण धार्मिक जीवन पद्धति में ही संभव है ।

जेम्स केलनबरगर फ्ल्यू के इस विचार से असहमति प्रकट करते है कि किसी भी कथन को तथ्यात्मक होने के लिए उसका अनुभवात्मक निषेध अवश्य संभव होना चाहिए किसी भी कथन की सार्थकता के लिए उसका तार्किक निषेध होना ही पर्याप्त है । केलनबरगर कहता है -

'ईश्वर है तथा मनुष्य से प्रेम करता है इन दोनों कथनों का तार्किक निषेध संभव है अर्थात् यह कहा जा सकता है कि ईश्वर नही है और ईश्वर मनुष्यों से प्रेम नहीं करता है ये निषेध भाषा के नियमों के अनुरूप है .... हम यह पूछना चाहते है कि ईश्वर है ऐसे धार्मिक कथनों का अनुभवात्मक निषेध प्रस्तुत करने में हमें क्यों समर्थ होना चाहिए(१५)

केलनबरगर फ्ल्यू के इस सिद्धान्त से भी असहमत है कि किसी भी तथ्यात्मक कथन का अनुभवात्मक निषेध होना भाषा का निमय है।वह इसे फ्ल्यू और उनके समर्थकों का व्यक्तिगत नियम मानते है । इस सम्बन्ध में केलनबरगर प्रश्न करते है । उक्त - नियम भाषा का नियम है इसकी पुष्टि का आधार क्या है ? और पर्याप्त आधार की अप्राप्ति से यह सिद्ध होता है कि फ्ल्यू का मिथ्यापनीयता सिद्धान्त उनका व्यक्तिगत आधार है । प्रामाणिक नहीं अतः धार्मिक कथन तार्किक निषेध की संभावना के आधार पर सार्थक है ।

केलनबरगर के समान ही आर०एस०हीमबेक भी कहते है कि हम अनुभवातीत ईश्वर के सम्बन्ध में सार्थक कथन कर सकते है । वह फ्ल्यू के दृष्टान्त कथा के आधार पर ही उनके विचार का खंडन करते है ।

(१) 'अदृश्य, अस्पृश्य, अश्रव्य तथा गंधरहित (अर्थात अनुभवातीत) माली इस उद्यान की देखभाल करता है ।'

(२) 'काल्पनिक माली इस उद्यान की देखभाल करता है ।

(३) 'कोई माली इस उद्यान की देखभाल नहीं करता ।

फ्ल्यू ने इन तीनों वाक्यों को समानार्थी माना था । हीमबेक कहते है इन तीनों वाक्यों का अर्थ भिन्न-२ है । पहले वाक्य में उद्यान की देख भाल करने वाले अनुभवातीत माली के अस्तित्व का दावा किया गया है, इसके विपरीत तीसरे वाक्य में माली के अस्तित्व का स्पष्ट रूप से निषेध किया गया है । इसके अतिरिक्त पहले वाक्य में माली द्वारा कोई कार्य करने या उद्यान के देखभाल करने की बात कहीं गई है जबकि तीसरे वाक्य में माली द्वारा इस कार्य को किए जाने का निषेध किया गया है अत. पहले और तीसरे वाक्य को समानार्थक नहीं माना जा सकता । इसी प्रकार दूसरे वाक्य का अर्थ भी पहले और तीसरे वाक्य के अर्थ से भिन्न है । दूसरे वाक्य का कोई संज्ञानात्मक अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि यह हमें किसी तथ्य का बोध नहीं कराता । इसका कारण यह है कि हम काल्पनिक माली के द्वारा सार्थक रूप में उद्यान की देखभाल किये जाने की बात नहीं कर सकते । जो माली कल्पना जगत की वस्तु है अर्थात जिसका वास्तव में अस्तित्व नहीं है -उसके द्वारा उद्यान की देखभाल किए जाने की बात करना निरर्थक है । इस प्रकार स्पष्ट है कि संज्ञानात्मक दृष्टि से इस वाक्य का अर्थ दोनों वाक्यों से भिन्न है । (१६)

इस तर्क के द्वारा हीमबेक यह सिद्ध करने का प्रयास करते है कि अनुभवातीत माली और काल्पनिक तथा अस्तित्वरहित माली का समान आशय नहीं है । इसलिए अनुभवातीत माली के विषय में सार्थकतापूर्ण कथन किया जा सकता है ।

फ्ल्यू हीमबेक के इस तर्क को दोषयुक्त कहते है क्योंकि हीमबेक ने अनुभवातीत ईश्वर के साथ आनुभविक क्रिया को जोड़ने का प्रयास किया है । जैसे काल्पनिक माली के संदर्भ में यह नहीं कहा जा सकता कि वह उद्यान की देखभाल करता है उसी प्रकार अनुभवातीत ईश्वर के विषय में भी नहीं कहा जा सकता कि वह जगत का रचयिता संरक्षक और पालनकर्ता है ।

हीमवेक फ्ल्यू के विरूद्ध स्वीकार करते है कि हम अनुभवातीत ईश्वर के साथ सार्थक अनुभवाश्रित क्रियाओं को जोड़ सकते है क्योंकि काल्पनिक माली के विपरीत उसका वास्तव में अस्तित्व है और वह इस जगत को प्रभावित कर सकता है ।.... ईश्वर की अवधारणा अनुभवगम्य वस्तुओं की आवधारणा से पूर्णतः भिन्न है इसी कारण हम उस अर्थ में ईश्वर की चर्चा नहीं कर सकते जिस अर्थ में आनुभविक वस्तुओं की चर्चा करते है। ..... ईश्वर के सम्बन्ध में चर्चा करते समय हमें स्वयं को समस्त अनुभवाश्रित अवधारणाओं से पूर्णतः मुक्त करना होगा ।(१७)

हीमबेक का विचार है कि ईश्वर अस्तित्व विषयक कथनों को संज्ञानात्मक न मानना अस्तित्व की अवधारणा को आनुभविक अस्तित्व की अवधारणा तक सीमित कर देना है जो उचित नहीं है । जॉन विस्डम की पुस्तक अदर माइन्डस से वे एक उदाहरण प्रस्तुत करते है निम्नलिखित कथन पर विचार कीजिए .... इस तार में बिजली का करन्ट है क्योंकि बिजली के करन्ट तथा ईश्वर में पर्याप्त समानता है । ये दोनों ही अदृश्य तथा अस्पृश्य है और इसी कारण ये हमारे अनुभव से परे है इन दोनों में से कोई भौतिक वस्तु नहीं है अतः हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा इन दोनों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते । बिजली के तार को

काटकर हम उसमें विद्यमान करन्ट को देख और छू नहीं सकते । यह सत्य है कि बिजली के तार में करन्ट के होने पर हम उससे सम्बद्ध घन्टी की ध्वनि सुन सकते है उसे छूने पर धक्के का अनुभव कर सकते है । परन्तु यह ध्वनि और उष्णता बिजली के करन्ट के परिणाम है इन्हें करन्ट मानना हमारी बड़ी भूल होगी । घन्टी की ध्वनि तार की उष्णता आदि हमारे लिए करन्ट की उपस्थिति को जानने के साधन मात्र है । अतः इन्हें हम करन्ट नहीं मान सकते है । यदि हम घन्टी नहीं बजाते और तार को नहीं छूते तो हमें ध्वनि तथा उष्णता का अनुभव नहीं होता , किन्तु इस अनुभव के अभाव में भी हम कह सकते है कि तार में करन्ट है । इस प्रकार यद्यपि हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बिजली के करन्ट का अनुभव नहीं करते फिर भी हम उसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करते ।

हीमबेक कहते है बिजली के करन्ट की भाँति ही ईश्वर का अनुभवातीत होना ईश्वर की अवधारणा को निरर्थक और अबोधगम्य नहीं बनाता । हीमबेक का यह तर्क अत्यन्त प्रभावशाली और अकाट्य प्रतीत होता है । लेकिन बिजली के करन्ट और ईश्वर में तुलना करने में कुछ कठिनाइयाँ है । करन्ट के कुछ परिणाम उसके साथ अनिवार्यतः सम्बद्ध रहते है । जिनके माध्यम से हमें उसकी उपस्थिति का ज्ञान होता है । इसी प्रकार वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा किसी वस्तु में करन्ट की उपस्थिति या अनुपस्थिति की निश्चित रूप से परीक्षा कर सकते है । अतः अमुक वस्तु में करंट है इस कथन के सत्य या असत्य होने की परीक्षा संभव है जबकि ईश्वर के सम्बन्ध में ऐसा परिणाम संभव नहीं है । क्योंकि हम तार्किक दृष्टि से किन्हीं विशेष परिणामों को ईश्वर के साथ सम्बद्ध नहीं कर सकते ।

यद्यपि ईश्वरवादियों ने जगत में विद्यमान व्यवस्था के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित किया था लेकिन यह प्रयास तार्किक दृष्टि से सफल नहीं हुआ ।

आर०एम०हेयर फ्ल्यू के मिथ्यापनीयता सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए धार्मिक कथनों की सार्थकता ब्लिक सिद्धान्त के आधार पर सिद्ध करते है । इस सिद्धान्त के अनुसार

धार्मिक कथन वास्तव में तथ्यात्मक वाक्य नहीं है जिन्हें सत्य या मिथ्या प्रमाणित किया जा सके । ये कथन किन्हीं तथ्यों का वर्णन नहीं करते बल्कि जगत के विषयों के प्रति कथन करने वाले का तत्वमीमांसीय दृष्टिकोंण व्यक्त करते है । बल्कि जीवन और जगत के प्रति धार्मिक जनों की विशेष अभिवृत्ति है । जो सत्य य असत्य नहीं होता बल्कि उसे उचित या अनुचित कहा जा सकता है । अतः धार्मिक कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नहीं है । बल्कि संवेगात्मक रूप में सार्थक है - हेयर के अनुसार — ईश्वरवादियों की भूल यह है कि वे ईश्वर विषयक धार्मिक कथनों को तथ्यबोधक या संज्ञानात्मक मानते है । वे इन कथनो के आधार पर जगत की उसी प्रकार व्याख्या करना चाहते है जिस प्रकार वैज्ञानिक तथ्यात्मक कथनों द्वारा करते है परन्तु ईश्वरवादियों के कथन तथ्यात्मक न होने के कारण जगत की कोई व्याख्या नहीं कर सकते । इन कथनों को वैज्ञानिक कथनों के समान तथ्यबोधक समझकर व्याख्यात्मक वाक्य मानना हास्यास्पद है ।(१८)

इस प्रकार ईश्वर विश्वास भौतिक वस्तुओं की वास्तविकता में विश्वास से भिन्न है । हेयर कहते है ईश्वरवादी और निरीश्वरवादी दृष्टिकोण की भिन्नता तथ्यात्मकता पर आधारित नहीं है बल्कि उनका अन्तर उनके विशेष ब्लिक को प्रकट करता है । हेयर के ब्लिक सिद्धान्त पर डेविड ह्यूम के विचारों का पर्याप्त प्रभाव था । ह्यूम धार्मिक विश्वास को प्राकृतिक विश्वास मानते थें । इसी प्राकृतिक विश्वास को हेयर ब्लिक कहते है, ह्यूम ने भी माना था कि धार्मिक विश्वास बौद्धिक युक्तियों पर आधारित नहीं होते । यह हमारी भावनाओं द्वारा ही शासित होते है ।

धार्मिक कथनों के संदर्भ में हेयर कहते है ....'किसी वस्तु को 'ईश्वर ' की संज्ञा देकर हम केवल यह नहीं कहते है कि उसकी पूजा करने से कुछ विशेष परिणाम होगें हम यह भी कहते है कि उसकी पूजा करना उचित है । अर्थात हम कम से कम अंशतः दूसरों को उसके प्रति एक विशेष अभिवृत्ति रखने के लिए प्रेरित करते है । कोई

व्यक्ति वस्तुतः ईश्वर में विश्वास करता है या नहीं यह इस बात पर निर्भर है कि वह ईश्वर नामक वस्तु के प्रति किस प्रकार का दृष्टिकोण रखता है अर्थात् इस बात का निर्णय उस व्यक्ति के कार्यो द्वारा ही किया जा सकता है ।

हेयर के अनुसार-' धार्मिक भाषा, नैतिक भाषा और तथ्यात्मक भाषा का मिश्रित रूप है । धार्मिक भाषा के स्वरूप को प्रकट करते हुए उन्होने लिखा है - ' उपास्य विषय के प्रति पूजा भाव रखना पूर्णतः तथ्यात्मक विश्वास को स्वीकार करने के समान नहीं है और न ही यह केवल आचरण सम्बन्धी कुछ नियमों का समर्थन करने के समान है । बल्कि इसमें ये दोनों तत्व सम्मिलित रहते है । उपासक एक विशेष ढंग से आचरण करने के लिए वाध्य है वह जगत सम्बन्धी कुछ अनुभवाश्रित तथ्यात्मक कथनों की सत्यता में भी विश्वास करने के लिए बाध्य होता है ..... यह संभव है कि जिन तथ्यों के साथ धार्मिक भाषा का सम्वन्ध है वे साधारण अनुभवाश्रित तथ्य हो - जैसे जब हम प्रार्थना करते है तो उसका क्या परिणाम होता है । परन्तु हम इन तथ्यों को अतीन्द्रिय तथ्य कहने के लिए प्रेरित होते है क्योंकि हमारी सम्पूर्ण जीवन पद्धति इन्हीं से सम्बद्ध रहती है । इनका हमारे लिए वह मूल्य और महत्व होता है जो हमारे नास्तिक होने पर हमारे लिए कभी न होता । (१९)

ब्रेथवेट के अनुसार केवल वही कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक हो सकता है जो कम से कम सैद्धान्तिक रूप में मानव अनुभव द्वारा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सत्यापनीय या मिथ्यापनीय है लेकिन धार्मिक कथन सार्थकता की इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते अतः इनसे किसी प्रकार का संज्ञानात्मक अर्थ नहीं प्राप्त होता ।

ब्रेथवेट कथनों की सार्थकता का निर्धारण करने के लिए सत्यापन सिद्धान्त का समर्थन करते है और कहते है कि धार्मिक कथन न तो विशेष अनुभवात्मक तथ्यों और वैज्ञानिक प्राकल्पनाओं के समान संश्लेषणात्मक कथन है और न गणित और तर्कशास्त्र के समान पुनरूक्तियाँ या विश्लेषणात्मक कथन । ब्रेथवेट के शब्दों में ....' जो प्राक्कल्पना प्रत्येक संभव

अनुभवात्मक तथ्य के अनुरूप है वह अनुभवात्मक प्राक्कल्पना नहीं है ..... यदि ईश्वर का अस्तित्व न होता तो संसार किस प्रकार भिन्न होता ? जब तक इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जाता तब तक ईश्वर के अस्तित्व का कोई अनुभवात्मक अर्थ नहीं दिया जा सकता । ' इसी प्रकार ईश्वरवादी धार्मिक कथनों को तथ्यबोधक मानते है जिनके द्वारा हमें गहन सत्यों का ज्ञान प्राप्त होता है । अतः ये विश्लेषणात्मक या पुनरूक्तियाँ भी नहीं है । इन्हें अनुभवात्मक कथन इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि ईश्वरवादी ईश्वर और उसके गुणों को इन्द्रियजन्य अनुभव का विषय नहीं मानता ।

ब्रेथवेट धार्मिक कथनों को संवेगात्मक कथन नहीं मानते क्योंकि धर्मपरायण व्यक्ति धार्मिक कथनों के द्वारा अपनी संवेगात्मक अभिव्यक्ति मात्र नहीं करता बल्कि उनके माध्यम से विशेष जीवन पद्धति या आचरण से सम्बन्धित प्रतिबद्धता को व्यक्त करते है जैसे कोई धर्मपरायण व्यक्ति जब कहता है कि ईश्वर सब से प्रेम करता है तो इस कथन से उसका आशय किसी तथ्य का वर्णन करना नहीं है बल्कि वह इस आचरण नीति की घोषणा करता है कि उसे सभी व्यक्तियों से प्रेम करना चाहिए । इस प्रकार ब्रेथवेट कहते है धार्मिक कथनों से व्यक्ति अपनी आचरण नीति घोषित करता है और अन्य लोगों को भी उस नीति के अनुसार आचरण करने की प्रेरणा देता है । इस प्रकार के कथन अनुभवात्मक तथ्य वैज्ञानिक प्राक्कल्पना या विश्लेषणात्मक कथन नहीं है ।

धार्मिक कथनों की सार्थकता के सम्बन्ध में ब्रेथवेट कहते है :- किसी धार्मिक कथन को समझे बिना उसमें विश्वास - नहीं किया जा सकता और उन्हें उन परिस्थितियों के ज्ञान द्वारा ही समझा जा सकता है जो उसे सत्य या मिथ्या प्रमाणित करती है । (२०)

ब्रेथवेट के अनुसार धार्मिक कथनों और नैतिक निर्णयों में समानता है। लेकिन दोनों में कुछ भेद भी है। अतः धार्मिक कथन मात्र नैतिक कथन भी नहीं है । वे स्वीकार करते है कि प्रत्येक धार्मिक विश्वास और उसकी आचरण नीति के साथ कुछ विशेष कहानियाँ संबद्ध रहती है

जिनका उद्देश्य धार्मिक जनों की आस्था में वृद्धि और इन विश्वासों और नीति के अनुरूप आचरण करने की प्रेरणा देना है । इन कहानियों का तार्किक महत्व नहीं बल्कि मनोवैज्ञानिक महत्व है क्योकि यह कहानियाँ तथ्यात्मक न होकर कल्पित होती है ।

ब्रेथवेट का यह सिद्धान्त ईश्वरवादी विचारकों के अनुरूप नहीं है । सर्वप्रथम कोई भी ईश्वरवादी विचारक यह नहीं मानता कि धार्मिक कथन तथ्यात्मक नहीं है बल्कि उनके अनुसार यह कथन जीवन और जगत से सम्बन्धित गहन सत्यों का ज्ञान प्राप्त कराते है । इसके अतिरिक्त जब वह यह कहते है कि धार्मिक कथनों का मुख्य उद्देश्य विशेष प्रकार की आचरण नीति के प्रति वक्ता के निश्चय को प्रकट करना है तो इन कथनों मे एवं नैतिक कथनों मे कोई मौलिक भेद नहीं बचता । यह विचार और दृढ़ हो जाता है क्योंकि ब्रेथवेट के अनुसार धर्मपरायण व्यक्ति के लिए किसी उपास्य विषय की सत्ता में विश्वास करना आवश्यक नहीं है। ईश्वरवादी ब्रेथवेट के विरूद्ध कहते है कि उनका सिद्धान्त धर्म को व्यक्तिनिष्ठ बना देता है जिसके सम्बन्ध में कोई वस्तुनिष्ठ विचार विमर्श संभव ही नहीं है। स्वयं ब्रेथवेट ने इस दोष को अनुभव किया था और कहा - ' यदि किसी व्यक्ति का धर्म स्वयं अपने लिए निश्चित जीवन पद्धति का अनुसरण करना और कल्पित परिकथाओं के उदाहरणों द्वारा इस जीवन पद्धति के अनुसरण सम्बन्धी अपने निश्चय को पुष्ट करना ही है तो धर्म व्यक्तिनिष्ठ हो जाता है । उसका धर्म उसके व्यक्तिगत आदर्शो तथा उसकी निजी व्यक्तिगत कल्पनाओं तक ही सीमित हो जाता है यदि कोई ऐसी वस्तुगत सत्ता नहीं है जिसमें विश्वास करना आवश्यक हो तो वह दूसरों को अपना धर्म स्वीकार करने के लिए कैसे प्रेरित कर सकता है । यदि वह तथ्यात्मक धार्मिक कथनों और ब्रह्मान्ड विषयक किसी आधारभूत सत्य में विश्वास नहीं करता तो वह अपने धर्म की रक्षा के लिए क्या तर्क दे सकता है ।?

ब्रेथवेट इसका कोई सन्तोषजनक हल नहीं खोज पाये । उन्होने इसके उत्तर में यही कहा कि समाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य परस्पर अनिवार्य रूप से सम्बन्धित है इसलिए जो जीवन पद्धति किसी एक व्यक्ति के लिए कल्याणकारी है । वह दूसरों के लिए भी कल्याणकारी हो सकती है ।

ब्रैथवेट के इन विचारों का ममर्थन आर० डब्लू० हैप्बर्न भी करते हैं । उनका कथन है - धर्मपरायण व्यक्ति केलिए जीवन और जगत सम्बन्धा किन्हीं सिद्धान्तों में विश्वास करना आवश्यक नहीं है । धर्मपरायण होने के लिए किसी विशेष जीवन पद्धति के प्रति निष्ठा रखकर तदनुसार आचरण आवश्यक है ।

ब्रेथवेट इसका कोई सन्तोषजनक हल नहीं खोज पाये । उन्होने इसके उत्तर में यही कहा कि समाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य परस्पर अनिवार्य रूप से सम्बन्धित है, इसलिए जो जीवन पद्धति किसी एक व्यक्ति के लिए कल्याणकारी है, वह दूसरों के लिए भी कल्याणकारी हो सकता है ।

ब्रैथवेट के इन विचारों का समर्थन आर० डब्लू० हैप्बर्न भी करते है । उनका कथन है - धर्मपरायण व्यक्ति के लिए जीवन और जगत सम्बन्धी किन्हीं सिद्धान्तों में विश्वास करना आवश्यक नहीं है । धर्मपरायण होने के लिए किसी विशेष जीवन पद्धति के प्रति निष्ठा रखकर तदनुरूप आचरण आवश्यक है ।

टामस मैकफरसन कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता का निर्धारण करने के लिए सत्यापन सिद्धान्त का समर्थन करते है लेकिन धार्मिक कथनों के सन्दर्भ में इस सिद्धान्त को सार्थकता की कसौटी नहीं स्वीकर करते क्योकि धार्मिक कथन तथ्यात्मक नहीं है । धार्मिक कथनों की सार्थकता और स्वरूप के सम्बन्ध में वे अवर्णनीयता का सिद्धान्त प्रतिपादित करते है । उनका विचार है कि धार्मिक विश्वास अवर्णनीय विश्वास है जिन्हें शब्दों द्वारा कभी भी अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता । यह कथन तथ्यात्मक कथनों से भिन्न है जिनकी व्याख्या के सम्बन्ध में मौन रहना ही उचित है । कुछ बातें ऐसी होती हैं जो कही नहीं जा सकती । जब तक कोई व्यक्ति इन्हें कहने का प्रयास नहीं करता तब तक कोई कठिनाई नहीं होती परन्तु जब कोई इन्हें कहने का प्रयास करता है तो उसे इसके परिणामों का सामना करने के लिए भी अवश्य तैयार रहना चाहिये । जो अकथनीय है उसे

कहने का हमे प्रयास नहीं करना चाहिये । धर्मशास्त्री जो बाते कहने का प्रयास करते हैं वे अथवा उनमें से कुछ, ऐसी बातो की श्रेणी में आता है जो कही नहीं जा सकती, हमारी कठिनाई का समाधान यही है कि हम मौन रहे ।

धर्म के सम्बन्ध में उनके विचारों पर रूडोल्फ ऑट्टों एवं लुडविग विट्गिन्स्टाइन के विचारों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा । अपनी पुस्तक 'द आइडिया आफ होली' में ऑट्टों ने यह प्रमाणित किया कि बौद्धिक तर्क या विचार धर्म का आधार नहीं हो सकते । वस्तुतः धर्म का मूल तत्व विशेष निर्बौद्धिक अनुभव या भावना है जिसे शब्दों मे अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता । यह विशेष प्रकार का अवर्णनीय, निर्बौद्धिक अनुभव ही धर्म की मुख्य विशेषता है । इसे आट्टों ने तुच्छता को भावना कहा जिसका अनुभव प्रत्येक धर्मपरायण व्यक्ति करता है । इस तुच्छता की भावना का विश्लेषण करना या उसे शब्दों द्वारा व्यक्त करना सम्भव नहीं है । क्योकि यह निर्बौद्धिक है । परन्तु यह तुच्छता की भावना धर्म की अनिवार्य आधारभूत विशेषता है । इस भावना के अतिरिक्त धार्मिक अनुभव में एक ऐसी वस्तु की चेतना सम्मिलित रहती है जो विश्व से परे और पूर्णतः भिन्न है । निर्बौद्धिक होने के कारण इस धार्मिक अनुभव का विश्लेषण तथा वर्णन असम्भव है । धर्मशास्त्रज्ञों की भूल यह है कि वे इस धार्मिक अनुभव की व्याख्या करने के लिए अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं और इस प्रकार धर्म के विषय में बड़े-बड़े ग्रन्थों की रचना करते है । वे बौद्धिक तर्कों द्वारा इस निर्बौद्धिक अनुभव को प्रमाणित करने का प्रयास करते है किन्तु उनका यह प्रयास व्यर्थ है क्योकि वास्तव में यह अनुभव तर्क से परे और अकथनीय है ।

ऑट्टों के अतिरिक्त लुडविग विट्गिन्स्टाइन धर्म को अकथनीय या अवर्णनीय ही मानते है । ट्रैक्टेटस लॉजिको फिलासाफिकस में उन्होने धार्मिक अनुभव को रहस्यात्मक अनुभव कहा जिसे शब्दों में व्यक्त करना सम्भव नही है । विट्गिन्सटाइन के शब्दों में - रहस्यात्मक बात यह नहीं है कि विश्व कैसा है अपितु यह है कि वह क्यों है ।

जिस प्रश्न का उत्तर देना सम्भव नहीं है उसे शब्दों के माध्यम से पूछा भी नहीं जा सकता .... वस्तुतः कोई अवर्णनीय सत्ता है जो नितान्त रहस्यमयी है । अपनी इसी मान्यता के कारण वे धर्म के विषय में संशय करना व्यर्थ समझते है । उन्होने कहा — संशय तभी किया जा सकता है जब कोई प्रश्न हो, प्रश्न तभी पूछा जा सकता है जब उसका उत्तर हो, उत्तर तभी दिया जा सकता है जब कुछ कहना सम्भव हो । (२२)

सामान्य प्रत्यक्षवादी दर्शन को धर्म की विरोधी विचारधारा के रूप में स्वीकार किया जाता है लेकिन मैकफरसन इसे धर्म का सहायक मानते हुए कहते है - सामान्यतः प्रत्यक्षवादी दर्शन को धर्म का शुत्र माना जाता है परन्तु धार्मिक कथनों को निरर्थक कहना अनिवार्यतः धर्म का विरोध करना नहीं है इसे उन लोगो पर आक्रमण कहा जा सकता है जो धर्म के नाम पर उसे विकृत कर रहे है । इसे धर्म के विषय में सत्य की ओर पुनः उन्मुख होना माना जा सकता है । ...... धर्म शास्त्रज्ञ जो कुछ कहने का प्रयास करता है उसकी निरर्थकता दिखाते हुए प्रत्यक्षवादियों ने यह समझने में हमारी सहायता की कि धर्म अकथनीय है । (२३)

ब्रेथवेट मिचल, हेयर, मैकफरसन इत्यादि विचारकों ने कहा कि धार्मिक कथन द्वारा धार्मिकजन अपनी भावनाओं, अभिवृत्तियों या अपनी विशेष प्रतिबद्धता को प्रकट करते है । यह कथन किसी तथ्य का बोध नहीं कराते इसलिए यह, संज्ञानात्मक नहीं है । इन विचारों के विपरीत जॉन हिक, आई० एम० क्रोम्बी, आई.टी. रैम्से आदि ने धार्मिक कथनों को भावनात्मक नहीं माना बल्कि यह सभी इन कथनों को तथ्यात्मक ज्ञान प्राप्त कराने वाले कथन के रूप में स्वीकार करते है ।

जॉन हिक के विचार में ईश्वर विश्वास हमारी भावनाओं और अभिवृत्तियों पर आधारित काल्पनिक सत्ता न होकर एक स्वतन्त्र यथार्थ निरपेक्ष और वस्तुगत सत्ता है । जब हम यह कहते हैकि - ''ईश्वर है और सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान और दयालु है ''।

तो हम इस कथन द्वारा ईश्वर और गुणों का तथ्यात्मक वर्णन करते है जो हमारी भावनाओं और अभिवृत्तियों पर निर्भर नहीं है । इस प्रकार असंज्ञानात्मक सिद्धान्तों को अस्वीकार करते हुए हिक ईश्वर विषयक धार्मिक कथनों को तथ्यबोधक ही मानते है ।(२४)

हिक ईश्वर सम्बन्धी धार्मिक कथनों की संज्ञानात्मकता प्रमाणित करने के लिए मरणोत्तर सत्यापन सिद्धान्त प्रस्तुत करते है क्या ईश्वर अस्तित्व सत्यापनीय है इस प्रश्न पर विचार करते हुए उन्होने कहा- इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर देना सम्भव नही है क्योकि यह बहुत अस्पष्ट है । ''ईश्वर तथा सत्यापन'' इन दोनो शब्दों का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया जा सकता है और किया गया है । ईश्वर की किसी विशेष अवधारणा (उदाहरण के लिए मानवत्वारोपी अवधारणा) को स्वीकार करने पर हम यह कह सकते है कि ईश्वर सिद्धान्ततः सत्यापनीय या मिथ्यापनीय है । लेकिन ईश्वर को अनुभवातीत सत्ता मानने पर हम उसके सम्बन्ध में अनुभवात्मक सत्यापन का प्रश्न नहीं उठा सकते । इसी प्रकार सत्यापन का अर्थ भी पूर्णतः स्पष्ट और निश्चित नहीं है । सत्यापन को अनुभवमूलक अर्थ में ग्रहण करने पर अनुभवातीत ईश्वर को सत्यापित नहीं किया जा सकता लेकिन सत्यापन का कोई विशेष अर्थ स्वीकार करने पर ऐसे ईश्वर का सत्यापन सम्भव है । (२५)

हिक के अनुसार सत्यापन केवल तार्किक अवधारणा न होकर मानसिक घटना भी है जो अनिवार्यतः मनुष्य की चेतना में घटित होती है । जिसके लिए उसका व्यक्तिगत अनुभव अनिवार्य है इसी अर्थ में सत्यापन मनोवैज्ञानिक अवधारणा है । किसी कथन के सत्यापन के लिए उस वस्तु या स्थिति का अस्तित्व भी अनिवार्य है जिसका वह बोध कराता है । इसी अर्थ में सत्यापन तार्किक अवधारणा या सिद्धान्त है । इस प्रकार किसी कथन की संशयरहित सत्यता स्थापित करना ही सत्यापन का उद्देश्य है । सत्यापित होने का अर्थ है कि किसी व्यक्ति ने स्वयं अपने अनुभव द्वारा उसे सत्यापित किया है और अन्य व्यक्ति भी उसके इस सत्यापन को सामान्यतः स्वीकार करते है । जिस प्रकार

ज्ञान की स्थिति में ज्ञान का विषय और ज्ञाता दोनों का होना अनिवार्य है उसी प्रकार किसी कथन के सत्यापन के लिए कथन द्वारा बताई गई वस्तु या स्थिति का अस्तित्व और उसे अनुभव करने वाला व्यक्ति दोनों का होना आवश्यक है । इसके अतिरिक्त सभी कथनों को किसी एक सत्यापन विधि से सत्यापित नहीं किया जा सकता । विविध प्रकार के विषयों से सम्बद्ध कथनों को अलग अलग सत्यापन विधियों से सत्यापित किया जाता है । उदाहरण के लिए भौतिक वस्तुओं से सम्बन्धित कथनों को सत्यापित करने के लिए हम सत्यापन की जिस विधि का प्रयोग करते है उसके द्वारा हम अभौतिक वस्तुओं से सम्बन्धित कथनों को सत्यापित नहीं कर सकते । हिक कहते है - '' अणुओं से सम्बन्धित कथनों को सत्यापित करने की विधि मेज सम्बन्धी कथनों के सत्यापन की विधि से भिन्न होगी । '' इसी प्रकार ईश्वर विषयक कथनों के सत्यापन की विधि अणुओं से सम्बन्धित कथनों के सत्यापन की विधि से भिन्न होगी । इन सभी विषयों से सम्बन्धित कथनों को किसी एक ही सत्यापन विधि द्वारा सत्यापित करने का प्रयास उचित और युक्ति संगत नहीं है ।

हिक स्वीकार करते है कि भौतिक वस्तुओं के सत्यापन और उनके मिथ्याकरण में सदैव अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है । ईश्वर विषयक कथन यदि सत्य है तो विशेष मरणोपरान्त अनुभव द्वारा उन्हे सत्यापित किया जा सकता है लेकिन यदि यह कथन मिथ्या है तो इन्हें मिथ्यापित करना असम्भव है । ईश्वर विषयक कथन को मरणोत्तर अनुभव द्वारा ही सत्यापित किया जा सकता है इस जीवन के अनुभव द्वारा नहीं क्योंकि वह इन्द्रियातीत है। आत्मा अमर है इसीलिए मृत्यु के पश्चात् भी कुछ पारलौकिक अनुभव हो सकते है । इन्हीं को वह मरणोपरान्त सत्यापन कहता है ।

हिक् के मरणोत्तर सत्यापन सिद्धान्त की अनुभववादी विचारकों ने काफी तीव्र आलोचना की । फ्ल्यू तथा अन्य अनुभववादी कहते है - मरणोपरान्त अनुभव का विचार बोधगम्य ही नहीं हैं अतः हमारे लिए इसका कोई अर्थ नहीं हो सकता है । हमारे शरीर

के नष्ट हो जाने के बाद हमारी चेतना के बने रहने की कोई सम्भावना ही नही रह जाती जिसके द्वारा हम किसी प्रकार का अनुभव प्राप्त कर सके । ऐसी स्थिति में मरणोपरान्त की प्राक्कल्पना हमारे लिए निरर्थक हो जाती है ।(२६)

इन विचारकों के विपरीत हिक मरणोपरान्त सत्यापन को ईश्वर विषयक कथनों की तथ्यामकता प्रमाणित करने का आधार मानते है । ईश्वर की वस्तुगत सत्ता प्रमाणित करने के लिए हिक दो अनुभवों का उल्लेख करते हैं - ईश्वर द्वारा हमारे लिए निर्धारित लक्ष्य का अनुभव और ईश्वर के साथ संयोग का अनुभव । पहले अनुभव के सम्बन्ध में हिक कहते है - हम सबके जीवन के लिए स्वंय ईश्वर ने एक विशेष लक्ष्य निर्धारित किया है जिसकी पूर्ति के लिए उसने प्रकृति तथा प्राणी जगत की रचना की है । भविष्य में यह लक्ष्य पूरा होगा या नहीं हम यह नहीं जान सकते इसलिए लक्ष्य की पूर्ति से सम्बन्धित अनुभव का मिथ्याकरण सम्भव नहीं है । जब हमारे जीवन में इस लक्ष्य की पूर्ति हो जाएगी तो हम महान आनन्द का अनुभव कर सकेगें । (२७) ईश्वर के संयोग के अनुभव को हम उनके वचनों द्वारा ही जान सकते है जिन्हे ईश्वर की कृपा से यह अनुभव प्राप्त हो गया हो ।

मरणोत्तर सत्यापन सिद्धान्त से सभी मनुष्यों के लिए ईश्वर विषयक कथनों का सत्यापन सम्भव नहीं है केवल ईश्वर में विश्वास करने वाला व्यक्ति ही मरणोत्तर सत्यापन सिद्धान्त द्वारा अपनी आस्था को सत्यापित कर सकता है । निरीश्वरवादी के लिए इसका सत्यापन सम्भव नहीं है क्योकि वह ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता ।(२८)

नार्मन मैल्कम का विचार है कि- ' किसी भी व्यक्ति के लिए ईश्वर सम्बन्धी विश्वास का महत्व इस बात से जाना जा सकता है कि यह विश्वास उसके जीवन को किस प्रकार और कितना प्रभावित करता है । जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि वह ईश्वर में विश्वास करता है तो वह अपने इस कथन द्वारा ईश्वर के प्रति विशेष अभिवृत्ति को

अभिव्यक्त करता है जिसमें सम्मान श्रद्धा प्रेम आदि भावनाएँ सम्मिलित रहती है । यदि वह केवल बौद्धिक दृष्टि से यह विश्वास करता है कि ईश्वर का अस्तित्व है और उसके जीवन पर इस विश्वास का कोई प्रभाव नहीं है तो ऐसे विश्वास का वास्तव में कोई महत्व नहीं है ।'' (२९)

हिक, मैल्कम के इस विचार से सहमत नहीं है और कहते है कि - ईश्वर के अस्तित्व से सम्बन्धित विश्वास मनुष्य की भावनाओं पर आधारित न होकर वस्तुतः उन भावनाओं का आधार है । हिक के अनुसार- ईश्वर सम्बन्धी कथनों की तथ्यात्मकता को प्रमाणित करने के लिए ईश्वर की वस्तुगत और स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य है मनुष्य के जीवन पर ईश्वर विषयक विश्वास के प्रभाव को नहीं । हिक के शब्दों में -

ईश्वरवाद का दावा यह नहीं है कि यदि कोई व्यक्ति ईश्वर में विश्वास करता है तो उसका विश्वास उसके जीवन में परिवर्तन लाएगा। ईश्वरवाद का दावा यह है कि मनुष्य का विश्वास चाहे कुछ भी हो यह ब्रहमाण्ड ईश्वर द्वारा रचित और शासित है ।.... यह कुछ भी दिखाना कि किसी कथन में विश्वास करने के कुछ प्रभाव होते है इस बात को प्रमाणित करना नहीं है कि वह कथन ब्रह्माण्ड के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई सत्यापनीय दावा करता है ।(३०)

इस प्रकार हिक ईश्वर को मनुष्य के विश्वास और उसकी भावनाओं से स्वतन्त्र मानते है । उनके विचार में ईश्वर सम्बन्धी विश्वास सामान्य अनुभावात्मक विश्वासों से भिन्न है अतः उसकी किसी अन्य वस्तु के साथ तुलना करना सम्भव नहीं है । इसी लिए हिक ईश्वर को अद्वितीय मानते हुए कहते है कि इसकी व्याख्या उन नियमों के आधार पर नहीं की जा सकती जिसके आधार पर सामान्य अनुभवात्मक विश्वासों की व्याख्या करते है । इस विश्वास की व्याख्या के नियमों का अद्वितीय और जटिल होना अनिवार्य है ।

हिक के अनुसार ईश्वर सम्बन्धी अनुभव का आधार तर्कबुद्धि नहीं वरन् आस्था है ।.... प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व को मानने या न मानने के लिए स्वतन्त्र है । इस सम्बन्ध में ईश्वर ने मनुष्य को पूर्ण स्वतन्त्रता दी है । इस दृष्टि से ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान भौतिक वस्तुओं के ज्ञान से भिन्न है । भौतिक वस्तुओं का ज्ञान समान परिस्थितियों से सभी व्यक्तियों को होता है इसलिए इस सम्बन्ध में मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है लेकिन सौन्दर्यात्मक और नैतिक ज्ञान के सम्बन्ध में मनुष्य को अपेक्षाकृत पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त है ।.... ईश्वर विषक ज्ञान के सम्वन्ध में मनुष्य को अधिकतम स्वतन्त्रता प्राप्त है ईश्वर किसी भी व्यक्ति को अपनी सत्ता स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं करता, यदि वह ऐसा करता है तो इससे मनुष्य की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है ।

आई. एम. क्रौम्बी भी हिक के समान ही धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक स्वीकार करते है । धार्मिक कथन व्याकरण की दृष्टि से सामान्य अनुभवात्मक कथनों के ही समान प्रतीत होता है जो उद्देश्य विधेय से युक्त होते है लेकिन इन कथनों के विपरीत धार्मिक कथनों के उद्देश्य एव विधेय दोनो ही असाधारण होते है । धार्मिक कथन अनिवार्यतः विरोधाभास से युक्त होते है । क्रौम्बी कहते है - '' धार्मिक कथनो का उद्देश्य (ईश्वर) सामान्य अनुभवात्मक कथनों के उद्देश्य से पूर्णतः भिन्न होता है जिसके कारण इन कथनों में विरोधाभास आ जाता है । इन कथनो द्वारा हम ईश्वर के सम्बन्ध में कुछ कहते है । जैसेः ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा अत्यन्त दयालु है, 'ईश्वर जगत का रचयिता है इत्यादि । इन कथनों में हम ईश्वर का अर्थ उस सामान्य विधि द्वारा नहीं समझ सकते है जिस विधि द्वारा सामान्य अनुभवात्मक कथनो के किसी उद्देश्य का अर्थ समझते है । ईश्वर सम्बन्धी कथन सामान्य अनुभवात्मक कथनों से भिन्न है क्योकि सामान्य अनुभवात्मक कथनों के संकेत प्राप्त हो सकते है जबकि ईश्वर कौन है? कहाँ है ? इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जा सकता क्योंकि ईश्वर हमारे ज्ञान तथा अनुभव का विषय नहीं है । क्रौम्बी के अनुसार- 'धार्मिक कथनों में यह विरोधाभास इसलिए उत्पन्न होता है कि एक ओर तो धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर शब्द का प्रयोग ऐसे

व्यक्ति विशेष के लिए करता है जो सर्वज्ञ सर्वशाक्तिमान और दयालु है जो अपने भक्तों की प्रार्थना सुनता है और दूसरी ओर धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर के सम्बन्ध में उन सभी अनुभवात्मक कसौटियों को अस्वीकार करता है जिनके आधार पर हम किसी व्यक्ति के विषय में सार्थक बात कर सकते है ।(३१)

धार्मिक कथनों में प्रथम प्रकार का विरोधाभास उद्देश्य से सम्बन्धित है जिसके कारण धार्मिक कथन निरर्थक प्रतीत होते है ।

दूसरे प्रकार का विरोधाभास विधेय से सम्बन्धित है । उदाहरण के लिए - '' ईश्वर ने यह संसार बनाया है, '' ईश्वर इस संसार का शासक और न्यायाधीश है ।'' इन कथनों में बनाना, शासक, न्यायाधीश शब्द का प्रयोग प्रचलित अर्थ में नहीं किया जाता । ईश्वरवादियों का कथन है कि ईश्वर उस अर्थ में बनाने वाला, शासक या न्यायाधीश नहीं जिस अर्थ में मनुष्य है । भवन के निर्माण में शिल्पी एक सीमित व्यक्ति है जो निर्माण के लिए पहले से उपलब्ध सामग्री पर निर्भर है किन्तु ईश्वर असीम है जो किसी अन्य शक्ति या वस्तु पर निर्भर नहीं है । इसी अर्थ में ईश्वर की विशेषताएँ मनुष्य के समान नहीं है । क्रौम्बी के विचार में - ईश्वर विषयक कथनों का दूसरा विरोधाभास यह है कि एक ओर तो ईश्वरवादी इन कथनों को कुछ विशेष तथ्यों का वर्णन करने वाले संज्ञानात्मक कथन मानते हैं और दूसरी ओर इनका खण्डन करने वाले किसी तथ्य को स्वीकार नहीं करते ।

फ्लयू ने इन्ही विरोधाभास के कारण धार्मिक कथनों को अमिथ्यापनीय कहा था और इन्हें तथ्यात्मक रूप से निरर्थक माना था ।

क्रौम्बी धार्मिक कथनों के विरोधाभास के सन्दर्भ में कहते है - यह विरोधाभास हमारे लिए धार्मिक कथनों का अर्थ समझने में सहायक होते है । इनसे हमे यह स्पष्टतः

ज्ञात होता है कि धार्मिक कथनों का विषय ईश्वर कभी हमारे अनुभव का विषय नहीं हो सकता ।.... धार्मिक कथनों के विरोधाभासों से ही हम यह जान सकते है कि ये कथन किसी रहस्यपूर्ण सत्ता से सम्बन्धित है ।(३२)

क्रौम्बी के विचारों के अनुसार ईश्वर अनुभव और ज्ञान से परे है इसीलिए उसके विषय में भौतिक वस्तुओं के समान कथन करना असम्भव है । ईश्वर रहस्यात्मक सत्ता है जिसका स्पष्ट ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता है इसलिए यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि सामान्य अर्थ में ईश्वर की अवधारणा हमारे लिए बोधगम्य नहीं है ।

धार्मिक कथनों में पाए जाने वाले दूसरे प्रकार के विरोधाभास के सन्दर्भ में क्रौम्बी साम्यानुमान का आधार ग्रहण करते है और कहते है - 'ईश्वर विषयक धार्मिक कथन सामान्य अर्थ में तथ्यात्मक न होकर दृष्टान्त कथाओं पर आधारित प्रतीकात्मक कथन है । दृष्टान्त कथाएं प्रत्येक धर्म में पाई जाती है । धर्मपरायण व्यक्ति इन दृष्टान्त कथाओं की सहायता से ही धार्मिक कथनों का अर्थ समझता है और दैनिक जीवन में इनका सार्थक रूप में प्रयोग करता है । इस दृष्टि से ये दृष्टान्त कथाएँ धार्मिक कथनों की सार्थकता के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है । (३३)

दृष्टान्त कथाओं के अतिरिक्त साम्यानुमान भी ईश्वर विषयक धार्मिक कथनों की सार्थकता सिद्ध करने के प्रमुख आधार है । इन्हीं की सहायता से ईश्वर के लिए प्रयोग किए गए कथनों को समझा जा सकता है । ईश्वर के सन्दर्भ में प्रयुक्त किये गये शब्दों का और सामान्य सन्दर्भों में प्रयुक्त शब्दों का समान अर्थ न होते हुए भी दोनो में कुछ साम्य स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है । उदाहरण के लिए जब हम कहते है कि 'ईश्वर हमसे प्रेम करता है' इस कथन का अर्थ तभी समझा जा सकता है जब हम ईश्वरीय प्रेम और मानवीय प्रेम में कुछ सीमा तक साम्य स्वीकार करें । क्रौम्बी कहते है - मानवीय सन्दर्भ में ज्ञान, शुभत्व, शक्ति आदि का अर्थ जानने के कारण ही हम ईश्वर के सन्दर्भ में

सार्थकतापूर्वक इन गुणों को बात कर सकते है । मानवीय सन्दर्भ में इनके सार्थक प्रयोग के आधार पर ही हम ईश्वर के सन्दर्भ में इनका आंशिक अर्थ ग्रहण कर सकते है । यद्यपि दोनो सन्दर्भों मे उन शब्दों का अर्थ पूर्णतः समान नहीं होता लेकिन कुछ साम्य या सादृश्य अवश्य रहता है ।

क्रौम्बी स्वंय ईश्वरवादी है इसलिए वे धार्मिक कथनों को समस्त अवधारणाओं से परे होने के बाद भी तथ्यात्मक रूप में सार्थक मानते है । क्रौम्बी स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते है कि ईश्वर सम्बन्धी कथनों को दार्शनिक स्तर पर समझने में कठिनाई उत्पन्न होती है क्योंकि वह अचिन्त्य है लेकिन धार्मिक जन के लिए ऐसी कोई कठिनाई नहीं उत्पन्न होती है । क्रौम्बी के शब्दो में - धर्मपरायण व्यक्ति के लिए ईश्वर वह है जो उसकी पूंजी या उपासना का विषय है । शायद यही सर्वाधिक उपयुक्त उत्तर है जो हम दे सकते है । धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर सम्बन्धी किसी दार्शनिक विवाद में न उलझकर अपनी आस्था के आधार पर अपने आराध्य ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करता है ।(३४)

आई०टी रैम्से भी ईश्वर विषयक धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक मानते हुए प्रतिरूप-सिद्धान्त के. आधार पर इन कथनों की व्याख्या करते हैं । जिसके अनुसार ईश्वर के विषय के हम विभिन्न प्रतिरूपों के माध्यम से ही चर्चा कर सकते है । रैम्से ''प्रतिरूप' शब्द का प्रयोग विशेष पारिभाषिक अर्थ में करते है - सृष्ट्यात्मक प्रकटन में जो कुछ वस्तुगत रूप से अभिव्यक्त हुआ है धार्मिक प्रतिरूप उसे समझने का एक साधन है, अन्य सभी प्रतिरूपों की भाँति यह प्रतिरूप भी पूर्ण प्रतिकृति कभी नहीं होता । परन्तु यह सामान्य प्रतिरूपों से इस महत्वपूर्ण अर्थ में भिन्न होता है कि सामान्य प्रतिरूपों के विपरीत हमें इस प्रतिरूप के विषय का स्वरूपात्मक ज्ञान नहीं हो सकता ।(३५)

इस प्रकार रैम्से सामान्य प्रतिरूप और धार्मिक प्रतिरूप को भिन्न मानते है । इन दोनों में पाए जाने वाले अन्तर को वे इस उदाहरण से स्पष्ट करते है -

मान लीजिए एक बालक के पास खेलने के लिए एक रेलगाड़ी है जो चाभी भरने से चलती है । यह खिलौना (रेलगाड़ी) लोहे की पटरियों पर चलने वाली रेलगाड़ी का प्रतिरूप है यद्यपि यह प्रतिरूप अपूर्ण है क्योंकि इसमें वास्तविक रेलगाड़ी की अनेक विशेषताओं का अभाव है फिर भी इस प्रतिरूप और वास्तविक रेलगाड़ी में कुछ समानता है जिसके कारण हम इसे रेलगाड़ी कहते है ।

धार्मिक प्रतिरूप में भी सामान्य प्रतिरूप की कुछ विशेषताएं पाई जाती है । जैसे ईश्वर के गुणों और उसके कार्यों को समझने के लिए हम उसकी तुलना 'पिता' 'राजा' न्यायाधीश आदि से करते है । जिसका अर्थ है कि ईश्वर पिता की भाँति स्नेहपूर्वक पालन करता है, राजा की भाँति हमारी सुरक्षा का ध्यान रखता है और न्यायाधीश की भाँति हम सबके प्रति न्याय करता है । रैम्से के अनुसार -ऐसे बहुत से धार्मिक प्रतिरूप होते है और हो सकते है जिनके माध्यम से हम ईश्वर के विषय में चर्चा करते हैं । धार्मिक प्रतिरूपों से स्वतन्त्र इनके मूल विषयों का ज्ञान, हमे कभी नहीं प्राप्त हो सकता जबकि सामान्य प्रतिरूपों के मूल विषयों का ज्ञान हम स्वतन्त्र रूप से प्राप्त कर सकते है ।

धार्मिक प्रतिरूपों से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि क्या सभी धार्मिक प्रतिरूप ईश्वर के स्वरूप को समान रूप से व्यक्त करते है ? रैम्से इसका निषेधात्मक उत्तर देते हुए कहते है - ईश्वर सम्बन्धी चर्चा के लिए कुछ धार्मिक प्रतिरूप अन्य धार्मिक प्रतिरूपों की अपेक्षा अधिक सक्षम और उपयुक्त होते है । उदाहरण के लिए पिता, राजा, गड़ेरिया आदि धार्मिक प्रतिरूप शिल्पी, व्यापारी आदि धार्मिक प्रतिरूपों की तुलना में अधिक समर्थ हैं । धार्मिक प्रतिरूप अपूर्ण होते है क्योंकि कोई भी प्रतिरूप ईश्वर को उसके पूर्ण रूप में व्यक्त नहीं कर सकता, प्रतिरूपों की यह अपूर्णता कुछ सीमा में तब कम होती है जब कई प्रतिरूपों का एक साथ प्रयोग किया जाए । रैम्से का विचार है कि धार्मिक कथनों द्वारा ईश्वर का पूरी तरह व्यक्त न होना, उसका रहस्यमय स्वरूप, स्वरूप

को व्यक्त करने वाला विरोधाभास से युक्त भाषा, तथ्यात्मक रूप में उसे निरर्थक नहीं सिद्ध करते वल्कि इन्हीं के माध्यम से हम उसके वास्तविक स्वरूप तक पहुँचते हैं ।

रैम्से के ही समान पाल टिलिच भी धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक कहते है और इन कथनों की व्याख्या प्रतीक सिद्धान्त के आधार पर करते हैं । इस सिद्धान्त के अनुसार- ईश्वर समस्त अवधारणाओं से परे होने के कारण अबोधगम्य है । अतः इस परम सत्ता के सम्वन्ध में कुछ कहने के लिए विभिन्न प्रतीको की अनिवार्य रूप से सहायता लेनी पड़ती है । प्रतीकों के माध्यम से ही मनुष्य उस परम सत्ता के प्रति अपनी भावनाओं और अभिव्यक्तियों को व्यक्त कर सकता है । प्रतीको के माध्यम से परम सत्ता का अप्रत्यक्ष आभास मात्र होता है । परम सत्ता का पूर्ण ज्ञान असम्भव है अतः आभास कराने वाले प्रतीकों का विशेष महत्व हो जाता है ।

प्रतीकों के स्वरूप का वर्णन करते हुए टिलिच कहते है- 'प्रतीक का कार्य किसी व्यक्ति, राष्ट्र या सत्ता की ओर संकेत करना या उसका प्रतिनिधित्व करना है । उदाहरण के लिए किसी देश का झंडा उस देश के निवासियों के लिए उसके महत्व और गौरव का प्रतीक होता है जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है ' ।(३६)

यह प्रतीक अपने से पृथक किसी वस्तु की ओर संकेत करते है ।जिनका यह प्रतिनिधित्व करते है उनमें वे सहभागी होते है । यह अपनी विशेष शक्ति के कारण चिन्ह से पृथक होते है । चिन्ह और प्रतीक की भिन्नता प्रकट करते हुए टिलिच कहते है - 'हम अपनी इच्छानुसार एक चिन्ह के स्थान पर दूसरे चिन्ह का उपयोग कर सकते है । चिन्ह किसी प्रकार की अनिवार्यता के फलस्वरूप उत्पन्न नहीं होता क्योंकि इसमें अपनी कोई शक्ति अर्न्तनिहित नहीं रहती परन्तु प्रतीक में एक अनिवार्य गुण होता है और वह यह है कि, इसके स्थान पर किसी अन्य प्रतीक का प्रयोग नहीं किया जा सकता ।' प्रतीक जब समाज में स्वीकार कर लिया जाता है तभी सार्थक होता है और उसी रूप में

वह महत्वपूर्ण बनता है । इसमें संगठनात्मक और विघटनात्मक दोनों प्रकार की शक्तियाँ निहित रहती है । प्रतीकों को यह सारी विशेषताएँ धार्मिक प्रतीकों में भी विद्यमान रहती है फिर भी धार्मिक प्रतीक सामान्य प्रतीकों से भिन्न होते है क्योंकि सामान्य प्रतीक जिन वस्तुओं या व्यक्तियों की ओर संकेत करते है उन्हें प्रतीकों की सहायता के बिना भी जाना जा सकता है लेकिन धार्मिक प्रतीक जिस परमसत्ता की ओर संकेत करते है उन्हे इन प्रतीकों के अभाव में जानना असम्भव है । धार्मिक प्रतीकों द्वारा सांकेतिक विषय समस्त सांसारिक वस्तुओं से परे है ।

धार्मिक प्रतीकों का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है । ईश्वर, देवता, धर्मगुरू, धर्मग्रन्थ सभी धार्मिक प्रतीक है । भक्तों का उपास्य सगुण और साकार ईश्वर एक धार्मिक प्रतीक मात्र है जो निरूपाधिक इन्द्रियातीत सत्ता की और संकेत करता है ।

टिलिच के अनुसार ईश्वर शब्द के दो अर्थ है- निरूपाधिक इन्द्रियातीत सत्ता जो अज्ञेय है दूसरा सगुण और साकार ईश्वर जो भक्तों की उपासना का विषय है । प्रथम अर्थ में ईश्वर परमसत्ता है दूसरे अर्थ में धार्मिक प्रतीक मात्र है । प्रथम अर्थ में वह ब्रह्माण्ड की अन्तिम सत्ता है । जबकि दूसरे अर्थ में वह धार्मिक चेतना का विषय है । ईश्वर का निरूपाधिक रूप बीइंग-इटसेल्फ है जो कोई वस्तु व्यक्ति या प्राणी नहीं है । यह समस्त अस्तित्ववान पदार्थों और प्राणियों का मूल आधार होते हुए भी उनसे भिन्न है । ईश्वर का यह स्वरूप अपरिभाष्य और अवर्णनीय है क्योंकि यह समस्त अवधारणाओं से परे है ।

टिलिच के अनुसार धार्मिक प्रतीक सत्स्वरूप या बीइंग-इटसेल्फ के प्रति मनुष्य की संलग्नता प्रकट करते है अर्थात् इन प्रतीकों के माध्यम से मनुष्य इस सत्ता को सर्वोच्च मूल्य प्रदान करता है । उसके प्रति वह पूर्णतः समर्पित है । इस समर्पण में ही उसे जीवन की सार्थकता प्रतीत होती है ।

अपनी प्रथम कृति ट्रैक्टेटस लाजिको फिलॉसफिकम में चित्र सिद्धान्त के आधार पर लुडविग विट्गिन्स्टाइन ने कहा था- यदि किसी शब्द के अनुसार कोई भी वस्तु सम्बन्ध या क्रिया नहीं है तो वह शब्द निरर्थक है । सार्थक शब्द वे है जो हमे किसी विशेष व्यक्ति, क्रिया या सम्बन्ध का वोध कराते हुए किसी संसारिक स्थिति से अवगत कराते है । लेकिन अपनी दूसरी पुस्तक फिलॉसाफिकल इन्वैस्टिगेशन में वे अपने उपरोक्त सिद्धान्त का खण्डन करते हुए भाषा की अनेकार्थकता का सिद्धान्त प्रतिपादित करते है । जिसमें उन्होंने स्वीकार किया कि भाषा का कोई एक कार्य नही है उसके विविध उपयोग है और उपयोग के अलग अलग सन्दर्भों में कथनों के अर्थ भी भिन्न भिन्न हो जाते है । उन्होने स्वंय कहा- सभी सन्दर्भो में किसी शब्द या कथन का एक ही अर्थ निश्चित कर देना न तो सम्भव है और न उचित । वस्तुतः विविध प्रसंगो में शब्दों के उपयोग के अनुसार ही उनका अर्थ निर्धारित किया जा सकता है । किसी शब्द या कथन का ठीक-ठीक अर्थ जानने के लिए उस विशेष सन्दर्भ में उसका उपयोग समझना आवश्यक है जिसमें वह कहा गया हो । इसका कारण यह है कि किसी शब्द अथवा कथन का वास्तविक अर्थ उसके उपयोग में ही निहित रहता है । ऐसी स्थित में हमे भाषा के अर्थ के विषय में प्रश्न न उठाकर उसके उपयोग के सम्बन्ध में प्रश्न उठाना चाहिए । हमे यह पूछना चाहिए कि किसी विशेष सन्दर्भ में अमुक शब्द या वाक्य का उपयोग किस प्रकार किया जाता है ।(३७)

भाषा सम्बन्धी समस्याओं का सामना तब करना पड़ता है जब शब्दों का प्रयोग सामान्य प्रसंगों से पूर्णतः भिन्न प्रसंगों में होता है । भाषा के विभिन्न प्रसंगो को विट्गिन्स्टाइन भाषा के विविध खेल कहते है जो हमारी विभिन्न जीवन पद्धतियों से सम्बन्धित होते है और अलग-अलग नियमों के अनुसार खेले जाते है । प्रत्येक जीवन पद्धति अपने आप में पूर्ण और सार्थक होती है । अतः किसी विशेष जीवन पद्धति से सम्बद्ध भाषा के खेल की सार्थकता की परीक्षा उसी के नियमों के अनुसार की जानी चाहिए ।

विट्गिन्स्टाइन के इस विचार का समर्थन डी०जेड० फिलिप्स, नार्मन मैल्कम, पीटर विंच, पाल होमर आदि दार्शनिकों ने किया और धार्मिक विश्वास एवम् कथनों को सार्थक माना ।

धार्मिक विश्वास के सन्दर्भ में विट्गिन्स्टाइन का कथन है कि वह हमारे सामान्य अनुभवाश्रित विश्वासों और वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं से भिन्न होता है । धार्मिक विश्वास हमे किन्हीं तथ्यों से नहीं अवगत कराते वल्कि यह हमारे जीवन को नियमित करते हैं । धार्मिक विश्वास आस्था से सम्बद्ध है इसलिए वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं की तरह इन्हें तर्को या प्रमाणों से पुष्ट नहीं किया जा सकता । धार्मिक विश्वास से मनुष्य के जीवन में उस विश्वास के अनुरूप जीवन पद्धति निर्मित करने की प्रतिबद्धता उत्पन्न होती है ।

धार्मिक विश्वास की नियामक शक्ति और उसमें पाई जाने वाली मनुष्य की पूर्ण प्रतिवद्धता को स्पष्ट करते हुए विट्गिन्स्टाइन यह उदाहरण प्रस्तुत करते है - ईसाईयों का यह धार्मिक विश्वास है कि अन्तिम निर्णय के दिन ईश्वर सभी मनुष्यों के विषय में उनके कर्मो के अनुसार अपना निर्णय देगा । इस विश्वास का अर्थ यह नहीं है कि सुदूर भविष्य में कोई विशेष घटना घटित होगी जिसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में हम वाद-विवाद कर सकते है । इसका अर्थ केवल यही है कि इसे स्वीकार करने वाले व्यक्ति विशेष प्रकार से अपना जीवन व्यतीत करेगें । उनका आचरण ऐसे व्यक्तियों के आचरण से भिन्न होगा जो इस विश्वास को स्वीकार नहीं करेगे । विट्गिन्स्टाइन कहते है - 'मान लीजिए किसी व्यक्ति ने अन्तिम निर्णय सम्बन्धी अपने विश्वास को जीवन का मार्ग दर्शक वना लिया है । वह जब भी कुछ करता है यह विश्वास उसके समक्ष उपस्थित होता है । ......उसके लिए यह एक ऐसा विश्वास है जिसका खण्डन करना सम्भव नहीं है । इसे सामान्य प्रमाणों या तर्को द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता, इसकी अभिव्यक्ति उस मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन में नियमन के रूप में होगी ।

धर्मपरायण व्यक्ति धार्मिक कथनों द्वारा जीवन और जगत के विषय में जो विचार भावनाएं व्यक्त करता है उन्हें अन्य धर्मपरायण व्यक्ति भली भाँति समझते है । यही धार्मिक कथनों की सार्थकता की कसौटी है । धार्मिक कथनों का महत्व उनकी सार्थकता का प्रमाण है । इन कथनों के अर्थ को धार्मिक सन्दर्भों में ही निर्धारित करना चाहिए क्योंकि धार्मिक सन्दर्भ से परे सत्यापनीयता, मिथ्यापनीयता या किसी अन्य बाह्य कसौटी को आधार मानकर हम धार्मिक कथनों की समुचित व्याख्या करने में समर्थ नहीं हो सकते । कथनों के अर्थ प्रसंगानुसार अलग-अलग है । अतः धार्मिक भाषा के अर्थ और प्रयोजन को धार्मिक जीवन पद्धति में ही समझा जा सकता है ।

विट्गिन्स्टाइन के प्रमुख समर्थक डॉ०जेड फिलिप्स कहते है धार्मिक कथनों द्वारा धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर के प्रति विश्वास और भावनाओं को प्रकट करता है लेकिन दार्शनिको ने भूल से यह मान लिया कि इच्छा, प्रेम अस्तित्व आदि शब्द ईश्वर के सन्दर्भ में भी वही अर्थ रखते है जो अर्थ मनुष्य और वस्तुओं के सन्दर्भ मे होते है ।

लेकिन धार्मिक भाषा का विश्लेषण इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में इन शब्दों के अर्थ अलग होते इसलिए धार्मिक संदर्भ में ईश्वर के लिए प्रयुक्त शब्दों को उनके वास्तविक अर्थ में समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि धर्मपरायण व्यक्ति किन परिस्थितियों में किस उद्देश्य से इन शब्दों का प्रयोग करते है । अधिकांश समकालीन विचारक जो धार्मिक कथनों की सार्थकता धर्म से बाहर किसी वस्तुगत कसौटी के आधार पर करते है इसलिए वे इनकी सार्थकता और उपयोगिता को समझने से वंचित रह जाते है ।

सन्दर्भ

(१) ए० जे० एयर लैंग्वेज ट्रूथ एण्ड लॉजिक द्वितीय संस्करण १९५८ पृ० ४१

(२) वही पुस्तक, पृ० ३४, ११७

(३) वहां पृष्ठ ११८

(४) वहा पृष्ठ ११९

(५) लेजरोवात्ज, दो पाजिटिविस्ट व्यूज आफ नानसेन्स, माइन्ड, वाल्यूम ५५, १९४६ पृ० २५४

(६) जे०ओ०विज़डम मेटामारफोसिस ऑफ वेरिफाएविलिटि ऑफ मिनिंग, माइंड जुलाई १९६३ पृ० मं० ३३५-३३६

(७) फ्रेडरिक फेरे, लैंग्वेज एण्ड गॉड, पृ० ४२-४३

(८) एयर. ए.जे. लैंग्वेज ट्रूथ एण्ड लॉजिक द्वितीय संस्करण

(९) न्यू एसेज इन फिलॉसोफिकल थियॉलाजी संपादन ए.फ्ल्यू और ए० मैकिन्ययर पृ० ९८

(१०) कार्ल पॉपर दि लॉजिक ऑफ सांइटिफिक डिस्कवरी पृ० ४०

(११) न्यू एसेज डन फिलासॉफिकल थियोलॉजी पृ० ९६

(१२) वहो, संपादन फ्ल्यू एण्ड मैकिन्ययर(एस.सी.एम. प्रेस १९५८) पृ० ९८

(१३) बेसिल मिचल, न्यू एसेज इन फिलॉसोफिकल थियोलॉजो

(१४) वहीं, पृ० १०३-१०४

(१५) जेम्स केलनबरगर - रिलीजियस डिस्कवरी - फेथ एण्ड नॉलेज पृ० १५६-१५७

(१६) आर. एस. हामबेक-थियोलॉजा एण्ड मीनिंग, पृ० ८०-८२

(१७) वहां, पृष्ठ ११२

(१८) आर.एम. हेयर, न्यू एसेज इन फिलॉसाफिकल थियोलॉजी सम्पादक-ए.फ्ल्यू और ए. मैकिन्ययर पृ० ९९

(१९) आर. एम. हेयर का लेख- रिलिजन एण्ड मॉरल्स, बेसिल मिचल द्वारा सम्पादित

(२०) आर. वी. ब्रेथवेट - एन इंम्पिरिसिस्टस व्यू ऑफ दि नेचर ऑफ रिलिजियस बिलीफ पृ० ३

(२१) आर डब्लू हैप्वर्न - क्रिश्चयोनिटो एण्ड पैराडॉक्स पृ० १९५

(२२) विट्गिन्स्टाइन लुडविग - ट्रैक्टेटस लॉजिको फिलासिफिक्स

(२३) न्यू एसेज इन फिलासाफिकल थियोलॉजी पृष्ठ १३९-१४०

(२४) हिक जान स्कैप्टिक्स एण्ड बिलीवर्स- फेथ एण्ड द फिलासफर्स सम्पादन जान हिक पृष्ठ २४९

(२५) हिक जॉन ''थियोलॉजी एण्ड वैरीफिकेशन, '' द फिलॉसाफी आफ रिलीजन एडिटेड वाय मिचल वो ' ।

(२६) एन्टोनी फ्ल्यू का लेख, डेथ न्यू एसेज इन फिलासाफिकल थियोलॉजी, कैन एमैन विटनेस हिज ओन फयूनरल हिबर्ट जनरल १९५६

(२७) हिक जान थियोलॉजी एण्ड वैरीफिकेशन, '' द फिलासॉफी आफ रिलिजन, सम्पादन बेसिल मिचल पृ० ६६.६७

(२८) वही पुस्तक पृष्ठ ७०

(२९) मैल्कम नार्मन इज इट ए रिलीजस बिलीफ दैट गाड एग्जिस्ट्स, फेथ एण्ड द फिलासफर्स सम्पादक जान हिक पृ० १०७-१०८

(३०) हिक जान , फेथ एण्ड नालेज प्रथम संस्करण पृ० १५३-१५४

(३१) क्रौम्बी आई.एम. का लेख दि पॉसिबिलिटी आफ थियोलॉजीजिकल स्टेटमेन्टस्, फेथ एण्ड लॉजिक, '' सम्पादक बेसिल मिचल पृ० ३९-४१

(३२) वही पुस्तक पृ० ३३-३४

(३३) क्रौम्बी आई.एम. का लेख, थियोलाजी एण्ड फाल्सिफिकेशन,-न्यू एसेज इन फिलासॉफिकल थियोलॉजी सम्पादक ए फल्यू और ए० मैकिन्टायर, पृ० १२०

(३४) फेथ एण्ड लाजिक सम्पादक बेसिल मिचल पृ० ६२-७१

(३५) रैम्से आई०टी० का लेख- दि लाजिकल स्ट्रक्चर आफ रिलीजियस लैंग्वेज- माडल्स एण्ड रिस्क्लोयर्स वर्डस अबाउट गॉड , सम्पादक- आई०टी०रैम्से ।

(३६) टिलिच पाल का लेख, दि मोनिंग एण्ड जस्टिफिकेशन आफ रिलीजियस सिम्बल्स, रिलाजियस एक्सपेरिमेन्टस एण्ड ट्रुथ, सम्पादक सिडनी हुक पृ ३

(३७) विट्गिन्स्टाइन लुडविग फिलासाफिकल इन्वेस्टिगेशन्स अनुच्छेद २०

निष्कर्ष

निष्कर्ष

मानव सभ्यता के प्रारम्भिक युग में मनुष्य ने अपने भौतिक सुखों और जीवन को सुरक्षित करने के लिए अलौकिक शक्तियों में विश्वास किया । जैसे जैसे ज्ञान का विकास हुआ वैसे-वैसे मनुष्य का यह विश्वास विभिन्न सिद्धान्तों के रूप में अभिव्यक्त होने लगा । इसी क्रम में ईश्वर एक है या अनेक इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में अनेकेश्वरवाद, विकल्पेश्वरवाद और एकेश्वरवाद सिद्धान्त विकसित हुए । एकेश्वरवाद मानव चेतना के परिपक्व विचारों की अभिव्यक्ति है । विभिन्न धर्मो में ईश्वर की परिकल्पना इसी सिद्धान्त के अनुरूप हुई और ईश्वर को नैतिक और तात्विक गुणों से पूर्ण सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, अपरिमित, नित्य सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया । जिसमें प्रेम शुभता, करूणा, परोपकार, न्याय, उदारता, क्षमाशीलता आदि गुण अपनी पूर्णता में विद्यमान है ।

ईश्वर को निर्गुण और सगुण दोनो रूपों में स्वीकार किया गया । ईश्वरवादी विचारकों का एक वर्ग ईश्वर को निराकार निर्विशेष और व्यक्तित्व रहित सत्ता मानता है जिसे अनुभूति (निर्विकल्प) के स्तर पर प्राप्त किया जा सकता है । इस अनुभूति में जीव और जगत का ईश्वर से तादात्म्य स्थापित हो जाता है ।

ईश्वरवादी विचारकों का दूसरा वर्ग ईश्वर को सगुण, सविशेष व्यक्तित्व सम्पन्न सत्ता के रूप में ग्रहण करता है । इस रूप में ईश्वर जगत का सृष्टा, पालक और सहांरक है । ईश्वर और जगत का सम्बन्ध मुख्यतः निमित्तेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद और ईश्वरवाद सिद्धान्तों में व्यक्त हुआ ।

ईश्वर को स्वीकार करने का प्रमुख आधार तर्क, श्रुति, और आस्था है । तर्क से ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए प्रत्यय सत्ता तर्क, विश्वमूलक तर्क, प्रयोजनमूलक तर्क और नैतिकमूलक तर्क, प्रतिपादित किए गए । यह सभी तर्क तार्किक असंगतताओं के कारण ईश्वर अस्तित्व को प्रमाणित करने में सफल नहीं हुए ।

तार्किक अनुभवाद में एयर आदि विचारकों ने ईश्वर सम्बन्धी कथनों का जिसमें ईश्वर अस्तित्व भी शमिल है तार्किक रूप से निरर्थक माना । तथ्यात्मक निरर्थकता सिद्ध करने के बाद भी वे इन कथनों के संवेगात्मक महत्व कों स्वीकार करते है । इसके विपरीत हिक क्रौम्बी आदि विचारक ईश्वर सम्बन्धी कथनों को तथ्यात्मक मानते है । जिसका आधार श्रुति है । ईश्वर अतीन्द्रिय सत्ता है । अतीन्द्रिय सत्ता से सम्बन्धित होने के कारण यह ज्ञान आनुभविक ज्ञान से भिन्न अनिवार्य सत्य और अपरिवर्तनीय है । जिसे तर्क से नहीं प्रमाणित किया जा सकता है । आस्था और श्रुतियों के आधार पर ईश्वर के ज्ञान को स्वीकार किया जा सकता है । हिक ने स्वीकार किया था कि ईश्वर के सम्बन्ध में हमारे विश्वासों का अनुभवाश्रित सत्यापन सम्भव नहीं है क्योंकि यह विश्वास हमारे अनुभव पर आधारित नहीं है । स्वंय ईश्वर ही अपने असीमित और शाश्वत स्वरूप को जानता है और हमें उसका ज्ञान अप्रत्यक्ष रूप से कुछ महान संतों अथवा धर्मगुरूओं के आप्तवचनों के माध्यम से ही प्राप्त होता है । संतों अथवा धर्मगुरूओं के लिए ईश्वर स्वयं अपने स्वरूप को व्यक्त करता है । एच०डी०लेविस भी श्रुति को धार्मिक ज्ञान प्राप्त करने का महत्वपूर्ण साधन मानते हैं । लेविस कहते है श्रुति के माध्यम से ईश्वर हमे बताता है कि उसका स्वरूप क्या है और वह हमसे क्या आशा करता है । ईश्वर हमें उन अनुभवों द्वारा अपने विषय में संकेत देता है । जिनसे हम परिचित है और जिनके माध्यम से उसे हम समझ सकते है । इस प्रकार ईश्वर संसार या मनुष्यों के माध्यम से हमें अपने विषय में ज्ञान प्रदान करता है ।

अतः श्रुति को भी ईश्वर से सम्बन्धित ज्ञान प्रकट करने का तर्क संगत आधार नहीं स्वीकार किया जा सकता है । सर्वप्रथम जिन मनुष्यों के माध्यम से यह विचार हम तक पहुँचता है वह वास्तव में ईश्वर के विचार हैं या स्वंय उस माध्यम रूप जन के । यह निर्धारित करने की कोई कसौटी नहीं हैं । इसकें अतिरिक्त श्रुतियों से प्राप्त परस्पर विरोधी विचार भी इनकी प्रमाणिकता में बाधक है ।

धार्मिक ज्ञान को स्वीकार करने का अन्य महत्वपूर्ण स्त्रोत धार्मिक अनुभूति है । इन दार्शनिकों का विचार है कि एक विशेष प्रकार के धार्मिक अनुभव में ईश्वर का उसी प्रकार स्पष्ट और सन्देहरहित ज्ञान प्राप्त होता है जैसा इन्द्रियजन्य अनुभव में भौतिक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है । यह विशेष अनुभव इसीलिए होता है क्योंकि ईश्वर का अस्तित्व है । इसी अनुभूति को तार्किक रूप प्रदान कर धार्मिक अनुभूति पर आधारित तर्क प्रस्तुत किया गया था । डेविड एल्टन ट्रूब्लड, एच० एस० फामर धार्मिक अनुभुति को ईश्वर से सम्वन्धित ज्ञान का आधार स्वीकार करते है । ट्रूब्लड कहते है :- ''लाखों व्यक्तियों ने यह बताया है और अब भी बता रहे है कि उन्होने ईश्वर को उसी प्रत्यक्षता और गहराई से जाना है जिससे वे अन्य व्यक्तियों और भौतिक वस्तुओं को जानते है । .....यह तथ्य अनेक सभ्यताओं और अनेक युगों का प्रतिनिधित्व करने वाले वहुत से व्यक्तियों ने जिनमें बहुत वड़ी संख्या ऐसे मनुष्यों की है जिन्हें सामान्यतः श्रेष्ठतम और सर्वाधिक बुद्धिमान मनुष्य माना जाता रहा है - प्रत्यक्ष धार्मिक अनुभव का विवरण दिया है, हमारे संसार के सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्यों में एक है । उनके विवरण जिनमे वे ईश्वर अनुभूति का दावा करते है वह इतना विशाल और इतने व्यापक रूप में प्रस्तुत किया गया है कि कोई भी दर्शन उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता । ...ऐसी स्थिति में यह समझना आवश्यक है कि हमारे समक्ष दो ही विकल्प रह जाते है या तो ईश्वर है अथवा वे सभी जिन्होने उसे जानने का दावा किया है भ्रम में हैं ।

धार्मिक अनुभव सम्वन्धी यह तर्क व्यक्तिनिष्ठ मानसिक अनुभव होने के कारण वस्तुपरक रूप से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में असमर्थ हैं । ईश्वर

से सम्बन्धित यह अनुभव अवर्णनीय है । अतः धार्मिक अनुभव से उनका क्या तात्पर्य है, इसका अस्पष्ट होना, अवर्णननीय होना आदि कुछ ऐसे कारण है जो ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में धार्मिक अनुभव को सक्षम आधार नहीं प्रमाणित करते ।

ईश्वर को स्वीकार करने का अन्य प्रमुख आधार आस्था भी है । अस्तित्ववादी दार्शनिक तर्क बुद्धि और श्रुति पर आधारित व्यक्तित्व सम्पन्न ईश्वर विचार का विरोध करते है क्योकि ईश्वर वस्तुनिष्ठ सत्ता नहीं है उसे बाह्य रूप में खोजना निरर्थक है । इसीलिए अस्तित्ववादी विचारकों ने गिरजाघर और धर्म को प्रभुता का विरोध किया । उनके दर्शन का लक्ष्य असुरक्षा और वस्तुता से मुक्त स्वतन्त्र जीवन जाते हुए अस्तित्व की गहनता का अनुभव करना था । इसी गहनता में डूबकर अस्तित्ववादी ईश्वरवादी विचारक आस्था प्राप्त कर लेते है ।

अस्तित्ववादी विचारकों के अनुसार सांसारिकता और निरपेक्षता में एक का चयन करने के द्वन्द में आस्था उत्पन्न होती है । द्वन्द के परिणाम रूप विषाद से उत्पन्न आस्था में यह विश्वास होता है कि हमारे अन्तरतम में विद्यमान ईश्वर हमारी अवश्य सहायता करेगा । आस्था के इस स्तर पर संस्थागत नैतिक और धार्मिक आदेश नगण्य हो जाते है और व्यक्ति के अन्तर में उत्पन्न आदेश महत्वपूर्ण हो जाते है । इन आदेशों के प्रति वह निरपेक्ष रूप से समर्पित है इस समर्पण की कोई व्याख्या सम्भव नहीं हैं । इसीलिए किर्केगार्ड ने कहा था - आस्था का यह रूप बुद्धिको किसी प्रकार ग्राह्य नहीं है क्योंकि बुद्धि इसे किसी सार्वभौम अवधारणा पर उतार नहीं पाती है । बुद्धि द्वारा अप्रमाणित आस्था के आधार पर मनुष्य अपनी अपूर्णता की चेतना से समझौता करने में सक्षम होता है। इस अपूर्णता के सन्दर्भ में किर्केगार्ड का कथन है :-

''मनुष्य एक विशाल खाई द्वारा ईश्वर से पृथक है अतः अपने प्रयासों से न तो वह शुभत्व को प्राप्त कर सकता है न आस्था को । उसे अज्ञात में छलांग मारने

का जोखिम उठाना होगा । जोखिम उठाने पर उसका पुरस्कार प्राप्त होता है ईश्वर सम्बन्ध स्थापना के रूप में, लेकिन एक बार ईश्वर को अस्वीकार कर देने पर खाई का दूसरा किनारा लुप्त हो जाता है और पूर्ण शून्य रह जाता है ।

मार्सल ने भी कहा था मनुष्य एकान्त में रहने वाला नहीं है वह अपने परिवेश और परिस्थितियों से प्रभावित होता है । संसार में अपनी वास्तविकता के बोध से उसे संताप होता है और सन्ताप को दूर करने के लिए वह अपनी आन्तरिकता में ईश्वर से सम्बन्धित होता है जिसे वह वस्तुनिष्ठ रूप में नहीं वरन् अपने अस्तित्व में ही मैं-तू के पारस्परिक सम्बन्ध से प्राप्त करता है । यह सम्बन्ध चिन्तन और विश्लेषण का विषय नहीं है अनुभव का विषय है । यह अनुभव विशुद्ध रूप से आस्था पर आधारित है । मार्सेल के अनुसार-

ईश्वर प्राप्ति के लिए बुद्धि, श्रद्धा, प्रेम, भक्ति और आन्तरिक अनुभूति का समग्रता में प्रयोग करना चाहिए । बुद्धि का प्रयोग मात्र यह बताता है कि ईश्वर विषय रूप नहीं है अतः उसका अनुभव करने के लिए आस्था भाव होना चाहिए । भक्ति भाव से सब कुछ समर्पित कर अन्तःनुभूति में प्रवेश करना चाहिए । आस्था से युक्त भक्ति भाव में ईश्वर का अनुभव होता है । ईश्वर हर व्यक्ति के अन्तःकरण में है जो आन्तरिकता की गहनता में प्रवेश करता है उसे ईश्वर की प्राप्ति होती है ।

यास्पर्स ने कहा सत्ता का अभिग्रहण तभी सम्भव है जब मनुष्य अपने को चेतना से उन्मुक्त करता है । चेतना की उन्मुक्तता प्राप्त होती है बुद्धि की असमर्थता के अनुभव से । चेतना की यह उन्मुक्तता दार्शनिक आस्था है । चरम स्थितियों में सब कुछ निरूद्देश्य और निरर्थक प्रतीत होता है । इस निरर्थकता की अनुभति में आन्तरिक विह्वलता होती है । आन्तरिक विह्वलता की अनुभति में आस्था उत्पन्न होती है । यह आस्था अन्धविश्वास नहीं है बल्कि आस्था ईश्वर की ओर बढ़ने का सोपान है । आस्था के उपरान्त ही मनुष्य ज्ञान के सामान्य तरीकों का अतिक्रमण करता है ।

इस प्रकार सभी अस्तित्ववादी ईश्वरवादी विचारकों के ईश्वर को स्वीकार करने का आधार आस्था है ।जिसकी कोई निश्चित स्पष्ट और सर्वमान्य परिभाषा देना असम्भव है क्योंकि विभिन्न सन्दर्भों में आस्था शब्द का प्रयोग भिन्न भिन्न होता है ।

श्रद्धामूलक आस्था में किसी व्यक्ति सिद्धान्त, मूल्य या दैवी शक्ति में दृढ़ विश्वास को प्रकट किया जाता है । जबकि संज्ञानात्मक अर्थ में आस्था शब्द का प्रयोग ज्ञान प्राप्ति के अर्थ में करते है । जॉन हिक के अनुसार- आस्था शब्द का प्रयोग संज्ञानात्मक और असंज्ञानात्मक दोनों अर्थों में किया जाता है । एक ओर तो हम यह कहतें है कि ईश्वर का अस्तित्व है और उसके सम्बन्ध में अमुक अमुक कथन सत्य है । यहाँ आस्था शब्द का प्रयोग संज्ञानात्मक अर्थ में हुआ है ।.......जिसकी तुलना जानने अथवा विश्वास से की जा सकती हे । दूसरी ओर हम आस्था शब्द का प्रयोग अपने इस विश्वास के लिए करते हैं कि हमारे प्रति ईश्वर का प्रयोजन पूर्णतः शुभ और स्नेहपूर्ण है और कभी कभी विरोधी प्रमाणों के होते हुए भी हम अपने इस विश्वास को बनाए रखते हैं । यह ऐसा धार्मिक विश्वास है जिसकी तुलना किसी अन्य व्यक्ति में हमारे विश्वास के साथ की जा सकती है ।

आस्था को परिभाषित करते हुए कहा गया- आस्था मनुष्य का वह दृढ़ विश्वास है जो उसे कोई कर्म करने या न करने के लिए प्रेरित करता है । जिसमें आस्था के विषय के प्रति उसकी प्रतिबद्धता निहित रहती है और जिसे वह किसी ऐसे स्त्रोत से प्राप्त करता है जो उसकी श्रद्धा या आदर का विषय है । क्योंकि अस्तित्ववादियों की श्रद्धा मानव में है।इसलिए मानवीय अस्तित्व के विश्लेषण में वह ईश्वर आस्था प्राप्त कर लेते हैं ।

सामान्य बौद्धिक विश्वास और आस्था में अन्तर है । बौद्धिक विश्वास अस्थाई होता है जिसका त्याग विरोधी प्रमाणों की प्राप्ति के फलस्वरूप सम्भव है । उसमें समयानुकूल परिवर्तन की सम्भावना है लेकिन आस्था अत्यन्त गहरी और दृढ़ होती है

जिसमें परिवर्तन और त्याग की बहुत क्षीण आशा रहती है । आस्था की इन्ही विशेषताओं के कारण आस्था का परित्याग अत्यन्त कष्टकारी होता है । कभी-कभी तो मनुष्य अपनी आस्था की रक्षा के लिए जीवन का भी बलिदान कर देता है । किर्केगार्ड द्वारा प्रस्तुत अब्राहम की कहानी आस्था का ऐसा ही दृष्टान्त है । मनुष्य अपनी आस्था के विषय के प्रति विशेष स्नेह आदर श्रद्धा और प्रतिबद्धता का अनुभव करता है जिसमें उसकी पूर्ण निष्ठा होती है । आस्था की यह विशेषताएँ विश्वास में नही होती अतः दोनों भिन्न हैं ।

आस्था के विषयों का पर्याप्त और विश्वसनीय प्रमाणों द्वारा असन्दिग्ध ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता । पर्याप्त और वस्तुपरक प्रमाणों का अभाव आस्था की अनिवार्य शर्त है । ईश्वर आस्था इसका स्पष्ट उदाहरण है । वस्तुनिष्ठ प्रमाणों के आधार पर असंदिग्ध रूप से ईश्वर के अस्तित्व और गुणों को प्रमाणित न कर सकने के कारण ही ईश्वर को स्वीकार करने का प्रमुख आधार आस्था बनी । संज्ञानात्मक अर्थ में आस्था तर्क बुद्रि पर आधारित न होकर किसी आप्त ग्रन्थ या महान व्यक्ति के आप्तवचनों पर आधारित होती है । आस्थापरक सिद्धान्तों का आलोचनात्मक मूल्यांकन नहीं होता । श्रद्धामूलक आस्था के लिए आस्थावान व्यक्ति का आस्था के विषय के साथ दीर्घकालीन सम्पर्क उसके प्रति मन में विशेष आदर तथा प्रशन्सा का भाव होना आवश्यक है । धर्मपरायण व्यक्ति में ईश्वर आस्था का आधार उसके महान गुण, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमानता, सर्वव्यापकता आदि है । आस्था मूलतः संवेगात्मक होती है । अस्तित्ववादियों में आस्था इस रूप में नहीं उत्पन्न होती बल्कि मनुष्य को अपनी सीमितता, बाधाओं और चरमस्थितियों से अपनी अपूर्णता और विवशता का ज्ञान होता है जिससे उत्पन्न निराशा से बचने के लिए वह ईश्वर में आस्था रखता है ।

प्रश्न उठता है कि क्या आस्था को ज्ञान का स्त्रोत माना जा सकता है ? उसमें ज्ञान कहलाने के लिए आवश्यक तीनों शर्तें पूरी होती है या नहीं ?

ज्ञान की पहली शर्त है ज्ञाता का ज्ञेय कथन में विश्वास करना । आस्थावान व्यक्ति अपनी आस्था के आधार पर जो कुछ जानता है उसमें पूर्णतः विश्वास करता है । लेकिन उसका विश्वास पर्याप्त और विश्वसनीय प्रमाणों पर आधारित नहीं होता है । सामान्य ज्ञाता विश्वास की पुष्टि प्रमाणों द्वारा न होने पर उसका त्याग कर देता है लेकिन आस्थावान व्यक्ति की अपने विश्वास के साथ गहरी भावनाएं जुड़ी रहती है।अतः वह अप्रमाणित होने पर भी अपने विश्वास को त्यागनें में तत्पर नहीं होता । अतः आस्था से प्राप्त विश्वास, तटस्थ और तर्कसंगत विश्वास नहीं है । अतः आस्थापरक ज्ञान, ज्ञान कहलाने की प्रथम शर्त के अनुरूप नहीं है । ज्ञान की दूसरी शर्त है सत्यता । यह भी आस्था के सन्दर्भ में पूर्ण नहीं होती क्योकि आस्थापरक ज्ञान के मिथ्या होने की सम्भावना भी हो सकती है ।

ज्ञान की तीसरी शर्त है ज्ञान को पर्याप्त और विश्वसनीय प्रमाणों पर आधारित होना चाहिए । लेकिन आस्था के विषयों की पुष्टि के लिए कोई वस्तुपरक प्रमाण प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है । उन्हें केवल व्यक्तिनिष्ठ प्रमाणों के आधार पर ही सत्य माना जा सकता है । यह व्यक्तिनिष्ठ प्रमाण अपर्याप्त और अविश्वसनीय भी हो सकते है अतः इन्हे ज्ञान नहीं कहा जा सकता ।

आस्था का संवेगात्मक और अनिश्चयात्मक स्वरूप भी ज्ञान कहलाने में बाधक है । अतः आस्था ज्ञान से भिन्न है ।

आस्था को ज्ञान का आधार न स्वीकार करने वाले दार्शनिक प्रायः जिन विषयों को अनुभव और निरीक्षण द्वारा नहीं प्राप्त कर पाते उन्हें आस्था के आधार पर स्वीकार कर लेते है । अतः आस्था ज्ञान की अपेक्षा दृढ़ विश्वास है ।

आस्था दो प्रकार की होती है धार्मिक आस्था और धर्म निरपेक्ष आस्था । ईश्वर या अन्य उपास्य विषय में मनुष्य जो अखण्ड आस्था रखता है वह धार्मिक आस्था है । जिसमें आस्था के विषय के प्रति श्रद्धा, पूजा, प्रेम, आदर और पूर्ण समर्पण की भावनाएं सम्मिलित रहती है । मैल्काम कहते है :-

'' ईश्वर में हमारा विश्वास कोई सैद्धान्तिक विश्वास नहीं है इस विश्वास में हमारा भावनात्मक दृष्टिकोण भी निहित रहता है । प्राइस कहते है- धार्मिक आस्था के लिए उपास्य विषय में प्रति पूजा और समर्पण का भाव अनिवार्य है - कोई व्यक्ति यह विश्वास कर सकता है कि ईश्वर का अस्तित्व है और वह सबसे प्रेम करता है । इन कथनों में उसका पूर्ण और दृढ़ विश्वास हो सकता है । फिर भी ऐसा व्यक्ति पूर्णतः अधार्मिक हो सकता है । यह सम्भव है कि उसकी ईश्वर में बिल्कुल आस्था न हो अर्थात् ईश्वर से वह बिल्कुल प्रेम न करता हो और उसकी कभी पूजा या उपासना न करता हो । ऐसे में यह कहा जा सकता है कि उसका तत्वमीमांसीय दृष्टिकोण ईश्वरवादी है परन्तु धार्मिक दृष्टि से ऐसा व्यक्ति वास्तव में नास्तिक है । इस रूप में अस्तित्ववादी धार्मिक कर्मकाण्डिता का विरोध करते है ।

आस्था की प्रमुख विशेषताएँ दृढ़ता, बौद्धिक प्रमाणों से प्रमाणित न होना, अमिथ्यापनीयता, प्रतिबद्धता, आस्था से स्वीकृत सिद्धान्तों का व्यवहार में कार्यान्वयन है । जो दोनो प्रकार की आस्था में विद्यमान रहती है ।

ईश्वरवादी विचारको के अनुसार हमें अपनी आस्था के आधार पर यह स्वीकार करना चाहिये कि ईश्वर का अस्तित्व है वह इस जगत का रचयिता है वह सर्वज्ञ है / सर्वशक्तिमान, दयालु और सर्वव्यापक है । वह हम सबसे प्रेम करता है । ईश्वर सम्बन्धी इन कथनों में आस्था हमे निराशा और संकट के क्षणों में एकाकीपन और असहायता के अनुभव से मुक्त करती है । इसीलिए ईश्वर को अबोधगम्य और

अनिवर्चनीय मानते हुए भी उसमें अखण्ड आस्था अनिवार्य है क्योंकि यह जीवन में आने वाले असह्य कष्टों को सहन करने में सहायक है । ईश्वर आस्था मानवता के कल्याण में सहायक प्रमाणित हुई है और आस्था की यह उपादेयता ही भौतिकवादी युग में भी उसे सुरक्षित किए हुए है । वैज्ञानिकता से प्रभावित मनुष्य को टूबुल्ड का यह कथन याद रखना चाहिए - यदि हम अप्रमाणित दृढ़ विश्वास के रूप में आस्था की परिभाषा करे तो यह पूर्णतः स्पष्ट है कि वैज्ञानिक प्रयास को भी प्रारम्भ करने से पूर्व प्रचुर मात्रा में आस्था का होना आवश्यक है । पूर्ण रूप से प्रमाणित आस्था में कम के कम तीन महान दृढ़ विश्वास सम्मिलित है - (क) यह विश्वास कि व्यक्ति की चेतना के अतिरिक्त बाह्य जगत का अस्तित्व है (ख) संसार व्यवस्थित और विश्वसनीय नियमों के अनुसार ही संचालित होता है ।(ग) यह विश्वास की भविष्य भी अतीत के समान होगा ।

इस प्रकार आस्था भौतिकता और धार्मिकता दोनों जीवन की अनिवार्य माँग है ।अतः वैज्ञानिकता और भौतिकता के अत्याधिक प्रभाव में इसकी उपेक्षा उचित नहींहै ।

अस्तित्ववाद मूलतः इस उद्देश्य को लेकर प्रकाश में आया कि मानव इस संसार में अपनी वास्तविकता को खोकर वस्तु स्तर पर चला गया है जिसकी भावनाओं और अस्तित्व का कोई महत्व नहीं रह गया है । उसका उपयोग मशीन के समान होने लगा है, जो अस्तित्व को अनुभूति में बाधक है । इसी क्रम में निरपेक्ष अस्तित्ववादी अस्तित्व को दर्शन और चरम ज्ञान का आधार बनाने की भूल करते है । इस रूप में मनुष्य अपने अस्तित्व के सिवा और कुछ नहीं जान सकता । मनुष्य की आत्म चेतना अन्य व्यक्तियों और वस्तुओं की अनुभूति से जागृत होती है । अतः यह सभी उसके लिए यथार्थ है । इनके अभाव में अस्तित्व अज्ञात हो जाएगा । विकसित चेतना की अवस्था में भी हमारा अस्तित्व अन्य कई अनुभूतियों को अपेक्षा अधिक रहस्यात्मक रहता है । इस रूप में नैतिकता को समझना कठिन हो जाता है । इस कठिनता को अतीन्द्रिय सत्ता से आसान बनाया जा सकता है ।

अस्तित्ववादी अनीश्वरवाद के प्रतिपादक नैतिकता के सम्बन्ध में कहते है - व्यक्ति स्वंय अपनी नैतिकता की सृष्टि करता है । नैतिक्ता प्रदत्त नहीं है इसलिए उनमें परिवर्तन की भी सम्भावना है । यह परिवर्तन मनुष्य के उत्तरदायित्व की सार्थकता को कम करता है । उत्तरदायित्व की सार्थकता 'के लिए' उत्तरदायी होने में नहीं है बल्कि मनुष्य को ''के प्रति' उत्तरदायी होना चाहिए । इस प्रकार का उत्तरदायित्व मानव प्रकृति में अनुभवातीत तत्वों की विद्यमानता से सम्भव है । ऐच्छिकता से नैतिकता की सृष्टि नहीं होती है । नैतिकता के लिए आप्तता होनी चाहिए ।

निरपेक्ष नैतिकता के चरम मूल्य सत्यं शिव और सुन्दर है । लेकिन निरपेक्ष मूल्य तक आकर हम रूक नहीं पाते । इसका कारण यह है कि मनुष्य के शुभ सार्थक कार्य कठिन परिस्थितियों में नैतिकता को अपेक्षा उत्साह, पूर्ण आत्म समर्पण, उत्सर्ग की चाह, सम्भवतः अपने जीवन का उत्सर्ग करने की चाह की भी माँग करते है । जिसमें विशेष आनन्द की प्रप्ति होती है । केवल नैतिकता या निरपेक्ष मूल्यों से यह, भावनाएँ नहो उत्पन्न होती है उनकी उत्पत्ति के लिए ऐसे गहन स्त्रोत का आधार होना चाहिये जो स्वंय नैतिकता अनैतिकता से परे हो । नैतिकता नियम पालन से अधिक कुछ है । नियम पालन के रूप में नैतिकता स्वयं खतरे में पड़ जाती है । बर्देव ने उचित हो कहा है - नैतिकता का पालन नियम पालन के रूप में सदगुण की असहनीय मन्दता' की ओर अग्रसर कर सकता है । नैतिक धर्मादेश उत्पन्न करने वाली सत्ता अनादि और निरूपाधिक है । यह समस्त आयोजित और इच्छित साध्यों को अभिभूत कर सकती है ।

नैतिकता की माँग का साक्ष्य वह स्थिति है जो नैतिकतापरक होने पर नया अर्थ प्राप्त कर लेती है जिसमें स्वतन्त्रता की अनुभूति होती है । और यह बोध होता है कि मुझे जो करना चाहिए उसे मैं वास्तविक रूप में करने में समर्थ हूँ । नैतिकता में एक तत्वमीमांसीय दृष्टिकोण की अपेक्षा होती है - मनुष्य को स्वतन्त्र होना चाहिए । स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति नैतिकता से परे संकेत करती है । निरपेक्ष मूल्यों का कोई स्त्रोत और आधार होना चाहिए जो मनुष्य और प्रकृति से अधिक महान है ।

नैतिकता के सन्दर्भ में ही धर्म की वाँछनीयता प्रकट होती है । धर्म नैतिक मूल्यों मे वस्तुनिष्ठता प्रदान करता है । मूल्य को यथार्थ होने के लिए सहभागिता की आवश्यकता होती है । सहभागिता को स्थापित करने में धर्म सहायक है । यदि नैतिकता पालन मात्र नियम के रूप में निषेधों का एक मृत संग्रह हो जाती है और केवल धर्म से तत्वमोमांसीय ध्यान में परिणत हो जाता है जिसमें अमूर्त ईश्वर परक चिन्तन प्रमुख हो जाता है और मनुष्य के जीवन से उसका सम्बन्ध टूट जाता है । अतः नैतिकता और धर्म एक दूसरे पर निर्भर होना चाहिए । जान ओमेन ने उचित ही कहा था - अगर नैतिकता के बिना धर्म में धरातल का अभाव है तो धर्म के बिना नैतिकता में विस्तृत उस स्वर्ग का अभाव है जहाँ वह श्वांस ले सकता है । उस प्रकार की नैतिकता को भौतिक या वैज्ञानिक प्रमाणों के विपरीत धार्मिक अनुभति के स्तर पर प्राप्त किया जा सकता है । यह अनुभूति कल्पना नहीं है । इस अनुभूति के बारे में कार्डिनल न्यूमन ने कहा है कि — इस अनुभव के सच्चे होने के बारे में मैं इससे भी अधिक निश्चित हूँ कि मेरे हाथ पैर है । गाँधो ने कहा - ईश्वर को उपस्थिति का एहसास मुझे इस एहसास से अधिक गहरा होता है कि मेरे सामने कुर्सी मेज है । धार्मिक अनुभुतियाँ साक्षात् बोध है जिसका भौतिक परोक्षण असम्भव है लेकिन धार्मिक अनुभूति प्राप्त करने वाले व्यक्तियों के विवरण और उनके व्यक्तित्व में होने वाले उपयोगी परिवर्तन इनको भ्रमक मानने में सन्देह उत्पन्न करते है । इसके अतिरिक्त इन अनुभुतियों को प्राप्त करने की आवश्यक शर्तों का पालन भी इनकी सम्भावना को सिद्ध करता है। अतृप्त इच्छाएँ, काल्पनिक अनुभव को उत्पन्न करने का आधार है या इस प्रकार का विश्वास दुरास्था है, आत्म पलायन है। यह तर्क देने वाले विचारक धर्म के सच्चे स्वरूप को नहीं जानते । उन्होने धार्मिक सम्प्रदायों की कमियों को ही धर्म के रूप में देखा और सच्चे स्वरूप को जानने के लिए अपनी शक्ति का समग्रता में संचय नहीं किया । धर्म धार्मिक सम्प्रदाय से भिन्न है। सभी धर्मों में जो मूलतः समान है ।

सार्त्र ने स्वतन्त्रता की अवधारणा में ईश्वर की आवश्यक्ता को कोई स्थान नहीं दिया । उसने मनुष्य को स्वतन्त्रता का पयार्य मान लिया । स्वतन्त्रता को सीमा विहीन मानना उसकी भूल है । मनुष्य स्वतन्त्र तभी हो सकता है जब उसके कार्य उसकी स्वतन्त्रता को अर्थ प्रदान करते है । यदि मनुष्य वही करता है जो वह चाहता है तो वह बाह्य और आन्तरिक वाधाओं के कारण स्वतन्त्रता खो बैठता है। स्वतन्त्रता की असीमितता और अपरिभाष्यता स्वतन्त्रता को निरर्थक बनाती है । अतः निरपेक्ष अस्तित्ववादियों को चयन की स्वतन्त्रता के साथ ही स्वतन्त्रता के आधार रूप में उचित चयन का निर्देश करना चाहिए । अन्यथा अवस्तुता के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रह जाता है । यह सत्य है कि मनुष्य वस्तु नहीं है लेकिन वह मानव भी इसी अर्थ में है कि उसमें मानवता है । सार्त्र ने कहा था कि मनुष्य- ईश्वर के द्वारा वस्तुओं का स्थायित्व और असंदिग्धता और मनुष्य की स्वतन्त्रता दोनों प्राप्त करना चाहता है जो असम्भव है । प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि मानव चेतना मूल्यात्मक रूप मे भी कार्य करती है । उसी रूप में वह अपनी उपलब्धियों पर स्वनिर्मित और स्वस्वीकृत मानदण्डों के आधार पर निर्णय देती है । यही मूल्यांकन का क्रम मानव चेतना को निरपेक्ष मूल्यों तक ले जाता है और मूल्यों को अनन्त सत्ता से सम्बद्ध कर नैतिकता का लक्ष्य निर्धारित करता है सापेक्ष और परिवर्तित नैतिक मूल्य अनन्त तक पहुँचने का मार्ग सुलभ नहीं कर सकते । उस अनन्त सत्ता को दार्शनिक आस्था के आधार पर अनुभूत करने का प्रयास करता है । यह आस्था अन्धविश्वास नही बल्कि सान्त से अनन्त की और व्यावहारिकता से पारमार्थिकता की और भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर गमन है ।

इस रूप में अस्तित्ववादी ईश्वरवादी विचारक अधिक सफल है क्योंकि उनकी स्वतन्त्रता विषयक अवधारणाएँ मनुष्य को व्यावहारिकता के स्तर पर अस्तित्व के विश्लेषण से सुदृढ़ कर देती है लेकिन उसका लक्ष्य वहीं समाप्त नही होता बल्कि वे अस्तित्व के विश्लेषण में अस्तित्व की अनुभूति से उस विराट की अनुभूति प्राप्त कर लेते है जहाँ सारे विरोध समाप्त हो जाते है। परिभाषाएं अक्षम हो जाती है और प्राप्त होती है विलक्षण आनन्द की अनुभूति । इसके विपरीत निरीश्वरवादी विचारकों के चिन्तन की समाप्ति नैतिकता की

आध्यात्मिकता के उस प्रकाश को प्राप्त करने में असफल हैं जो भौतिकवादी दोषो से मनुष्य को मुक्ति दिला सके । यास्पर्स और किर्केगार्ड भौतिकता की भग्नाशा में एक ऐसी निरपेक्ष सत्ता का सामना कर लेते है जिसे ब्यूवर प्रेम और शुभता की तीव्र अनुभूतियों में प्राप्त करते है।उनके अभाव में हीं सार्त्र यह कहता है — निरन्तर अपने को चुनने के लिए मै बाध्य कर दिया गया हूँ ..... अर्थात् कोई भी वरण एक क्षण के लिए ही किसी को बाँधता है । उसका कथन ऐसे व्यक्ति की भग्नाशा को व्यक्त करता है जो अनुभवातीत सत्ता नैतिकता के मूल्यो में विश्वास के अभाव का परिणाम है ।

इस प्रकार ईश्वर विशुद्ध आस्था का विषय है जिसे तर्कों के माध्यम से न प्रमाणित किया जा सकता है और न अप्रमाणित । आस्था को स्वीकार करने का कोई सर्वमान्य आधार नहीं है लेकिन इस पर आधारित ईश्वर सत्ता में विश्वास मानवता के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Alkinson Lee. — The Ground work of the Philosophy

2. Allen. E.L. — Existentialism From within [Longman Routedge & Kegan Paul Ltd. 1953]

3. Aquihas. St. — Thomas. Summa Theologica, Part One Qr.II art 3 in Basic writings of Saint Thomas Aquinas ed. Anton.C. Pegis Newyark. Random House 1945) Vol.I

4. Ayer.A.J. — "Language Truth and Logic" Second ed. 1958

5. Ballie. D.M. — "Faith in God and its Christian Consummation" (Edinburgh; T. & T. Clark 1927)

6 Bertocci. P.A. — "Introduction to the Indian Philosophy, of Religion".

7. Blackham.H.J. — "Six Existentialist Thinkers" 6th edition. [Routledge & Kegan Paul Ltd. London 1956]

8 Braithwaite.R.B. — "An Empirisists view of the Nature of Religious Belief in Classical and Contemparory Readings in the Philosophy of Religion. ed. by John.Hick)

9. Collins.J. — The Existentialists; A critical study Chicago; 1952)

10. Crombie.I.M. — The possibility of the theological Statements Faith and Logic ed. Basil Mitchell.George Allen 1957]

11. Crombic.I.M. — Theology and Falsification, New Essays in Philosophical Theology ed. by A Flew and A Maclntyre. S.C.M. Press 1958]

12. Darwin Charles — "The Origin of Species, Sixth edition (Newyork 1923)

13. Ferando Malins — Existentialism as Philosophy Prentia Hall 1962.

14. Ferre Frederick k. — Language and God.

15. Flint — Anti theistic Theories.

16. Hare. R.M. — New Essays in Philosophical Theology

17. Hare R.M. — (article) Religion and Morals edited by B. Mitchell.

18. Hasting Rashdall. — The Theory of Good and Evil (oxford England Clarenton Press 1907.)

19. Hepburn. Ronald W. — Christianity and paradex "Critical studies in twentieth century Theology"(London, C.A. Walts & Company Ltd. 1958)

20. Hick.J. — Theology and Verification.

21. Hick.J. — Philosophy of Religion 1988 (Prentice Hall of India. Private Limited, New Delhi)

22. Hick.J. Faith and Knowledge First edition.

23. Hume.D. The Natural History of Religion (ed. H.E. Root Standard Calif Stanford University Press 1956)

24. Hume.D. Dialogues concerning Natural Religion ed. Henry. D. Alken Newyark 1948

25. Jaspers.Karl. "The subjective and objective espect of faith" in perennial scope of philosophy trans. Ralph.Manheism Routledge and Kegan Paul Ltd. London 1950)

26. Jaspers.Karl. Reason and Existenz Trans. William Earle. Routledge & Kegan Paul Ltd. London 1958.

27. Jaspers.Karl. An Introduction to Philosophy. Ralph Manheim New Haven Yale 1960.

28. Jaspers. Karl. Philosophic Vol.2. Trans E.B. Asthon The University of Chichago Press Vol.2. 1970.

29. Jaspers. Karl. Truth and symbol. Trans J.T. Wilde W.Kulback and W. Kimmel Vision London . 1959.

30. Kant. Immahual Critique of Pure Reason tr. Narmah Kemp Smith London Macmillan 1929.

31. Kant Immahual Critique of Practical Reason.

32. Kierkegaard Soren. Concluding unscientific pastscript(David Swenjon tr. water Lowrie completed oxfard University Press London 1945.

33. Kierkegaard Soren. Either/or : A Fragment of Life (Vol. 1. Tr. by Swensen) Princeton University 1944

34. Kierkegaard Soren stages of lifes ways (Walter Lowrie Tr.) Princeton University Press 1940.

35. Kierkegaard Soren Repetition Princeton University Press.

36. Lazerowitz M. Pasitivist Views of Nonsense. Mind Vol. 55. 1946

37. Macgregar Introductiion to Religious Philosophy.

38. Macquarric John. An Existentialism Theology S.C.M. Press.London 1955

39. Marleau Ponty. Phenomenology of Perception Tr. Calin Smith London. Routledge and kegan Paul 1962.

40. Marleauponty. Sense and non-sense Quoted by Rober C.Soloman in phenomenology and Existentialisum.

41. Marcel Gabriel. The Philosophy of Existentialism Trans Manya Harari 6thed 1966.

42. Marcel Gabriel. — Being and Having Trone A Farror The Beacon Press Boslton 1951.

43. Melcom Norman. — Is It A Religious Belief That God Exists Faith and the philosophers. ed. by John Hick.)

44. Mitchell B. — (edited by) Theology and Veritication The Philosophy of Religion Oxford Readings in Philosohy London 1971.

46. Mitchell. B. — (editer) New Essays in Philosophical Theology.

47. Paley William. — Natural Theology ed. Frederick Ferre. Indianapolis Ind. Library of Liberal art. 1963

48. Paul. Edward — (edited by) why I am not a christian and other essays. (New Yark Simon & Schaster 1957.

49. Popper.K. — The Logic of Scientific Discovery Hutchison 1962.

50. Radhakrishanan S. — Indian Philosophy Vol. 1

51. Ramsey I.T. — The Logical Structure of Religions Language.

52. Robert C.Soloman — Phenomenology and Existentialism Harper and Row Publisher. Inc. New York 1972

53. Robert C. Soloman. — Rationalism to Existentiatism Harper and Row Publisher. Inc. New York 1972.

54. Russell. Bertrand (with Frederick Coploston) The Existence of God. A Debate Reprinted. in-Philosophical and Religions issue edited . A Millor.

55. Sarte J.P. Being and Nothingness. trans. Hazel K. Barnes Methuen & Co.Ltd. London 1966.

56. Sarte. J.P. Existentialism and Humanism trans Philip. Mairet Methuan. London 1965

57. Sarte J.P. Existentialism and Human Emotions. The wisdom Library New York 1957.

58. Sarte J.P. Existentialism, tr. Bernard Frechtman in. Existentialism and Human Emations New Yeark Philosophical Library. 1957.

59. Tennant F.R. Philosophical Theology (cambridge england University Press 1928)

60. Thomson S.M. A. Modern Philosophy of Religion.

61. Tillich Paul. The meaning and Justification of Religions Symbols, In Religious Experience and Truth, Edited by S.Hook.

62. Tillich Paul. Systematic Theology (Welsyh.) Hertfardshire James Nishet & Company Ltd. and Chcago University of Chicago Press 1957.

63. Wisdom J.O. — Metamorphases of the verifiability. Theory of meaning July. 1963. Mind.

64. Wittgenstien L. — Tractatus Logico-Philosophicas Routledge and Kegan Paul Ltd. London.

६५. सिंह शिव प्रसाद. — आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद

६६. डा० मिश्र एवं शुक्ल — अस्तित्ववाद

६७. शान्ति जोशी — अस्तित्वादी दर्शन- किताब महल, इलाहाबाद १९८३

६८. डा० मिश्र सभाजीत — लेख- सार्त्र ज्याँ पाल प्रकाशित समकालीन दर्शन, संपादिका डा० लक्ष्मी सक्सेना, द्वितीय संस्करण, उ०प्र० हिन्दी संस्थान . १९८३

६९. पॉल रूबिचेक, — एक्जिस्टेन्शियलिज्म: फॉर एण्ड अगेन्स्ट, अनुवादक डा० प्रभाकर माचवे ''अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष'' मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल १९७३.

७०. डा० सिंह राम लाल, — लेख कार्ल जास्पर्स, प्रकाशित समकालीन दर्शन, संपादिका डा० लक्ष्मी सक्सेना